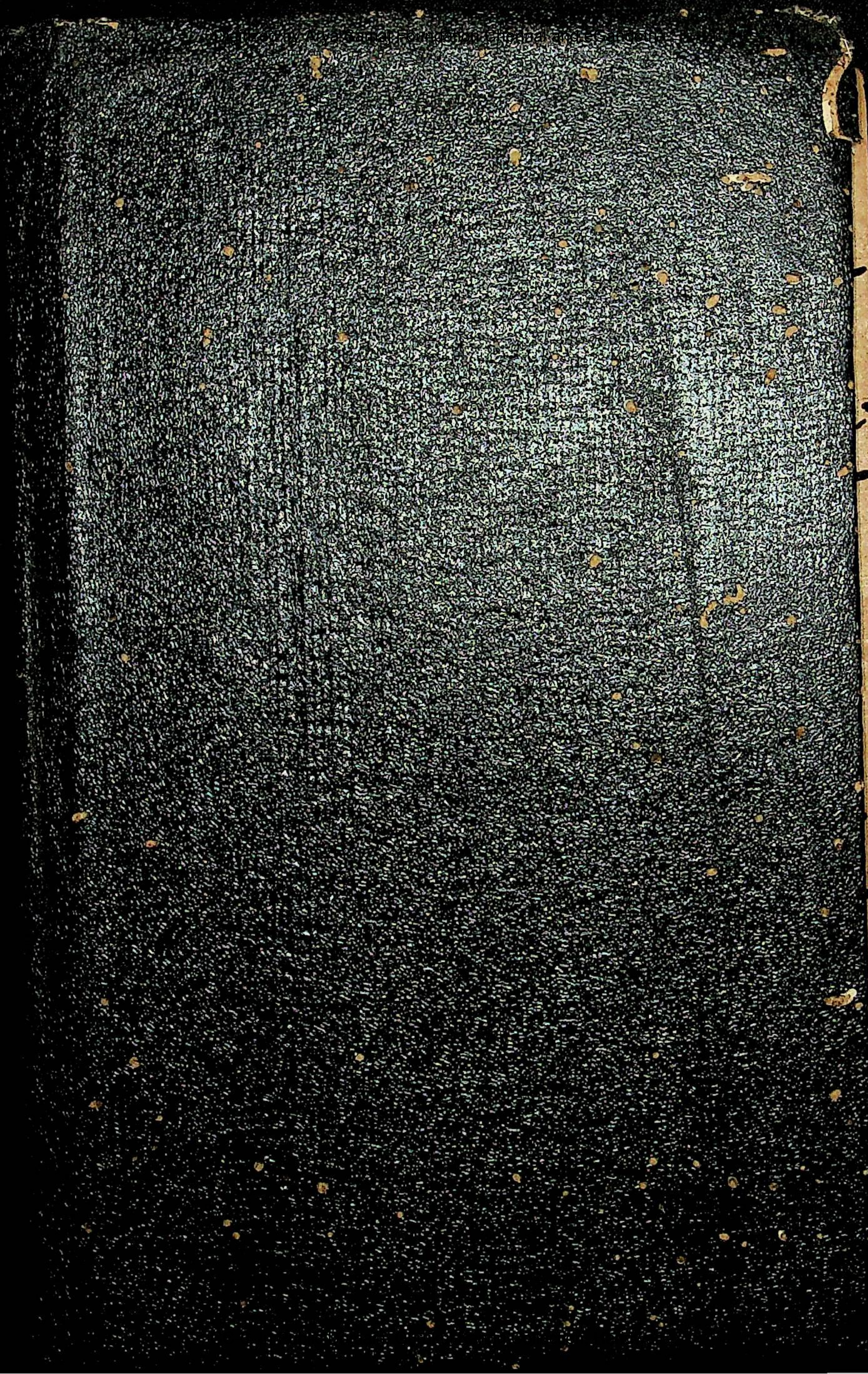


श्रमण



महावीर-जयंती-अंक अप्रैल-मई १९५५

इस अंक में—

वार्षिक मूल्य ४) एक प्रति ।=)

सम्पादक एवं प्रकाशक—पं० कृष्णचन्द्राचार्य

अधिष्ठाता, श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, हिन्दू यूनिवर्सिटी बनारस—५

श्रमण

श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, हिन्दू यूनिवर्सिटी बनारस का मुखपत्र

वर्ष ६ | अप्रैल-मई १९५५ | अंक ६-७

वीर का उदय

दुरन्त के निशान्त में प्रसन्न दिग्दिगन्त है !

खुले गगन, खिले सुमन, हवा चली मगन-मगन ;
उगी उषा, हँसी धरा, मधुर-मधुर नदी-गिरा ;
भरी पराग-राग से कली-कली लगी लगन ;
सघन विपिन लता-परी-दुकूल से हरा-हरा ;
अनन्त में अनन्त-ज्योति की शिखा ज्वलन्त है !

समुद्र की लहर-लहर, अमर-पुकार से मुखर ;
मिले नयन, हिले अधर, हुए सजग सचर-अचर ;
किरण-किरण कि प्यास से चपल चरण पहर-पहर ;
घिरे कि प्राण-प्राण में अमन्द मोद-वारिधर ;
उरोऽन्तरिक्ष में विजय-निनाद प्रस्फुरन्त है !

कि आज 'वीर' का उदय, प्रवीर-धीर का उदय ;
अभेद्य अन्धकार में महान् ज्योति का उदय ;
प्रचंड कालकूट में 'अखंड' का सुधा-उदय ;
सदंड क्रोध-कूट पर 'अदंड' का क्षमा-उदय ;
अशान्त में प्रशान्त की तरंग उच्छ्वसन्त है !

प्रदेश-बंध से कि 'चित्' विमुक्त, मुक्ति से विमल—
समस्त तत्त्व से बड़ा खिला कि ज्ञान का कमल;
कुवासना-उदीरणा विशीर्ण पुण्य केन्द्र से;
अहिंसना-सुचन्द्रिका मुदित कि त्याग-चन्द्र से;
अलंघ्य अन्धभाव पर वितर्क बुद्धिमन्त है!

हुआ मिलन, मिटी जलन, अभिन्न धर्म-प्राण की;
अभेद-भावना जगी विचार-स्वाभिमान की;
जगे हृदय, सभी सदय, प्रवासिनी कठोरता;
मने विमन, रुके अनय, सुहासिनी मनुष्यता;
अशेष लोक-राग पर कि एक 'जिन' जयन्त है!

—श्री श्रीरञ्जन सूरिदेव साहित्याचार्य

विश्व में प्रकाश कब फैलता है ?

जैनागम स्थानांगसूत्र के तीसरे स्थान में कहा है—

इन तीन अवसरों पर समूचे लोक में प्रकाश फैलता है—

१—जब अर्हन्त भगवान का जन्म होता है।

२—जब अर्हन्त भगवान घर छोड़ दीक्षा लेते हैं।

३—जब अर्हन्त भगवान को केवलज्ञान पैदा होता है।

अहिंसा की युगवाणी

—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल

महावीर जयन्ती ऐसा शुभपर्व है, जो हमारी तिथिक्रम में आकर उच्चतर चिन्तन के लिए बलात् हमारा उद्बोधन करता है। इस समय मनुष्य-जाति ऐसी कठिन स्थिति में पड़ गई है कि यदि उससे उसका शीघ्र निस्तार न हुआ, तो भविष्यमें क्या दशा होगी कहना कठिन है। मनुष्यने अपनी मस्तिष्क की शक्ति से सब कुछ प्राप्त किया, शायद उसने इतना अधिक प्राप्त कर लिया है, जितने की उसमें पात्रता नहीं है। उसकी वह उपलब्धि ही उसके लिए भयानक हो गई है। विज्ञान की नई शक्ति मानव को मिली है, किन्तु उस शक्ति का संयम मनुष्य नहीं सीख पाया है। शक्ति आसुरी भी हो सकती है, दैवी भी। यदि वह हमें अभय की ओर ले जाती है, तो वह दैवी है, यदि वह भय का संचार करती है, तो आसुरी है। जहां भय रहता है, वहां उच्च अध्यात्म तत्त्व किसी प्रकार पनप नहीं सकता। भय की सन्निधि में शान्ति का अभाव हो जाता है। भय आत्मविश्वास का विनाश करता है। वह शंका और सन्देह को जन्म देता है। समस्त मानव जाति भय और सन्देह की स्थिति में पड़ जाय तो इससे बढ़कर शोक और क्या हो सकता है। कुछ ऐसी ही अभव्य स्थितिमें आज हम सब अपने को पा रहे हैं। कोई भी राष्ट्र भयमुक्त नहीं है।

विचार कर देखा जाय तो भय का मूल कारण हिंसा है। शक्ति का हिंसात्मक प्रयोग—यही विश्व में भय का हेतु है। इस भय को अभी तक कोई जीत नहीं पा रहा है, और न कोई ऐसी युक्ति ही निकाली जा सकी है, जिससे विश्व के मन पर छाई हुई यह काली घटा दूर हो। यदि हिंसा के इस नग्न ताण्डव से वास्तविक युद्ध न भी हुआ और कुछ वर्षों तक ऐसी ही भयदायी स्थिति में मानव को रहना पड़ा, तो भी मानव के मन का भारी नाश हो जायगा। स्वतन्त्र विचार, आत्मविश्वास, उच्च आनन्द इन सबसे मनुष्य का मन विकास प्राप्त करता है। यही वह अमर ज्योति है, जिससे मानव जाति का ज्ञान अधिक अधिक विकसित होता है।

इस समय की जो स्थिति है, उसके समाधानका यदि कोई उपाय है तो वह एक ही है। हिंसा के स्थानमें अहिंसाको लाना होगा। हिंसा की बात

छोड़कर अहिंसा को जीवनका सिद्धान्त बनाना होगा। शायद नियति ने ही मानवजाति को विकास की उस स्थितिमें लाकर खड़ा कर दिया है, जहां सोच विचार कर आगे का मार्ग चुन लेना होगा। वह ध्रुव मार्ग अहिंसा का ही है। हिंसा की व्यापक ज्वालाओं ने दो बार संसार को दो विश्व-युद्धोंके रूप में इस शती में भस्म किया है। आगे की ज्वाला पहले से कहीं अधिक भयंकर थी। हिंसा की वे विकराल लपटें अब भी मानवको भस्म करने के लिए पास आती दिखाई पड़ती है। वास्तविक युद्ध न होकर भी युद्ध जैसी स्थिति बनी हुई है। यद्यपि शरीरका स्थूल नाश होता नहीं दिखाई देता, पर हिंसा की इन ज्वालाओं में मनका नाश तो हो ही रहा है। इस समय जो व्यक्ति अपना सन्तुलन रखकर सत्य और शान्ति की बात सोचते और कहते हैं, वे मानव जातिके सबसे बड़े सेवक और हितैषी हैं।

इस समय सब राष्ट्रोंके लिए यही एक कल्याण का मार्ग है कि वे सामूहिक रीति से अहिंसा की बात सोचें। अहिंसा और अविरोध के नये मार्ग पर चलने का निश्चय करें। हिंसात्मक विचारों को त्यागकर हिंसा के साधनों का भी परित्याग करें। जो शक्तिशाली राष्ट्र हैं, उनके ऊपर तो इस दायित्व का भार सबसे अधिक है। उन उन राष्ट्रों के कर्णधारों को इस बात का भी सविशेष ज्ञान है कि इस बार के हिंसात्मक युद्ध का परिणाम कितना विनाशकारी होगा। ऐसी स्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को इस प्रकार से मोड़ना होगा कि वह अहिंसा को अपना ध्रुव-बिन्दु बनाए। अहिंसा के द्वारा पारस्परिक प्रीति और न्यायका आश्रय ले।

भगवान् महावीर की जयन्ती प्रतिवर्ष आने वाली एक तिथि है। वह आती है और चली जाती है। किन्तु उसका महत्व मानव जातिके लिए वर्तमान क्षण में असाधारण है। यह तिथि अहिंसा के ध्रुव-बिन्दु की ओर निश्चित संकेत करती है, और यह बताती है कि मानव कल्याण का मार्ग किस ओर है। महावीर आज से लगभग ढाई सहस्र वर्ष पूर्व हुए। अपने समय की समस्याओं पर उन्होंने विचार किया और उसने समकालीन व्यक्तियों के जीवन पर प्रभाव डाला, किन्तु अहिंसा की जिस दृढ़ भूमि पर उन्होंने अपने दर्शन का निर्माण किया, उसका मूल्य देश और काल में अनन्त है। आज भी उसका सन्देश उनके लिए सुलभ है, जो उस वाणी को सुनने का प्रयत्न करेंगे। अहिंसा की वाणी आज की युगवाणी है।

भगवान महावीर और उनका क्रान्ति संदेश

—जैनधर्मदिवाकर आचार्य श्री आत्मारामजी महाराज
के सुशिष्य पण्डितरत्न श्री ज्ञानमुनिजी

आज से २५५४ वर्ष पहले

आज हम जिस महामहिम महापुरुष की जयन्ती—जन्म दिन मनाकर अपनी श्रद्धा तथा कृतज्ञता का प्रदर्शन कर रहे हैं, वे सत्य और अहिंसा के अग्रदूत विश्ववन्द्य भगवान महावीर आज से लगभग २५५४ वर्ष पूर्व इस पवित्र भारत भूमि पर अवतरित हुए थे। आपने अपने अलौकिक व्यक्तित्व और दिव्य ज्योति से भारतीय संस्कृति के इतिहास में एक क्रान्तिकारी युग का निर्माण करके धार्मिक, सामाजिक और राष्ट्रीय क्षेत्र में नव स्फूर्ति, नव उत्साह तथा नव जीवन का संचार किया था, अविवेक और अज्ञानके भीषण गर्त में पड़े मानव को मानवताका आदर्श प्रकाश दिखाकर सत्य अहिंसा के सुखद सिंहासन पर बिठलाया था, तथा दम तोड़ती मानवता को जीवन दान दिया था।

भगवान महावीर जैनधर्मके २४ वें तीर्थंकर माने जाते हैं। तीर्थंकर किसे कहते हैं? यह जैन धर्म का अपना पारिभाषिक शब्द है। तीर्थ धर्म का नाम है। संसार सागर से पार करने वाले धर्मरूप तीर्थ की स्थापना या इसका उद्धार करने वाला महापुरुष तीर्थंकर कहा जाता है। ५४ वर्ष ऊपर २५ सौ साल पहले बिहार प्रान्त के कुण्डलग्राम नगर के राजा सिद्धार्थ की त्रिशला रानी के यहाँ चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को तीर्थंकर महावीर का जन्म हुआ था। भारत के इतिहास में चैत्र शुक्ला १३ वह पवित्र दिन है जो सदा के लिए अमर रहेगा। भगवान महावीर के जन्म दिन बनने का सौभाग्य इसी दिन को उपलब्ध हुआ है।

महावीर के जन्म के अनन्तर महाराज सिद्धार्थ के यहाँ बहुत खुशियाँ मनाई गई। गरीबों और दुखियों को धन बाँटा गया, कैदी छोड़े गए। नगर को नववधु की भाँति सजाया गया। राजकुमार के जन्म महोत्सव में प्रत्येक नरनारी

ने भाग लेकर अपने को धन्य समझा। राजा सिद्धार्थ को अपने नागरिकों के अतिरिक्त पार्श्ववर्ती राजाओं तथा महाराजाओं ने भी बधाइयां अर्पित कीं।

महारानी त्रिशला के यहाँ पुण्यात्मा के अवतरित होते ही राजा सिद्धार्थ का राज्य, मान-प्रतिष्ठा, धन-धान्य तथा आमोद-प्रमोद दिन प्रतिदिन बढ़ने लगा था। इसी कारण राजकुमार का नाम 'वर्धमान' रखा गया। वर्धमान शुक्ल पक्ष के चन्द्र की भाँति वृद्धि पाने लगे। शैशव-अवस्था के व्यतीत होते ही वर्धमान को पाठशाला में भेजा गया। वर्धमान की सहज प्रतिभा को देखकर अध्यापक चकित सा रह गया, राजकुमार के अपूर्व बौद्धिक चमत्कारों के सामने वह अपने में छात्रत्व का अनुभव करने लगा और जब उसकी चिरंतन-शंकाएँ वर्धमान का सांनिध्य पाकर समाहित होने लगीं तब तो वह पुलकित हो उठा और महावीर जैसे छात्र से अपने को धन्य समझने लगा।

वर्धमान से महावीर

वर्धमान बचपन से ही बड़े साहसी और निर्भीक थे। डर तो मानो इनसे डर कर भाग गया था। एक बार वे कुछ बाल साथियोंके साथ किसी झाड़ के पास खेल रहे थे। अकस्मात् उस झाड़ पर एक दीर्घकाय साँप दीख पड़ा। साँप फुंकारें मार रहा था। देखते ही सब बालक भाग गए। किन्तु वर्धमान ने रस्से की भाँति उस साँप को पकड़ कर दूर फेंक दिया। साँप का फणाटोप वर्धमान को भयभीत नहीं कर पाया। बस तभी से वधमान महावीर कहलाने लगे। वर्धमान की वीरता तथा निर्भयता ने ही उसे महावीर जैसे महामहिम पद से विभूषित किया था।

करुणा के अवतार महावीर

महावीर निर्भीकता और वीरता के केन्द्र तो थे ही किन्तु वे करुणा के सागर भी थे। किसी दुःखी व्याकुल प्राणी को देख या सुनकर महावीर का मानस पसीज उठता था। एक बार कुछ लोग पशुओं को बलात् ले जा रहे थे। पशुओं की चीत्कार सुनकर महावीर से रहा नहीं गया। महावीर ने उन लोगों से पूछा—भाई! इन पशुओं को कहाँ ले जा रहे हो? इन्हें इस तरह बाँधकर खींचते और पीटते क्यों हो? तुम्हें इनकी दयनीय दशा पर दया नहीं आती? उत्तर में वे लोग बोले—कुमार! हमारे यहाँ एक यज्ञ हो रहा है, उसमें इनकी बलि दी जाएगी। कुमार ने पूछा—यज्ञ में पशुओं की बलि क्यों दी जाती है? वे बोले—पशु बलि से देवता प्रसन्न होते हैं। यज्ञ करने वाले को

स्वर्ग मिलता है। जिस पशु की बलि दी जाती है उसका उद्धार हो जाता है। आप राजपुत्र होकर भी यज्ञों की महिमा से अपरिचित हैं, बड़ी विचित्र बात है? अश्वमेध और नरमेध यज्ञ तो सर्वोत्तम माने गए हैं, यह यज्ञ तो साधारण है कुमार!

महावीर अभी यज्ञ महिमा सुन ही रहे थे कि आँखों के सामने एक और दृश्य आगया—एक शूद्र को बड़ी निर्दयता के साथ पीटा जा रहा था। वह एक ब्राह्मण की छाया को छू गया था और इसी लिए ब्राह्मण के हाथ उस शूद्र को दण्ड देने में बड़ी तत्परता से काम ले रहे थे। दीन शूद्र की 'त्राहि माम्' (मुझे बचाओ) 'त्राहिमाम्' (मुझे बचाओ) की चीत्कार का उस ब्राह्मण पर कोई प्रभाव नहीं पड़ रहा था। हाथों ने ही जब मारने से इन्कार कर दिया तब कहीं उस बेचारे का पिंड छुटा। इस पर भी ब्राह्मण को खेद था कि मेरे हाथों ने इसे जीवित क्यों छोड़ दिया। महावीर ने देखा कि शूद्रों की भाँति नारी जगत् भी समाज के प्रहारों से आहत है। नारी को अपवित्र समझा जाता है। धर्म शास्त्रों के पठन पाठन के अधिकार उससे छीन लिए गए हैं। उसके लिए मुक्ति के द्वार भी बन्द हैं और उसे चरणों की दासी समझ लिया गया है।

महावीर इन हृदय विदारक दृश्यों से बड़े प्रभावित तथा अत्यधिक व्यथित हुए। दिन प्रतिदिन भारत का धार्मिक तथा सामाजिक पतन महावीर के मानस को व्याकुल बनाने लगा। महावीर विस्मित एवं दुःखित थे। सोचा करते थे—मनुष्य कितना भटक गया है। दुःख के बीज बोकर सुख के फल चाहता है। अपना भविष्य बिगाड़ कर भी तालियाँ पीट रहा है। अधर्म को धर्म का रूप दे रहा है। ऐसी स्थिति देख क्रान्ति की प्रचण्ड ज्वाला महावीर के अन्दर ही अन्दर धधकने लगी।

महावीर गंभीर विचारणा के अनन्तर इस निर्णय पर पहुँचे कि भारत के धार्मिक और सामाजिक पतन का कारण मात्र धर्म के स्वरूप का अबोध है। धर्म के वास्तविक स्वरूप को न समझने के कारण ही ये अनर्थ हो रहे हैं। विष को अमृत समझ लिया गया है। यदि धर्म का यथार्थ स्वरूप समझाया जाएगा तो ही भारत का बिगड़ा हुआ अन्तः स्वास्थ्य सुधर सकेगा। अतः मेरा कर्तव्य है कि मैं इस सत्कार्य में अपना सहयोग दूँ, समाज और राष्ट्र के जीवन निर्माण के लिए अपने जीवन को अर्पित करूँ। महावीर की

अन्तरात्मा बोल उठी—यह काम राज्य के सिंहासन पर बैठ कर नहीं हो सकेगा। इसके लिए त्याग की आवश्यकता है, संयम साधना की जरूरत है। सर्व प्रथम अपनी दुर्बलताओं पर विजय पाकर अपने को कुन्दन बनाना होगा।

महावीर का गृहत्याग और तपस्या

महावीर अपने निश्चय के अनुसार वैराग्य पथ पर अग्रसर होने लगे। परिवार से मोहसूत्र ढीला किया जाने लगा। जीवन विरक्ति की पगडंडियों को पार करने लगा। किन्तु माता-पिता इन सब बातों को पहले ही जान चुके थे। कुमार को हाथों से निकलता देख उन्होंने मोह के जाल फैलाने आरंभ किए। अन्त में जैसे तैसे महावीर का एक सुशीला सुन्दरी से विवाह कर दिया गया। ऐसा कर माता पिता निश्चिन्त हो गए। उन्हें पूर्ण विश्वास हो गया कि महावीर अब इस जाल से मुक्त नहीं हो सकता। पर क्या आन्धियाँ या कृष्ण तम मेघों की घनघोर घटाएँ सूर्य के तेज को समाप्त कर सकती हैं? कभी भी नहीं। ठीक इसी भाँति स्वर्गीय रूप वैभव की स्वामिनी सुन्दरी का मधुर स्नेह तथा सिद्धार्थ का राजसिंहासन महावीर को अपने जाल में फँसाने में असफल रहा। महावीर पहले से भी अधिक अन्तर्लीन रहने लगे। अन्त में तीस वर्ष की भरी जवानी में महावीर राजपाट और सुख सम्पत्ति छोड़ कर घर से निकल पड़े।

महावीर विशाल साम्राज्य लक्ष्मी को ठुकरा कर अकिंचन भिक्षु के रूप में निर्जन वनों की ओर चल पड़े। महावीर 'साधक जब तक अपना जीवन न सुधार ले, अपने जीवन विकारों का नाश न करदे तब तक वह धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्र में सफल नहीं हो सकता' इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए महावीर तप का आराधन करने लगे। अनेक कष्टों और विपत्तियों को सहते-सहते १२ वर्षों के अनन्तर महावीर को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। केवलज्ञान का अर्थ है—पूर्ण ज्ञान। आत्मामें अनन्त ज्ञान भरा है किन्तु रागद्वेष की तहों के नीचे वह ज्ञान दबा पड़ा है। सूर्य जैसे बादलों से निस्तेज हो जाता है वैसे ज्ञानपुञ्ज वाला आत्मा भी रागद्वेष के बादलों से दबा रहता है; तपस्या से जब रागद्वेष का आवरण हट जाता है तब आत्मा ज्ञान के आलोक से जगमगा उठती है। अहिंसा और सत्य की पूर्ण साधना से जब जीवन की समस्त कालिमा धुल जाती है तब पवित्रता स्वच्छता और आनन्द की अनन्तता की अखिल रेखाएँ प्रस्फुटित हो जाती हैं।

महावीर का धर्म प्रचार

केवलज्ञान की ज्योति पाकर महावीर ने भारत के धार्मिक और सामाजिक सुधार का निश्चय किया। बस फिर क्या था, मानव जगत की दलित मानवता को विकसित करने का आन्दोलन चालू कर दिया। धार्मिक और सामाजिक भ्रान्त रूढ़ियों तथा अन्ध-विश्वासों के सुदृढ़ विशाल महल धराशायी होने लगे। भारत के कोने कोने में क्रान्ति के ज्वालामुखी फूट पड़े। महावीर ने सर्व प्रथम यज्ञवाद के किले को तोड़ा। और कहा—

पशुबलि या नरबलि से देवता प्रसन्न होते हैं, यह भ्रान्त धारणा है। किसीके जीवन को लूटने पर प्रसन्न होने वाला देवता तो क्या सच्चा मानव भी नहीं कहला सकता। किसी के जीवन का नाश करना अन्याय है अत्याचार है। हिंसा कभी स्वर्ग नहीं दे सकती। कितनी विचित्र बात है—प्राण पशुओं के जाते हैं और स्वर्ग मारने वाले को मिलता है। यह अन्धेर नहीं तो और क्या है। इसके अतिरिक्त यज्ञमें बलि दिये गए पशुओं का उद्धार होता है यह कहना ही भ्रान्ति पूर्ण है। यदि ऐसे ही जीवन का उद्धार होता हो तो याज्ञिक लोग पहले अपना और अपने परिवार का ही उद्धार क्यों नहीं कर लेते? विश्वास रखो हिंसा आखिर हिंसा है चाहे किसी भी उद्देश्य से की जाए। जैसा जीव याज्ञिकों में है, मुझमें है और देवताओं में है, वैसा ही जीव पशुओं में भी है। जब हम में से किसी को दिया गया दुःख धर्म का रूप नहीं ले पाता तो पशुओं की बलि देने से, उनको मारने से धर्म कैसे हो सकता है? अतः मानना पड़ेगा कि हिंसा अधर्म है पाप है और मानवता पर सबसे बड़ा अभिशाप है।

महावीर ने सिंह गर्जना की—धर्म का नाम लेकर मनुष्य जाति में ऊँच और नीच की भावना पैदा करना सत्य का गला घोंटना है। समस्त मानव जाति एक है। सबका शरीर पृथ्वी जल आदि पाँच भूतों से निर्मित हुआ है। सभी में एक जैसी आत्मा है। प्रकृति के तत्त्वों का सभी समान उपभोग करते हैं। सूर्य वायु आकाश पृथ्वी और पानी सभी के समान जीवनसाथी हैं। अतः मनुष्य जाति अखण्ड है उसमें जातपाँत की दृष्टि से विभाग की कल्पना किसी भी तरह उचित नहीं है। यह छोटा है, यह बड़ा है, यह उच्च है, यह नीच है—इस प्रकार की संकीर्णतापूर्ण भावना नहीं रहनी चाहिए। जन्म से किसी को उच्च मानना अज्ञानता है। उच्चता तो उच्च आहार,

आचार विचार तथा व्यवहार की अपेक्षा रखती है। जाति का अभिमान जीवन का सर्वतोमुखी विनाश करता है।

नारी जाति के संबंध में भी भगवान महावीर ने उद्घोषणा करते हुए कहा—नारी संसार की जननी है, इसको तुच्छ और हलका नहीं समझना चाहिए। नारी को मात्र भोग विलास की पूर्ति का साधन मत बनाओ। पुरुष की भाँति नारी को आध्यात्मिक जगत में प्रगति करने का पूर्ण अधिकार है। नारी भी प्रत्येक धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में बराबर ही साधना कर सकती है; स्त्री जाति को दीन हीन एवं पतित समझना अपने को धोखा देना है। धर्म का संबंध आत्मा से है, शरीर से नहीं।

भगवान महावीर ने नारी को मात्र वाचनिक ही सम्मान नहीं दिया था प्रत्युत इसे व्यवहार का रूप भी दिया गया था। भगवान ने साधु संघ के समान ही एक साध्वी संघ भी बनाया था। साध्वी संघ की मुख्य नेत्री महासती चन्दनबाला थीं। जो स्वतन्त्र रूप से अपने साध्वी संघ का संचालन किया करती थीं। महासती चन्दनबाला के साध्वी संघ में ३६ हजार साध्वियाँ थीं। ये साध्वियाँ विभिन्न समुदायों में यत्र तत्र विहरण करती हुई भगवान महावीर की वाणी का अमृत घर घर बांटती रहती थीं, आप विस्मित होंगे—भगवान महावीर के स्वयं दीक्षित किये साधु तो १४ हजार ही थे किन्तु साध्वियाँ ३६ हजार थीं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि भगवान महावीर का नारी जाति को दिया गया सम्मान सचमुच वास्तविक था।

धर्म की विवेचना करते समय भगवान महावीर ने कहा—धर्म अहिंसा में रहता है। इन्द्रियों का संयम तथा इच्छाओं का निरोध भी धर्म का ही प्रतीक है। धर्म का किसी देश, जाति, वर्ग या वर्ण से कोई संबंध नहीं है। जहाँ कहीं भी भगवती अहिंसा की मनसा, वाचा, कर्मणा विशुद्ध आराधना है, उपासना है अथवा परिपालना है, वहीं धर्म का देवता विराजमान हो जाता है। इसके अतिरिक्त जहाँ कानों से किसी की निन्दा नहीं सुनी जाती, आँखों से किसी को कुत्सित दृष्टि से नहीं देखा जाता, रसना से किसी के हृदय को आहत नहीं किया जाता, हाथों से या पाँवों से किसी को पीड़ित नहीं किया गया, हँसते को रुलाया नहीं जाता, अपितु दीन दुःखी का दुःख दूर किया जाता है, असहायों का सहायक बना जाता है, तथा जहाँ इच्छाओं, कामनाओं एवं वासनाओं को रोका जाता है, जहाँ स्वार्थ का नग्न नृत्य नहीं होता है वहाँ धर्म की प्रतिष्ठा होती है। अहिंसा, संयम और तप ही धर्म के मूल स्रोत हैं।

आज का मानव अहिंसा को कायरता का प्रतीक समझता जा रहा है किन्तु अहिंसा का वास्तविक रूप अवगत कर लेने पर यह सन्देह निर्मूल प्रमाणित हो जाता है। इतिहास बताता है—अहिंसा के वीरों ने हर समय न्याय की रक्षा की है। न्याय को जीवित रखने के लिए दुष्टों का दमन करना उन्होंने अपना कर्तव्य समझा था। शरणागतों की रक्षा में अहिंसकों ने अपना सर्वस्व तक लुटा दिया किन्तु पीठ नहीं दिखाई। जैन नरेशों ने सदा सत्य की रक्षा की है इसके लिए युद्ध लड़े हैं। भाव यह है अहिंसा वीरों का धर्म है, उसमें कायरता और दुर्बलता को कोई स्थान नहीं। एक हिंसक से अहिंसक बनने की आशा तो की जा सकती है किन्तु कायर कभी भी अहिंसक नहीं बन सकता।

धर्म संघर्षों को जन्म नहीं देता। धर्म के आराधन से सर्वत्र शान्ति का साम्राज्य छा जाता है। धर्म की अमोघ शक्ति के आगे संसार की समस्त संहारक शक्तियाँ कुण्ठित और निस्तेज पड़ जाती हैं। संसार में जो चारों ओर दुःख का हाहाकार हो रहा है तथा दुःख के सागर में जो जन-जीवन-नौकाएँ डगमग-डगमग डोल रहीं हैं मनुष्य व्याकुल और अशान्त दिखाई देता है, इन सब विकट और दुःखद स्थितियों पर धर्म के आश्रयण और आचरण से ही काबू पाया जा सकता है। धर्म का आसेवन ही मनुष्य के नारकीय जीवन में स्वर्ग के पुष्पों को खिला सकता है। अतः सुख और शान्ति के अभिलाषी मानवो ! धर्म को जीवन में लाने का प्रयास करो।

भगवान् महावीर ने 'अहिंसा परमो धर्मः' का ध्वज लेकर भारत के कोने कोने में क्रान्तिकारी भ्रमण किया। संसार के निवासियों को अपना सन्देश देते हुए कहा—'प्रत्येक व्यक्ति सत्य अहिंसा के शुद्ध आचरण से अपने जीवन को उन्नति के शिखर पर ले जा सकता है, आध्यात्मिक उन्नति के द्वार सबके लिए खुले हैं। इसका किसी जाति या वर्ण से कोई संबंध नहीं है, न किसी के चोले से है।'

प्रत्येक व्यक्ति अपने भाग्य का स्वयं निर्माता है। स्वर्ग और नरक मनुष्य की अपनी ही प्रवृत्तियों का परिणाम है। सुख दुःख की प्राप्ति में मनुष्य के अपने कर्म ही कारण हैं। रागद्वेष से विमुक्त, निर्विकारी सच्चिदानन्द भगवान का कर्मफल की प्राप्ति या अप्राप्ति में कोई हस्तक्षेप नहीं है। यह मत समझो कि भगवान हमें सुख या दुख देता है। दृढ़ निश्चय रखो कि सुख दुख के कारण हम स्वयं हैं। मानव, तू स्वयं ही अपना मित्र और स्वयं अपना शत्रु है।

संसार के जितने भी प्राणी हैं वे सब जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता अतः किसी को सताने की चेष्टा मत करो। दुःखों की वर्षा से सुख नहीं मिला करता। अनाथों, अशरणों, असहायों की सहायता ही सुख प्राप्ति का मूल मंत्र है।

सन्तोष को जीवन साथी बनाओ। सोने और चांदी के कैलाश जैसे बड़े बड़े पर्वत हों और वे भी अनगिनत, किन्तु लोभी मनुष्य की तृप्ति के लिए फिर भी कुछ नहीं। तृष्णा आकाश की भाँति अनन्त है। जीवन का अन्त तो भले ही हो जाए किन्तु लोभ का अन्त नहीं होता। लोभ ही पाप का जन्म-दाता है। लोभ आत्मा के सभी सद्‌गुणों का विनाश करता है। अतः लोभ के दलदल में मत फँसो।

ऐ मनुष्य! यदि तुझे लड़ने में रस मिलता है, तो मैं कहता हूँ तू भले ही लड़, किन्तु इतना ध्यान रख, अपनी अन्तरात्मा के साथ लड़। काम, क्रोध, मोह, लोभ के आत्म शत्रुओं को पराजित कर। इसी में ही तेरा हित है। बाहर के युद्धों से जीवन कभी सुखी नहीं हो सकता।

सत्कर्म का आचरण ही जीवन का निर्माता है। मानव कर्म से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भी कर्म से ही होता है। वर्ण व्यवस्था का मूल कर्म ही है। जन्म से वर्ण व्यवस्था का कोई संबंध नहीं। दुराचारी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य से सदाचारी शूद्र कहीं अच्छा है।

सिर मुंड़ा लेने से कोई साधू नहीं होता, ओम् का मात्र जाप मनुष्य को ब्राह्मण नहीं बना सकता, निर्जन वन में रहने मात्र से कोई मुनि नहीं होता और न कुशा के वस्त्र पहनने से कोई तपस्वी होता है, किन्तु साधु समभाव से, ब्राह्मण ब्रह्मचर्य से, मुनि ज्ञान से तथा तपस्वी तप के आराधन से होता है। अन्तरंग जीवन की शुद्धि ही वास्तविक शुद्धि है। मात्र बाह्य वेष जीवन को उच्च नहीं बनाता।

विवेक पूर्वक चलने, खड़े होने, बैठने, सोने जागने, भोजन करने, बोलने से तथा विवेक पूर्वक की गई अन्य सभी क्रियाओं से पाप का बन्धन नहीं होता। प्रत्येक प्रवृत्ति को यतना की आँखों से देखते हुए यदि करोगे तो तुम्हें पाप नहीं सताएगा।

किसी भी कार्य को करने से पहले यह विचार करो कि मेरे इस कार्य से किसी को हानि तो नहीं पहुँचती, किसी का जीवन धन तो नहीं लुटता, यदि

ऐसा होता है तो उस कार्य को मत करो ।" तुम यदि किसी के हित की चिन्ता करोगे तो तुम्हारा हित भी दूसरों से सदा सुरक्षित रहेगा। 'सुखी रहें सब जीव जगत के कोई कभी न घबरावें' की मंगल कामना ही मनुष्य को आधि व्याधि और उपाधि के दुःखों से मुक्त कर सकती है यही भावना परिवार, समाज और राष्ट्र के संघर्षों का अन्त कर सकती है।

इस तरह मंगल मूर्ति भगवान महावीर ने भारतका धार्मिक और सामाजिक जीवन स्तर समुन्नत करके भारत की काया पलट दी। सोई मानवता को जगा डाला। फलतः भारत का धार्मिक और सामाजिक संघर्ष समाप्त हुआ और मनुष्य ने मनुष्यता की पावन भूमि पर रहकर—'स्वयं जीवित रहो, दूसरों को जीवित रहने दो' के सिद्धान्त की शीतल छाया तले सानन्द जीवित रहने का ढंग सीखा।

विश्व को अहिंसा और शान्तिका संदेश

ऊपर की पंक्तियोंमें २५ सौ साल पहले की स्थितियों का दिग्दर्शन कराया गया है और साथ में यह बतलाया गया है कि भगवान महावीर ने उन स्थितियों पर काबू पाकर राष्ट्रमें शान्ति की स्थापना की और मानव को मानवता का आदर्श पाठ पढ़ाकर उसे महामानव बनने की पवित्र प्रेरणा दी। अब देखना है, आज के अशान्त युगमें भगवान महावीर की वाणी द्वारा कैसे शान्ति की स्थापना की जा सकती है। और कैसे संसार के महाकाश पर छाए हुए युद्ध के, दरिद्रता के तथा निराशा के कृष्णतम मेघों को हटाया जा सकता है?

वर्तमान युग को हम अशान्ति का युग कह सकते हैं। संसार के सभी देशों तथा प्रदेशों की स्थितियों पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि आज कोई भी ऐसा राष्ट्र नहीं है जिसमें किसी न किसी प्रकार की अशान्ति न हो। सभी देश चिन्ता और भय से ग्रस्त हो रहे हैं। छोटे बड़े सभी लोग दुःखों के प्रहारों से आहत हैं। कहीं अन्न की समस्या है, कहीं वस्त्र की। कहीं राजनैतिक समस्याएँ उलझ रही हैं, तो कहीं सांप्रदायिक समस्याएँ देश की शान्तिको नष्ट कर रही हैं। इस तरह सारा विश्व दुःखों की भट्टी में जल रहा है।

दुःखों की आग को शान्त करने के लिए प्रत्येक राष्ट्र प्रयत्नशील है। बड़ी बड़ी विस्तृत अर्थसाध्य योजनाएँ बनाई जा रही हैं शस्त्र-अस्त्रों के बनाने के लिए फैक्टरियाँ खोली जा रही हैं, परमाणु बम, हाईड्रोजन बम तैयार किये जा चुके हैं, नाइट्रोजन बम का अनुसन्धान चल रहा है। अन्य भीषण नर संहारक

गैसें भी बनाई गई हैं। यह वह युद्ध साधन हैं जो प्रकाश में आ चुके हैं। परोक्ष में न जाने कितने विषाक्त शस्त्र बनाए जा रहे हैं। इन साधनों से आशा की जा रही है कि विश्व में शान्ति स्थापित की जाएगी, मानव का भविष्य सुरक्षित और निरापद रह सकेगा। स्वर्ग को भूतल पर लाकर रख दिया जाएगा। किन्तु भगवान महावीर की आत्मा कहती है—मानव तू भटक रहा है, अपनी नींव में पानी डाल कर उसकी दृढ़ता के स्वप्न देखता है। आग से आग को शान्त करना चाहता है, धधकते हुए अंगारे को चमकता हुआ हीरा समझ बैठा है। आक के बीज बोकर आम्र चाह रहा है। विश्वास रख—खून से सना वस्त्र खून से साफ नहीं किया जा सकेगा। हिंसा की आग से विश्व के उद्यान को हराभरा देखना चाहता है, किन्तु ऐसा नहीं हो सकेगा। विश्व शान्ति शस्त्र-अस्त्रों से स्थापित नहीं होगी। बड़े बड़े बम विश्व में अमन नहीं ला सकेंगे। यदि तू शान्ति चाहता है तो अहिंसा की पालना कर। प्राणिमात्र से प्रेम और सहानुभूति से मिल, परोपकार की भावना से जनहित साधना में अपने जीवन के अनमोल क्षणों को लगा, विश्वबन्धुत्व की झंकार से अपनी हृत्तन्त्री को झंकृत कर। जहाँ भी तेरा पग उठे वहीं से सरलता और मैत्री भाव का स्रोत बह निकले, तेरे रोम रोम से निःस्वार्थ प्रमोद और भ्रातृभाव की धारा बह चले, फिर देख विश्व में कितनी जल्दी शान्ति की स्थापना होती है? मन को शंकित मत कर, विश्वशान्ति तेरे चरण चूमेगी, तेरी दासी बनकर तेरी सेवा करेगी। तू देखेगा—अन्न समस्या, वस्त्र समस्या, अर्थ समस्या तथा अन्य सभी प्रकार की समस्याएँ भी अपने आप ही समाहित हो जाएँगी और तेरा जीवन एक आदर्श और अनुपम जीवन बन जाएगा, सुख देवता हाथ जोड़े तेरी आज्ञा की प्रतीक्षा करेगा।

महावीर का अहिंसा सिद्धान्त ही विश्व शान्ति स्थापित कर सकता है, इस सत्य को प्रमाणित करने के लिए प्राचीन इतिहास को टटोलने की आवश्यकता नहीं, वर्तमान का इतिहास ही अहिंसा सिद्धान्त की महत्ता, अलौकिकता तथा लोक प्रियता प्रकट करने में पर्याप्त है। सदियों से परतंत्रता की बेड़ियों में जकड़े भारत को स्वतंत्र करने का तथा अंग्रेजों के चक्रवर्ती रथ का सामना करने का श्रेय यदि किसी को है तो वह मात्र अहिंसा है। इतिहास के अतीत में आपको कोई भी ऐसा उदाहरण नहीं मिलेगा कि कोई परतन्त्र राष्ट्र रक्त की एक बिन्दु बहाए विना स्वतंत्र हो गया हो। शस्त्रों की लड़ाइयों से तो राष्ट्रों को स्वतंत्र होते सुना गया है किन्तु अहिंसा के युद्ध से प्राप्त स्वतंत्रता का उदाहरण आपको भारत के अतिरिक्त और कहीं नहीं मिलेगा।

दूसरा उदाहरण लीजिए—कोरिया का युद्ध जो विश्वयुद्ध की भूमिका बनता जा रहा था, शान्त किसने किया ? अमेरिका के परमाणु बम और रूस या चीन की प्रचण्ड सैन्य शक्ति जिस युद्ध की आग न बुझा पाई, उस आग पर किसने पानी डाला था ? मानना पड़ेगा, महावीर की अहिंसा से अनुप्राणित वर्तमान युग में राष्ट्रपिता महात्मा गान्धी द्वारा व्यापक रूप से प्रदर्शित एवं प्रयुक्त तथा हमारे प्रधान मंत्री पण्डित जवाहरलाल नेहरू द्वारा आचरित और प्रसारित, भारतीय नीति ही कोरिया के मैदान में शान्ति का, अमन का ध्वज लहरा पाई है। इतिहास बताता है—जब भी कहीं सेना भेजी जाती रही है तो मात्र शत्रुओं के दमन के लिए या अपनी सत्ता का प्रभाव बढ़ाने के लिए किन्तु केवल विश्व बन्धुत्व और शान्ति स्थापित करने के लिए आज तक कोई भी सेना किसी राष्ट्र की ओर से नहीं भेजी गई, भारत ने ऐसा कर अहिंसा में शान्ति स्थापित करने की शक्ति को प्रमाणित करने के साथ साथ भगवान् महावीर के सिद्धान्तों की सार्वभौमिकता को भी सिद्ध कर दिया है।

भगवान् महावीर का अहिंसा सिद्धान्त ही विश्व में शान्ति स्थापित कर सकेगा। इस सत्य को आज स्वीकार किया जाने लगा है। यही कारण है कि आज सारा विश्व भारत की ओर देख रहा है। संसार समझ गया है कि अमेरिका या रूस के परमाणुबमों से शान्ति स्थापित नहीं की जा सकेगी। शान्ति की स्थापना भारतीय सत्य अहिंसा की पावन छाया में बैठ कर ही हो सकेगी। यदि बम ही शान्ति का कारण होते तो जापान के हिरोशिमा नगर में परमाणु बम गिरा कर मानवता की अरथी निकाल कर युद्ध का दानव सदा के लिए सो जाता किन्तु हम देखते हैं कि आज फिर युद्ध के काले काले डरावने बादल संसार के महाकाश पर फैलते जा रहे हैं, एक दूसरे को मिटाने के लिए दण्ड पेल रहे हैं। फलतः आज फारमोसा संसार की राजनीति का केन्द्र बनता जा रहा है। होगा क्या, यह तो भगवान् जाने, किन्तु यह निश्चय है कि विश्व शान्ति शस्त्र-अस्त्रों से होने वाली नहीं है। युद्ध कभी शान्ति नहीं लाया करता। युद्ध तो दूसरे युद्ध को जन्म देने का ही कारण बना करता ह । जर्मनी को दबा कर समझ लिया गया था कि अब युद्ध नहीं होगा। जर्मनी फिर जागा, विश्व में युद्ध की अग्नि सुलग उठी। सब ने मिल कर जर्मनी को दबा लिया, उसके टुकड़े टुकड़े कर दिये गए। पर क्या यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि फिर युद्ध नहीं होगा ? कभी भी नहीं। युद्ध की समाप्ति तो विश्व बन्धुत्व की भावना से ही हो सकेगी और यह भावना आप

को सत्य अहिंसा के देवता भगवान् महावीर के बताए पथ का पथिक बन कर ही मिल सकेगी।

हमारा कर्तव्य

आज का स्वतन्त्र भारत उन्नति की ओर बढ़ रहा है, नए नए कारखाने लगाए जा रहे हैं, दरियाओं पर बन्द बनाए जा रहे हैं। नई नई सड़कें तैयार हो रही हैं। गाँव गाँव में स्कूल कॉलिज और अस्पताल खुल रहे हैं। कितनी सुन्दर पद्धति से नव भारत का निर्माण हो रहा है। किन्तु यह सब कुछ होने पर भी सत्य अहिंसा की भावना दिन प्रतिदिन क्षीण होती जा रही है। यही कारण है भारत जितना उन्नत होना चाहिए था उतना नहीं हो पाया। अहिंसा ने जहाँ जन्म लिया हो, सत्य जहाँ फूला फला हो, मानवता जिस देश के रजकणों में पली हो, सभ्यता जिस देश के अन्न से पोषित तथा संवर्धित हुई हो उसी देश का आहार, विचार, आचार और व्यवहार गिरता जा रहा हो, यह कितने दुःख और शोक की बात है। आज भारत को स्वार्थ की भावना ने बुरी तरह घेर लिया है, हमारा स्वार्थ इतना विराट हो गया है कि आज हम अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए परिवार समाज, यहाँ तक कि राष्ट्र के हित की भी हत्या कर डालते हैं। आज स्वार्थ ही हमारा देवता है, इष्ट है, भगवान है और सब कुछ है।

स्वार्थ साधना जीवन का आज सर्वतोमुखी लक्ष्य हो गया है। धार्मिक सामाजिक तथा राष्ट्रीय सभी क्षेत्रों में हम स्वार्थ पूर्ति का ही स्वप्न देखते हैं। स्थानक, मन्दिर, गुरुद्वारा, मस्जिद, गिरजाघर में भी हमारा यातायात प्रायः स्वार्थ की भावना को लेकर ही होता है। भगवान का नाम लेने से पहले यह देखा या पूछा जाता है कि इससे कुछ प्राप्ति भी होगी? माला का जाप, सन्ध्या का अनुष्ठान तथा तीर्थों की यात्रा से भी हम मान-प्रतिष्ठा, धन-धान्य, पुत्र-कलत्र तथा सुख वैभव की प्राप्ति या वृद्धि चाहते हैं। हमारा स्वार्थ इतना बढ़ गया है कि प्रभुनाम का हीरा भी कौड़ियों के बदले देने को हम तैयार हो जाते हैं। सतसंगी का बाना पहन कर जूतियाँ चुराने का काम भी तो मनुष्य ही करता है। धर्म की सौगंद खाकर क्या झूठ पर पर्दा डालने की कोशिश नहीं की जाती। कोई युग था धर्म से पापों को धोया जाता था किन्तु आज के स्वार्थी युग में धर्म की ओट में पाप पलता है। यही दशा हमारे सामाजिक जीवन की हो गई है। समाज सेवा भी स्वार्थ के आधार पर की

जाती है। प्रायः देखा गया है—समाज सेवा से मनुष्य को यदि वाह-वाह का भोजन मिलता हो, संस्था का प्रधान या मंत्री उसे बना दिया जाता हो, या उसका अन्य कोई व्यक्तिगत स्वार्थ सधता हो तब वह समाज सेवा का सौभाग्य भले ही प्राप्त करले, अन्यथा समाज की सेवा अछूत की भांति दूर से ही छोड़ दी जाती है।

स्वार्थ की छाया तले हम राष्ट्रीय हानि लाभ भी भूल जाते हैं। राष्ट्र के कामों में भी अपना उल्लू सीधा करने से संकोच नहीं करते। भले ही उससे राष्ट्र की क्षति हो जाय। दरियाओं पर जो बाँध बाँधे जा रहे हैं, पुल बनाए जा रहे हैं, सड़कें तैयार हो रही हैं, उनमें लाखों नहीं तो हजारों की हेराफेरी अवश्य कर ली जाती है। सीमेन्ट के स्थान में रेत से अधिक काम लिया जाता है। लोहे का प्रयोग भी कथनी के अनुसार नहीं होता। श्रमजीवियों का श्रम उन्हें पूरा नहीं दिया जाता। बीच में ही हड़प कर लिया जाता है। इन बातों की चर्चा प्रतिदिन हम पढ़ते-सुनते हैं। स्वार्थी मनुष्य इतना भी नहीं सोच पाता कि मेरे इस तुच्छ लोभ से राष्ट्र का महान् ह्रास होता है, उसकी उन्नति एवं प्रगति में बाधा पड़ती है। राष्ट्र की क्षति हम सब की ही क्षति है। राष्ट्र की बढ़ती में हम सब का लाभ है। स्वार्थ मनुष्य के विवेक चक्षु नष्ट कर देता है।

स्वार्थवृत्ति के कुपरिणामों का कहाँ तक वर्णन करें? स्वार्थ के ही कारण भारत का व्यापारी व्यापारगत अपनी प्रामाणिकता भी खो बैठा है। पश्चिम वालों को हम अनार्य या म्लेच्छ कहते हैं, किन्तु हमें लज्जा आती है कि आर्य या श्रेष्ठ होने का ढिंढोरा पीटने वाले हम अपने आचार से कितना गिर गए हैं। पाश्चात्य लोग जो सोचते हैं, वही कहते हैं, जो कहते हैं वही करते हैं। लेबिल के अनुसार ही ग्राहक को माल देते हैं। किन्तु हम भारतीयों की दशा तो निराली ही है। ये सोचेंगे कुछ और, कहेंगे कुछ और तथा करेंगे कुछ और ही। भारत का व्यापार भारतीयों की स्वार्थान्धता के ही कारण अपमानित एवं तिरस्कृत हो रहा है।

भगवान महावीर कहते हैं—मानव! संभल, सामाजिक और राष्ट्रीय उन्नति स्वार्थ-परायणता से नहीं होगी। यह स्वार्थ प्रियता विश्व में शान्ति का प्रसार नहीं कर सकेगी। इसकी छाया में तू सुख की साँस नहीं ले सकेगा। यह आग है, तेरे जीवन धन को भस्म कर देगी। यदि सुख चाहता है, शान्ति

[शेष पृष्ठ १९ पर देखें]

हम वर्धमान के सुत होकर......

[१]

क्या पद्मराग के आकर में भी काँच दृष्टि में आते हैं ?
क्या शेरों की माँदों में भी गीदड़ आनन्द मनाते हैं ?
हम ज्ञानहीन वर्चस्वहीन कैसे प्रभु की सन्तान हुए !
आश्चर्य उपासक सन्मति के, कैसे दुर्मति की खान हुए !
हम "वीर जयन्ति" मनाते हैं, वीरता भूलते जाते हैं।
संगठन शक्ति की, संघ शक्ति की धूल उड़ाते जाते हैं॥
पद-दलित हुए, हठ नहीं तजा, हा ! आज कंठगत प्राण हुए।
हम वर्धमान के सुत हो कर, क्यों हीयमान म्रियमाण हुए ?

[२]

कक्का केवलिया सीख गए, हो धन्य केवली के बेटे !
विज्ञान कह रहा "आगे आ", हम उल्टी करवट से लेटे॥
"है तमस पौद्गलिक" फोटोग्राफी आदिक सत्य प्रमाण हुए।
"है वनस्पति में जीव" हमारे शास्त्रों के व्याख्यान हुए॥
इन खोजों का पर श्रेय हमें संसार कहाँ देने वाला ?
उनकी निधि कौन सँभालेगा जो स्वयं निकालें दीवाला॥
यश के ऊँचे प्रासाद तेरे, हे जैन ! देख श्मशान हुए।
हम वर्धमान के सुत होकर, क्यों हीयमान म्रियमाण हुए ?

[३]

साहित्य, ज्ञान की शिलापीठ पर नींव धर्म की जमती है।
निर्बल, अज्ञानी हाथों में क्या केतु धर्म की थमती है ?
आडम्बर है "ऊँची दुकान, फीके लेकिन पकवान हुए"।
नव जैन न कोई बन जाये, देखो ! ये द्वार पिधान हुए॥
विद्वानों को तुम दास गिनो, तुम लक्ष्मीपति धनवान हुए।
हे माली ! आँखें खोल ज़रा, सूखे तेरे उद्यान हुए॥
मण्डूक ! कूप तजकर देखो, जग में कितने निर्माण हुए।
हम वर्धमान के सुत होकर, क्यों हीयमान, म्रियमाण हुए ?

[४]

ऐटम बम की बलिवेदी पर मानवता थर थर काँप रही।
कब संस्कृति का अवसान हुआ, विस्फोट क्षणों को नाप रही॥
तू सार्वभौमता का हामी! अब गच्छ, पंथ में भूल रहा।
हे अमरा सभ्यता के धारी! तू जग प्रहरी अनुकूल रहा॥
मानव ही नहीं, आज दानव भी खुद अपना संहार बना।
तू चेतन-बल-विक्रम-गुण से, घातक ऐटम को क्षार बना॥
जगती सहर्ष, उसके रक्षक हैं उभय धर्म-विज्ञान हुए।
हम वर्धमान के सुत होकर, क्यों हीयमान, म्रियमाण हुए?

—श्री रामकुमार जैन 'स्नातक'

[पृष्ठ १७ से आगे]

से जीवन बिताना चाहता है, तो स्वार्थ भावना का परित्याग कर और भगवती अहिंसा की परिपालना कर। क्या तू नहीं जानता कि पश्चिम दिशा को जाने वाला पथिक पूर्व दिशा में नहीं जा सकता। फिर पाप कर्म द्वारा तू सुखों के झूले पर कैसे झूल सकता है। चाहता है सुख, चाहता है शान्ति किन्तु बीज बोता है दुःख के, कर्म करता है अशान्ति के। तेरी अदालत में अन्धेर हो सकता है, तू रिश्वतें लेकर सत्य को झुठला सकता है। किन्तु कर्म-राज के शासन में न्याय है, अन्याय नहीं। वहाँ दिन दिन है, रात्रि रात्रि है। पाप और पुण्य के फल में वहाँ हेराफेरी नहीं होती। अतः सावधान होकर आगे बढ़। अपने भविष्य के मंगल प्रभात को पापों की कालिमा से नष्ट न कर, प्रत्युत सत्य अहिंसा के आलोक से उसे आलोकित कर।

भगवान महावीर का यह पावन उपदेश एवं सन्देश आज के भूले-भटके कर्तव्य भ्रष्ट मानव के लिए प्रकाश-स्तंभ है। इससे प्रकाश पाकर लाखों आत्माओं ने अपने अज्ञान-अन्धकार को दूर किया है और शान्ति का लाभ लेकर अपने जीवन का निर्माण, उत्थान एवं कल्याण किया है। अपने अन्धकार पूर्ण भविष्य को उज्ज्वल समुज्ज्वल बनाने का सत् प्रयास किया है। इसी प्रकाश से दानव मानव बना है और मानव ने महामानव के उच्चतम पद को प्राप्त किया है। आइए, आज हम इसी प्रकाश-स्तम्भ से कुछ प्रकाश किरणें लेकर अपने जीवन-अन्धकार को दूर करें। अपने भीतर सोए सुख के देवता को जगाएँ, तथा विश्व में शान्ति स्थापित करने में अपना मधुर सहयोग अर्पित करें।

भगवान महावीर का मार्ग

—श्री दलसुख मालवणिया

संसार के सभी जीव सुख चाहते हैं यह निर्विवाद है। किन्तु सुख किसे कहा जाय इसमें मतभेद है। सुखकी कल्पना के अनुसार प्राप्ति का उपाय होता है। यदि इन्द्रियों के भोगों तक ही सुख की कल्पना ने प्रयाण किया हो तब वैसे सुख की प्राप्ति के उपाय सोचे जाएँगे और यदि हमारी सुख की कल्पना आध्यात्मिक हो तो उसके साधन भी आध्यात्मिक होंगे। जब तक मनुष्य इन्द्रियजन्य सुख को ही सुख समझता रहा तब तक उसे ही प्राप्त करने का प्रयत्न करता था। वेद की ऋचाओं में ऋषिओं ने अपने जो मनोभाव व्यक्त किए हैं, उनका अध्ययन किया जाय तो पता लगेगा कि वेदकालीन ऋषिओं की कल्पना का सुख भौतिक वैभव की प्राप्ति में समाया था। यही कारण है कि ऋषिओंने देवों से वारंवार प्रार्थना की है कि हमारे शत्रुओं का नाश कर दिया जाय और हमें भौतिक वैभव की प्राप्ति हो। उन ऋषिओं को अपने सुख के लिए धन चाहिए, स्त्री चाहिए, जमीन चाहिए, पशु चाहिए और ऐसी ही अनेक भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति वे सुख के लिए आवश्यक समझते रहे। और यह भी समझते रहे कि इन्द्रादि देवों का यह सामर्थ्य है कि वे हमारी प्रार्थना सुन कर उन वस्तुओं को जुटा देंगे और हमारे शत्रुओं का नाश कर देंगे। प्रारंभमें ऋषिओं ने प्रार्थना ही पर्याप्त समझी और विभिन्न देवों के नाम पर अरजी करते रहे। किन्तु क्रमशः यह देखा गया कि कोरी प्रार्थना से काम नहीं चलता अर्थात् ऋषिओं को प्रार्थना की शक्ति निष्फल प्रतीत हुई। तब प्रार्थना के साथ देवों के नाम पर देने का भी प्रचार किया गया। अर्थात् जैसे इह लोकमें किसी से कुछ काम लेना हो तो कुछ देना पड़ता है वैसे ऋषिओं ने देवों को भी देना शुरू कर दिया। देने की भी एक पद्धति होनी चाहिए। उस पद्धति ने यज्ञसंस्था का रूप लिया। पद्धतिसे प्रत्येक व्यक्ति परिचित हो यह आवश्यक नहीं, अतएव तज्ज्ञों का एक वर्ग देवों और यजमान के बीच खड़ा हुआ। और अपने इष्ट को पाने के लिए नाना प्रकार के यज्ञों और कर्मकाण्डों की सृष्टि हुई। मनुष्य दान में अपनी प्रिय वस्तु देकर ही प्रिय वस्तु पा सकता है; इस न्यायसे पशु और अन्नादि

का यज्ञ में दान आवश्यक माना गया। उस समय के साधारण मनुष्य के लिए गौ जैसे पशु अपने आर्थिक और सामाजिक जीवनमें महत्त्व का स्थान रखते थे और क्षत्रियोंके लिए अश्व का महत्त्व था। यही कारण है कि गोमेध और अश्वमेध जैसे भयंकर हिंसक यज्ञों को मनुष्य ने अपने सुख के लिए अपनाया। सैंकड़ों वर्षों तक यह मार्ग चलता रहा किन्तु इसकी भी निष्फलता मनुष्य को समझ में आ गई। और अपने सुख का अन्य रास्ता वह खोजने लगा। ऐसी खोज करने वालों में भगवान् महावीर अन्यतम हैं।

भगवान् की पहली सीख यही है कि मनुष्य को अपने सुख के लिए स्वनिर्भर होना चाहिए। किसी देव की तो क्या ईश्वर की भी दासता वह स्वीकार न करे; स्वयं ईश्वर की भी यह शक्ति नहीं कि वह किसी को सुख दे सके। सुख की खोज अपने आत्मा में ही करनी चाहिए। आत्मा स्वयं स्वभाव से सुखी है। सुख के लिए बाह्य किसी भी साधन की आवश्यकता नहीं, आवश्यकता है आत्मसाधना की। आत्मसाधना में हिंसक यज्ञों को कोई स्थान नहीं। आत्मयज्ञ को स्थान है। उस आत्मयज्ञ का रहस्य बताते हुए उन्होंने कहा है कि किसी भी प्राणी की हिंसा न करना, जो अपनी वस्तु नहीं है अर्थात् दूसरों के परिश्रम से निष्पन्न है उस पर अपना अधिकार नहीं जमाना, झूठ नहीं बोलना, इन्द्रियों का संयम करना, कषायों—क्रोध, मान, माया और लोभ का त्याग करना, किसी चीज पर ममत्व नहीं रखना—ये सब गुण जिसमें हो वही सच्चा याजक बन सकता है। यज्ञ में सभी जीवों का भक्षण करने वाली अग्नि की आवश्यकता नहीं है किन्तु तपस्या की अग्नि जलानी चाहिए। और उसमें अपने दोषों का हवन करना चाहिए। इस हवन के लिए पण्डे-पुरोहितों की कोई आवश्यकता नहीं।

लोगों के सामने सच्चे सुख की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा कि सांसारिक सुख सुख नहीं है, वैभव तो क्षणस्थायी है उससे शाश्वत सुख कैसे मिल सकता है? जिस सुख का पर्यवसान दुःख में हो—उसे सुख कैसे कहा जाय? कामभोगों की विरक्ति में जो सुख है वह कामभोगों को जुटाने में नहीं। कामों को तो उन्होंने विष और शल्य कहा है। उन्होंने सुख की कल्पना को ही जब नया रूप दिया तब सुख के साधनों की भी नई कल्पना करनी ही पड़ेगी। अतएव उन्होंने यज्ञमार्ग को छोड़ कर ध्यानमार्ग को अपनाया। गृहस्थ के वैभव छोड़ कर युवावस्था में ही संन्यास को ग्रहण किया। सब कुछ छोड़ कर आत्मशुद्धि के मार्ग पर प्रस्थित हुए। साढ़े बारह वर्ष के साधना काल में

भगवान महावीर ने सिर्फ ३४९ दिन भोजन लिया। इसीसे पता चलता है कि वे शरीर से कितने विरक्त थे और आत्मध्यान में कितने लीन थे। दुर्बल, काला, नंगा शरीर देखकर अनार्यों ने कई तरह के उपद्रव किये। कथा है कि स्वयं इन्द्र उनके पास आया और कहने लगा कि भगवन्! मैं आप की सहायता में साथ रहूँ और आप के प्रति होने वाले उपद्रवों को दूर करूं। किन्तु महावीर ने उत्तर दिया मुझे किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं। मुझे तो अपने आत्मबल का ही सहारा है। तुम्हारा सहारा नहीं चाहिए। इस प्रकार घोर जंगलों में, अनार्यों की बस्ती में एकाकी ही विचरण करते रहे और जो कुछ कष्ट हुआ उसे समभाव पूर्वक सहन किया और क्षमामूर्ति बने रहे। राजपुत्र थे। बड़े बड़े राजाओं से संबंध था। किन्तु कहीं भी उन्होंने अपना परिचय राजपुत्र के रूप में नहीं दिया और एक साधारण मनुष्य के भाग्य में एकाकी विचरण करने में जो विपत्तियाँ आती हैं उन्हें वीर की तरह सहन किया। इसीसे वे महावीर बने।

बोधिलाभ जब हुआ तब उनके उपदेश को सर्व प्रथम ग्रहण करने का यश यज्ञ में एकत्र हुए ब्राह्मण पंडितों के समूह को मिला था। परंपरा है कि उन पंडितों के मन के जीव, कर्म, निर्वाण, पाप-पुण्य जैसे विषयों में शंकाएँ थीं। उनकी शंकाओं को वेद के ही सहारे से उन्होंने दूर किया और उन पंडितों को अपना प्रधान शिष्य बना लिया।

उन्हीं पंडितों ने—जो पहले यज्ञयाग में हिंसा कर्म करते रहे, आचार में अहिंसा को और विचार में अनेकान्त को जो भगवान महावीर के मार्ग का रहस्य है, उसे फैलाया। अहिंसा मार्ग को सिद्ध करने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य निष्परिग्रही बने। अतएव अपरिग्रह का भी उपदेश भगवान ने लोगों को दिया। संसार में जितनी भी हिंसा होती है उसका मूल कारण परिग्रह ही है। अतएव भगवान् ने उसकी जड़ काटने के लिए निर्मम होने को कहा है। सिर्फ बाह्य वस्तु का ही परिग्रह हिंसा का कारण है यह बात नहीं, विचारभेद भी संघर्ष का कारण बनता है। अतएव भगवान ने विचारों के संघर्ष के स्थान में विचारों के समन्वय की सीख दी। उसी का दूसरा नाम अनेकान्तवाद है। यही भगवान् का मार्ग है। यदि संसार इसे अपना लेता है तो हमारी अनेक विपत्तियों का निराकरण हो सकता है। अन्यथा हमारा विनाश निश्चित है।



वर्धमान और हनुमान

—श्री सूरजचंद 'सत्यप्रेमी'

चैत्र का मंगल मास अनेक उत्कृष्ट महापुरुषों का स्मारक है। आदीश्वर भगवान ऋषभदेव सरीखे आद्य श्रमण भगवंत और मर्यादा-पुरुषोत्तम प्रभु रामचंद्र सरीखे आद्य ब्रह्मण्यदेव का जन्म इसी महीने में हुआ।

ऋषभ देव के शासन को पुष्ट करने वाले वर्धमान और रामचंद्र के शासन को पुष्ट करने वाले हनुमान भी त्रयोदशी तथा पूर्णिमा को प्रकट हुए।

इन दोनों महापुरुषों को महावीर की पदवी मिली। दोनों ही निर्वाण-धाम के अधिकारी और अनेकान्त सिद्धांत को पुष्ट करने वाले अपेक्षावादी व्यक्ति थे। महावीर वर्धमान ने तो अनेकांत सिद्धांत के आधार पर श्रमण संघ की स्थापना या तीर्थ-रचना करके दया-दान एवं अहिंसा व अपरिग्रह का प्रचार किया और महावीर हनुमान ने राम-सेवा के अनंतर अपेक्षावाद की इस प्रकार घोषणा की :—

देहदृष्टया तु दासोऽहं, जीवदृष्टया त्वदंशकः।
आत्मदृष्टया त्वमेवाहं, इति मे निश्चिता मतिः ॥

हे राम प्रभु! मैं देहदृष्टि से तो आपका दास हूँ, जीवदृष्टि से तुम्हारा अंश हूँ और आत्म-दृष्टि से तुम्हारा स्वरूप ही हूँ—यह मेरी निश्चित बुद्धि है। इससे स्पष्ट होता है कि यह दृष्टिवाद निश्चित बुद्धि का सिद्धांत है—शंकराचार्य की भाषामें संशयवाद नहीं। अपरिग्रह और दान-दया के व्रत में भी हनुमान महावीर ने उत्कृष्ट आदर्श उपस्थित किया। सीता माता ने जब मोतियों की माला दी तो आपने उसे फोड़ फोड़ कर फेंक दी और बोले इसमें राम कहाँ है—हराम की वस्तु मैं नहीं ले सकता। मेरे तो रोम रोम में राम है जिसमें राम नहीं वह परिग्रह की वस्तु कौन ले ?

महावीर हनुमान ने मान का हनन किया था। राम लक्ष्मण की बड़ी से बड़ी सेवा करके भी कहा—प्रभु तुम्हारी कृपा है, तुम्हारी शक्ति है, मेरी तो केवल भक्ति है। राक्षस प्रभु की भक्ति करते थे पर अपनी शक्ति का अभिमान रखते थे। महावीर वर्धमान और महावीर हनुमान में अभिमान नहीं रहा और यही वास्तविक स्वतंत्रता या मोक्ष का परम साधन है।

महावीर का संदेश

—श्री रघुवीर शरण दिवाकर

जीवन-चरित्र की ही तरह आज महावीर के सन्देश को भी वास्तविक रूप से खोज निकालने की जरूरत है। इस लम्बी अवधि में उन पर जो विस्मृतियों भ्रमों, कल्पनाओं व असत्यों की तहें जम गई हैं और विकारों व दु:स्वार्थों का जो मैल उसमें लग गया है, उन सबके दूरीकरण के बिना उस संदेश का साक्षात्कार असम्भव है। कितनों ने ही उसे मन चाहा रूप दिया है, उसके नाम पर अपने निजी विचारों व मन्तव्यों का प्रचार किया है, अपनी वाणी को परम्परा से चली आई हुई महावीर-वाणी या जिन-वाणी कहकर एक विडंबना ही कर डाली है। पर, फिर भी ऐसी सामग्री का अभाव नहीं है, ऐसा साहित्य सर्वथा विलुप्त नहीं है, जिसके आधार पर, दृष्टि को पैनी व सूक्ष्म-दर्शी बनाकर तथा तटस्थ व निष्पक्ष भाव के साथ, खोज करने से सत्य अलभ्य रह जाय।

आइए, संक्षेप में यहाँ सन्देश के मुख्य-मुख्य अंगों पर दृष्टि डाल कर उस सत्य की एक झलक देखें—

अहिंसा

अहिंसा-महावीर सन्देश का मूलाधार है, अन्तःप्राण है। महावीर अहिंसा के अवतार थे। सचमुच अहिंसा का सन्देश उनकी अमूल्यतम देन है। यदि यह कहा जाय कि वे अहिंसा के आदि-प्रवर्तक थे तो अत्युक्ति नहीं होगी। पर वे प्रचारक या सन्देशवाहक ही न थे, साधक भी थे। उनका जीवन अहिंसा की महत्तम साधना की ही एक जीती-जागती कहानी है। महावीर की अहिंसा 'महावीर' की—व्यक्ति विशेष की—अहिंसा नहीं थी, वह महा-वीर की—महान् वीर की—अहिंसा थी। उन्होंने जीने और जीने देने का ही नहीं, बल्कि जीने और अपनी ही तरह दूसरों को जीने देने का उपदेश दिया था। उन्होंने कहा था—दूसरों के साथ ऐसा व्यवहार न करो जो तुम स्वयं दूसरों से अपने प्रति नहीं करना चाहते। 'सत्त्वेषु मैत्री' या विश्व-बंधुत्व

की उदात्त भावना एक और अखण्ड मानवता की उज्ज्वल अनुभूति, उनकी अहिंसा में ओतप्रोत थी। उन्होंने प्राणघात-जन्य दारुण उत्पीड़न को ही नहीं, शारीरिक व मानसिक, हर तरह के न्यूनाधिक उत्पीड़न को हिंसा कहा और उससे बचने की आवश्यकता पर आग्रह किया। द्रव्य-हिंसा और भाव-हिंसा का भेदों–प्रभेदों के साथ विशद विवेचन आचार-शास्त्र की एक अमूल्य निधि है। उन्होंने अहिंसा की साधना के लिए सदाशयता को ही नहीं, सतर्कता व विवेकपूर्ण यत्नाचार को भी अनिवार्य ठहराया। उनकी अहिंसा में अहिंसा के बाह्य रूप का एकान्तिक आग्रह नहीं था। विरोधी हिंसा के रूप में अन्याय का प्रतिकार या आततायी का तक्षण करने की, न्याय–नीति, शान्ति व मानव कल्याण की रक्षा के लिए मैदान में जूझने की, हथेली पर सिर रख कर विषम परिस्थितियों का सामना करने और प्राणों की बाजी तक लगाने की, अथवा अनिवार्य बाह्य हिंसा से भी अहिंसा की साधना करने की अनुमति देकर महावीर ने धरती की बात ही कही। उन्होंने कोरे आदर्श की नहीं, आदर्शोन्मुखी व्यवहार की भी प्रेरणा दी। इस व्यवहार का आधार उन्होंने यही रखा कि पापी से नहीं, पाप से घृणा करो। किसान की निंदाई करते समय, डाक्टर की आपरेशन करते समय, न्यायाधीश की अपराधी को दण्ड देते समय जो कर्तव्य-बुद्धि व कर्तव्य-भावना है, रावण को मारते समय राम की, कंस को मारते समय कृष्ण की, सहस्त्रार्जुन को मारते समय परशुराम की जो मनःस्थिति थी, उसमें लोक-कल्याण की उच्चतम साधना के बीज थे, इसलिए वहां जो भी बाह्य हिंसा है, वह अहिंसा-मूलक ही है, यह रहस्य उन्होंने स्पष्ट किया। साथ ही कष्ट-सहिष्णुता व परीषह-सहन का तथा मुख पर खेलती हुई मुस्कान के साथ हर तरह के विरोध व संकट का सामना करने तथा शत्रुओं व आतताइयों के अत्याचारों को शान्ति व धैर्य के साथ, साथ ही क्षमा-भाव पूर्वक सहन कर उनका हृदय-परिवर्तन करने व उन पर सम्पूर्ण विजय पाने का उदाहरण रख, स्वयं अहिंसा की सजीव मूर्ति बन, अहिंसा के सर्वोच्च आदर्श व स्वरूप का साक्षात्कार भी उन्होंने जगत को कराया। इस तरह महावीर ने अहिंसा के दोनों पहलू सामने रखे, नियम के साथ-साथ अपवाद–विषम परिस्थितियों में नियम का ही संरक्षण करने वाले अपवाद का भी प्रतिपादन किया। उन्होंने कहा कि अहिंसा शाब्दिक रूप से नकारात्मक होते हुए भी तात्विक दृष्टि से व व्यवहार की भी दृष्टि से कोई निषेधात्मक सिद्धान्त ही नहीं है, बल्कि रचनात्मक व विधेयात्मक भी है, निर्माणकारी भी है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो आज की परिस्थिति में भी बहुत कुछ देय उनकी अहिंसा दृष्टि में है। राष्ट्रों की आन्तरिक शासन-प्रणाली व समाज-व्यवस्था

में आमूल परिवर्तन की ओर तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिद्वन्द्विता या संकुचित राष्ट्रीयता को दूर करने की ओर वह ध्यान आकर्षित करती है। उनकी अहिंसा में पशु-बलि के लिए तो रंचमात्र भी स्थान नहीं था। महावीर ने उन यज्ञों का ही विरोध नहीं किया जिनमें हिंसा होती थी, बल्कि उन शास्त्रों को ही अमान्य ठहराया जो ऐसी 'धार्मिक' हिंसा का प्रतिपादन करते थे। महावीर के मतानुसार हिंसा पाप है पर धर्म के नाम पर की गई हिंसा महापाप है। उन्होंने कहा—"जीवहिंसा का त्याग, चोरी, झूठ, और असंयम का त्याग, क्रोध मान और माया का त्याग, इस जीवन की आकांक्षा का त्याग, शरीर के ममत्व का भी त्याग, इस तरह जो सभी बुराइयों को त्याग देता है, वह महायाजी है। यज्ञ में जीवों का भक्षण करने वाली अग्नि का कोई प्रयोजन नहीं, किन्तु तप-रूपी अग्नि को जलाओ। पृथ्वी को खोद कर कुण्ड बनाने की कोई आवश्यकता नहीं, जीवात्मा ही अग्नि कुण्ड है। लकड़ी की बनी कुड़सी की कोई जरूरत नहीं, मन, वचन, काय की प्रवृत्ति ही उसका काम देगी। इंधन जला कर क्या होगा ? अपने कर्मों को, अपने पाप-कर्मों को ही जला दो। यही यज्ञ है, जो संयमरूप है, शान्ति-दाता है, सुखदायी है।" महावीर ने कहा—उस पशु का वध न करो जो तुम से बाहर है, बल्कि उस पशु का वध करो जो तुम्हारे ही भीतर है, और वह है तुम्हारी आत्म-तन्द्रा, आत्म-निद्रा, रूहानी ग़फ़लत, आत्म-स्थित विवेक पर छाया हुआ अन्धकार। उन्होंने जोर दिया कि पशुत्व-भाव का अन्त ही सच्ची धार्मिक पशु-बलि है, न कि बेचारे निरीह मूक प्राणियों का वध। इस तरह महावीर ने अहिंसा की व्यापक व्याख्या की और इस विराट् सत्य की झाँकी दुनिया को दिखलाई कि अहिंसा परमधर्म है, एक महत्तम आदर्श है, जीवन की एक बड़ी से बड़ी साधना है, एक ऐसा मांगलिक आशीर्वाद है जो सत्य-दर्शन के मार्ग को प्रशस्त करता है और प्रेम की—मोह की नहीं, सद्-असद्-विवेकमय बन्धुत्व-भाव की प्रेरणा देता है, एक ऐसा जीवन-तत्त्व है जो दया, सहानुभूति, न्याय, नीति, सदाचार, संयम, तप, त्याग और आचार-विचार के सभी ग्राह्य गुणों की ओर प्रवृत्त करता है, एक ऐसी विमल अनुभूति है जो विश्व-कौटुम्बिकता का, तथा मानव-जगत की ही नहीं, सम्पूर्ण प्राणी-जगत की एकता का साक्षात्कार कराता है।

यह है संक्षेप में महावीर की अहिंसा और उसकी साधना। इसमें कहीं भी किसी बाह्य रूप पर आग्रह नहीं है। महावीर के अनुयायी कहलाने वालों के आजके आचरण से इसका परिचय लेना चाहें, तो शायद शतांश भी न मिलेगा। इसीलिए इस तक पहुँच सहज व साधारणतः नहीं हो पाती है और आलोचक

कह दिया करते हैं कि महावीर की अहिंसा कायर की अहिंसा है, वह तो पानी छान कर पीने व रात्रि-भोजन न करने में ही सीमित है। कुछ शाक हरी कन्दमूल आदि छोड़ने तक ही उसकी पहुँच है, उसमें अस्वच्छता व गंदगी के लिए भी स्थान है। जरा भी गौर से देखें तो हम जान सकेंगे कि महावीर का नाम लेने वालों ने 'अ' 'ब' कक्षा के कोर्स को बी०ए०, एम०ए० का कोर्स समझ कर, प्राथमिक अभ्यास को उच्च साधना मान कर, अहिंसा की विडम्बना ही की है। यह भी निर्विवाद है कि स्वच्छता के नियमों का पालन करने में जो थोड़ी हिंसा अनिवार्य है, उससे बचने के लिए गन्दगी से होने वाली अपेक्षाकृत अधिक—अत्यधिक—हिंसा को प्रश्रय देकर, बल्कि उसे ऊँचे आसन पर बिठा कर, इन्होंने अहिंसा के नाम पर हिंसा को अव्यक्त रूप से प्रोत्साहन दिया है। अहिंसा को कायरता का परिधान पहनाने, अहिंसा के नाम पर अनेक मूढ़ताभरी क्रियाएँ करने, तथा बाह्य क्रियाकाण्ड में ही उसे उलझा रखने की बात में भी झूठ नहीं है। यह भी सच है कि पानी छान कर पीते हुए भी ग़रीबों का खून बिना छाने ही पी जाते हैं कितने ही ये अहिंसा के पुजारी। ब्लैक-मार्केटिंग व बेईमानी से, पूँजीवादी शोषण के सारे हथकण्डों से, घोर हिंसा करने के अभ्यस्त भी ये हैं ही। अहिंसा का नाम वे जरूर लेते हैं, जोरों से लेते हैं; पर यह सच है कि उनकी 'अहिंसा' में अहिंसा—महावीर की अहिंसा—नहीं, उसकी विकृति या उन्माद ही है। महावीर की अहिंसा बाह्य क्रियाकाण्डों, मूढ़ताओं, एकान्तों, संकीर्णताओं व विडम्बनाओं से ऊपर है, बहुत ऊपर है।

अनेकान्तवाद

महावीर की एक अमूल्य देन उनका अनेकान्तवाद है। अनेकान्त पंडिताई का अखाड़ा नहीं है और न वह कोरी चर्चा या वाद-विवाद का ही विषय है। कल्पना नहीं, वह तत्त्वज्ञान है और आचरण का विषय होने से वह धर्म भी है। वह यथार्थवाद है। वास्तव में अनेकान्त सत्य का नहीं, सत्य-दृष्टि का विवेचन है। वह एक विचार-सरणि है, विभिन्न दिशाओं व दृष्टिकोणों से, अलग-अलग बाजुओं या पहलुओंसे अथवा अनेकानेक—अधिक से अधिक—अपेक्षाओं से अध्ययन करने की प्रक्रिया है। सांगोपांग विश्लेषण द्वारा सर्वाङ्गीण चित्रण तो इसके अन्तर्गत है ही, साथ ही ऐतिहासिक व तुलनात्मक अध्ययन भी, क्षैत्रिक व कालिक पृष्ठभूमि के निरीक्षण व पारिस्थितिक विवेचन की सूक्ष्मताओं के साथ, यहाँ एक विशेष स्थान रखता है। यह सत्यान्वेषण का एक मार्ग है, सत्य-निरूपण की एक शैली व पद्धति है। यहाँ संशयवाद के लिए, द्विविधा के लिए अथवा ढिलमिलपन या अस्थिरता के लिए स्थान नहीं है। वाक्चातुर्य

या रबड़-भाषा की खींचातानी का थोथा खेल भी यहाँ नहीं है। झूठी मध्यस्थता, छलभरी चाटुकारिता या मनौती, अथवा सभी को प्रसन्न व संतुष्ट करने का दम भरने की दम्भपूर्ण नीति यहाँ सर्वथा गर्हित है। यहाँ मिथ्यात्वों का समन्वय नहीं है और न पाखण्डों का समूह ही है। यहाँ है सत्यांशों का क्रम-बद्ध व व्यवस्थित योग-संयोग व उनका युगपत् ग्रहण, सत्य के विविध रूपों के पारस्परिक सामंजस्य व सामूहिक एकत्व का दर्शन अथवा यथासम्भव-यथासाध्य पूर्ण-यथार्थ सत्य का दर्शन।

पर अनेकान्तवाद एक बुद्धिवाद ही नहीं है। वह हृदय का मन्थन भी है। मन की तटस्थता यहाँ एक मूल-भूत आवश्यकता है। अपने को दूसरे के स्थान में रखना और पूरी ईमानदारी के साथ रखना अथवा अन्य व्यक्ति या व्यक्तियों की भावनाओं व अनुभूतियों को अपने में जगाना—लाना, निरन्तर अपने मन को टटोलना, वहाँ किसी भी कोने में या किसी भी छद्मवेष में मोह, स्वार्थ, ईर्ष्या, द्वेष या पक्षपात तो नहीं हैं, अहंकार तो नहीं है, यह देखते रहना, 'स्व' को 'पर' समझ कर उसे भी अन्य 'परों' के साथ उसी कोटि में रखकर न्यायाधीश के नाते उस पर भी कड़ी दृष्टि रखना, यहाँ बहुत जरूरी है। जहाँ पक्षपात है, विषम-भाव है, स्वत्व या स्वकीय का मोह है; अहंकार है निश्चय ही वहाँ अनेकान्तवादी दृष्टि या विचारधारा नहीं है।

अनेकान्तवाद कहता है कि सत्य चिरशोध्य है, तथा हम जो कुछ सत्य देखते हैं, वह पूर्ण सत्य नहीं, सत्यांश है। विभिन्न परिस्थितियाँ व आवश्यकताएँ विभिन्न विचार-धाराओं को जन्म देती हैं और एक-एक विचार-धारा अपने-अपने दृष्टि-कोण से सत्य का एक-एक पहलू ही देखती है। अनेकान्तवाद सत्य के उन विभिन्न पहलुओं में ही सामंजस्य लाने वाला समन्वयवाद है। पर यहाँ वैनयिक मिथ्यात्व नहीं है। यहाँ वह समन्वय मान्य नहीं है जो पालिसी (Policy) या सामयिक नीति का ही परिणाम है, बल्कि यहाँ वही समन्वय मान्य है जो सत्य के अनुकूल है, जो स्वयं सत्य है। इस तरह अनेकान्तवाद समभाव और समन्वय की सच्ची प्रेरणा देता है, लड़ने की नहीं; मिलने की तथा एक दूसरे का पूरक बनकर पारस्परिक सहयोग के सुदृढ़ आधार पर आपसी संबन्धों को टिकाने की दिशा में आगे बढ़ाता है। यही मर्यादा-पालन का आदर्श है। यही मध्यम-मार्ग का, उस मध्यम-मार्ग का नहीं जहाँ आदर्श गिरे, बल्कि उस मध्यम-मार्ग का जहाँ आदर्श अपने उच्चतम स्थान पर रहे और मनुष्य सदैव उससे सत्-प्रेरणाएँ ग्रहण करता रहे, प्रतिपादन है।

पर इस मध्यम-मार्ग में आदर्शों को इतना ऊपर उठाने का निषेध अवश्य है कि वे आँखों से ही ओझल हो जाएँ और इस अपेक्षा से अनेकान्तवाद में उच्च विकासोन्मुख सजीव प्रेरणादायक कल्पना को ही प्रश्रय है, बेढंगी, अव्यवहार्य या असंभाव्य, अथवा कोरी हवाई कल्पना को नहीं। किसी भी विषय या प्रश्न को संकीर्ण दृष्टि से देखना यहाँ निषिद्ध है। यहाँ तो यही भाव है कि जो सत्य है, वह मेरा है, फिर भले ही वह सत्य कहीं हो, किसी के भी पास हो, किसी भी रूप में हो, किसी भी अंश या मात्रा में हो। मिथ्याज्ञान या कोरी कल्पना से अज्ञान की विनम्र अनुभूति यहाँ श्रेष्ठ है। अपेक्षावाद इसी का दूसरा नाम है। सच तो यह है कि अनेकान्तवाद सब दिशाओं से खुला हुआ एक मानस-चक्षु है, जो संस्कारों व परम्परागत विचारों या धारणाओं के परे भी देखता है, दूर-दूर तक देखता है। वर्तमान ही नहीं, भूत भी उसके दृष्टि-क्षेत्र के अंतर्गत है और भविष्य को—दूर या दीर्घकालीन भविष्य को—अधिक से अधिक स्पष्ट रूप से देखने की क्षमता व शक्ति भी उसमें है। उसके आगे पीछे, बाहर-भीतर, सभी ओर विवेक-मय प्रकाश में सत्य दिगम्बर है, सुस्पष्ट है। विश्लेषण व विवेचन, निरीक्षण व परीक्षण, अनुसन्धान व आविष्कार, विचारणा व गवेषणा, चिन्तन व अनुशीलन—ये सभी मानसिक व बौद्धिक प्रयास अनेकान्तवाद के वृत्त से बाहर नहीं हैं। वस्तुतः अनेकान्त कोई वाद नहीं है, वह मानव मस्तिष्क का संतुलन है, मानव-बुद्धि का सद्-विवेक है। यह वह राह है जहाँ हर क़दम मंज़िल है, और कहीं भी पहुँच जाइए, कितना ही आगे बढ़ जाइए, फिर भी मंज़िल दूर है।

आज अनेकान्तवाद की दुहाई देने वालों के आचरण पर से अनेकान्तवाद के विषय में भ्रम हो सकता है और वह हो भी रहा है। सच यह है कि अनेकान्तवाद का राग भर वे अलापते हैं, पर इनके जीवन में घोर व कट्टर एकान्तवाद ने जड़ें जमा रखी हैं। ऐसा न होता तो क्या यह संभव था कि आज ये मुट्ठीभर लोग भी इतने टुकड़ों में बिखरे होते और छोटी-छोटी बातों को लेकर, मंदिरों और तीर्थों को लेकर, बाह्य क्रियाकाण्ड के प्रश्नों को लेकर, कुछ ऐसे मन्तव्यों को लेकर जिन का आज कोई भी व्यावहारिक व वास्तविक मूल्य नहीं है, लड़ते-झगड़ते? किसी एक प्रश्न को लेकर एक व्यापक या संयुक्त संगठन बनाना तो दूर, मिलकर विचार भी न करते? क्या धार्मिक जीवन, क्या सामाजिक जीवन, क्या राष्ट्रीय जीवन, सभी में ये परस्पर छिन्न-भिन्न व पृथक हैं, यही नहीं, प्रायः वे एक दूसरे के प्रतिद्वन्दी हैं, विरोधी हैं, शत्रु हैं। आज तो इनका अनेकान्तवाद कोरा किताबी या शास्त्रीय रह गया है। सामान्यतः पण्डितों व विद्वानों तक की यह हालत है

कि अनेकान्तवाद के नाम पर कुछ रटी-रटाई परिभाषाएँ अथवा पारिभाषिक या 'कथंचित एकानेक', 'कथंचित भेदाभेद', 'कथंचित नित्यानित्य,' आदि पेटेण्ट शब्द तथा आठ अन्धों द्वारा हाथी देखने की अथवा ऐसी ही कुछ कहानियाँ या उदाहरण सुना देंगे, लेकिन बिरले ही समझते हैं कि वास्तव में अनेकान्तवाद है क्या, उसका यथार्थ तात्विक स्वरूप क्या है, उसका जीवित या व्यावहारिक रूप क्या है, या क्या होना चाहिए ? उन लोगों के लिए अनेकान्तवाद मस्तिष्क का विलास मात्र है। बैठे-बैठे वे जमीन-आसमान के क़ुलाबे मिला देंगे। पर, दौड़-धूप करके थोड़ा-भी ठीक दिशा में प्रयास करके बिछड़े हुए भाइयों को नहीं मिला सकते। आकाश-कुसुम की सिद्धि करना, गधे के सिर पर सींग उगा देना, उनके लिए खेल है। पर यह समझना उन के बूते से बाहर है कि एक ही पिता की सन्तान भाई-भाई हैं। ये लोग अनेकान्तवाद की बाल की खाल निकालते हैं, पर सच यह है कि उसकी खाल भी खींचते हैं और फिर उस खाल में भरते हैं भुस अहंकार, विद्वेष, घृणा, कालमोह, परम्परा-मोह आदि का। सचमुच यहाँ महावीर के अनेकान्तवाद को ढूँढना निरर्थक है। सजीव अनेकान्तवाद यहाँ नहीं है। पर इससे ही क्या अनेकान्तवाद की महत्ता को, उसके यथार्थ तेजोमय स्वरूप को, अमान्य किया जा सकता है ?

समतावाद

समता या समानता का पाठ भी महावीर की एक असाधारण देन है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता इसका प्राण है। यहाँ प्राणी-जगत में, प्राणी-प्राणी में, बराबरी का नाता मान्य है और जहाँ तक मानव-जगत का सम्बन्ध है समतावाद की दृष्टि में वह एक और अखण्ड है। महावीर ने मानव-जाति की एकता व अखण्डता पर जोर देकर जाति-पांति-भेद व छुआछूत आदि की अमानवीय विषमताओं के खिलाफ़ आवाज बुलन्द की थी। उस समय जो मानवता के टुकड़े-टुकड़े हो रहे थे और भारतीय मानव-समाज छिन्न-भिन्न होकर सुख शान्ति व प्रेम का, धर्म व कर्तव्य का, मानवता व मानवीयता का गला घोंट रहा था, उसका उल्लेख हम पहले कर ही आए हैं। महावीर ने उस अन्याय-मूलक विषम समाज-व्यवस्था का जोरदार विरोध किया। उन्होंने जाति पांति के भेद-भावों को अमान्य किया और वर्ण-व्यवस्था को कर्म और प्रवृत्ति-परक बताया। उन्होंने कहा कि व्यक्ति विशेष का वर्ण उसके जन्म पर नहीं, उसके गुण-कर्म पर निर्भर है। महावीर ने व्यक्ति स्वातन्त्र्य को बहुत मान दिया, यहाँ तक कि ईश्वर की गुलामी तक का उन्होंने विरोध किया।

उन्होंने कहा कि आत्मा ही परमात्मा है, कोई अलग ईश्वर नहीं है। इस तरह महावीर ने अध्यात्मवाद और अनीश्वरवाद का अद्भुत व अभूतपूर्व सामंजस्य किया और उससे ईश्वरवाद-जन्य अनेकानेक मूढ़ताओं को दूर कर मानव-मात्र की ही नहीं, प्राणी-मात्र की समानता व पूर्ण स्वतन्त्रता की भावना को प्रोत्साहन व बल दिया। महावीर की व्याख्यान-सभा को समवशरण की संज्ञा दी गई है क्योंकि वहाँ सब को समान रूप से शरण मिलती थी। वहाँ वर्णभेद या किसी भी भेद के आधार पर अलग-अलग श्रेणियाँ या क्लास नहीं थे। वहाँ तो मानव मात्र के बैठने के लिए एक ही जगह थी और एक सी ही व्यवस्था थी, और इस तरह यह सत्य वहाँ प्रतिभासित होता था कि मानव-जाति एक है और उसमें ऊँच-नीच या छोटे-बड़े का, जाति-पांति का, कोई भेद-भाव नहीं है। क्या वाणी से, क्या व्यवहार से, हर तरह महावीर ने मानवीय समानता को ही मान दिया और निश्चय ही तत्कालीन वैषम्य-पूर्ण परिस्थितियों में यह क्रान्ति का आह्वान था। यद्यपि देश व समाज के दुर्भाग्य से यह क्रान्ति महावीर के जीवन-काल के उपरान्त आगे न बढ़ सकी और ब्राह्मणवाद के निर्मम व संगठित प्रहारों ने तथा अनेक विषम परिस्थितियों ने इसे असमय में ही विफल बना दिया, पर इसमें संदेह नहीं है कि महावीर ने (और बुद्ध ने भी) एक महान क्रान्ति का सूत्रपात किया था और यदि उसमें सफलता मिली होती तो भारत की यह अधोगति न होती। ये जाति-पांति व वर्णव्यवस्था के, ऊँच-नीच के, छोटे-बड़े के व अस्पृश्यता के घिनौने दृश्य यहाँ दिखाई न देते, मानवता भारत के कोने-कोने में यूँ ठोकरें न खाती फिरती, कम से कम 'महावीर के अनुयाइयों' में तो ये बुराइयाँ व बीमारियाँ हरगिज़ प्रवेश न कर पातीं। आज तो इनकी भी वही दुर्गति है जो दूसरों की है। जाति-पाँति की संकड़ों संकीर्ण सीमाएँ, वर्णभेद की विषमताएँ, ऊँच-नीच की भावनाएँ, छुआछूत की कल्पनाएँ, ये सभी परकीय विकार आज इनके खून में, नस-नस में समा गए हैं। अनर्थ तो यहाँ तक हुआ है कि इनके साहित्य में भी यह घुन लग ही गया है। जिस महावीर के समवशरण में मानव-मानव के बीच कोई भेदभाव नहीं था, उसी के मूर्त-स्वरूप मंदिरों में आज छुआछूत घुस आई है और इसीलिए यह दुश्चिन्ता इन्हें खाए जा रही है कि कहीं इन मंदिरों में 'अछूत' न घुस आएँ, कहीं ये पतितपावन भगवान को ही अपावन न कर दें? सच-मुच विधि की यह विडम्बना ही है कि महावीर के 'पुजारी' आज उसी पाप की गठरी सिर पर लाद कर महावीर का जय-जयकार बोलते हैं जिसे गहराई में दफ़ना देने के लिए महावीर ने सब-कुछ किया, सब-कुछ सहा। निश्चय

ही इस पूजा में महावीर का समतावाद ढूँढे भी नहीं मिलता है, पर फिर भी वह एक सत्य है, एक प्रखर सत्य है।

अपरिग्रहवाद

अपरिग्रहवाद महावीर-संदेश का मणि-मुकुट है। साधारणतः कहा जाता है कि महावीर ने अहिंसा को परम-धर्म कहा था और अहिंसा पर ही सबसे अधिक जोर दिया था और यह सत्य भी है। पर यह भी तो असत्य नहीं है कि अपरिग्रह के बिना अहिंसा अधूरी है, लूली-लंगड़ी है, बल्कि अहिंसा का परिष्कृत व विकसित रूप अपरिग्रह ही है। अपरिग्रहवाद का अर्थ दान या त्याग नहीं है, जैसा कि भ्रम-वश धारणा बन सी गई है। अपरिग्रहवाद अग्रहणमूलक है। गृहीत का त्याग और अग्रहण में अन्तर है, आकाश-पाताल का अन्तर है। अपरिग्रह के अंतर्गत आवश्यकता से अधिक 'परिग्रह' का संग्रह पाप है, पर-अधिकार अपहरण-मूलक हिंसा है। महावीर ने परिग्रह की सूक्ष्म व्याख्या की। उन्होंने कहा कि ममत्व, मोह या मूर्च्छा ही परिग्रह है। आत्मा में लिप्त विकार आत्मा से भिन्न हैं, परकीय हैं, परिग्रह हैं। इस तरह महावीर ने आत्म-मल को, कषायों व लेश्याओं को, सभी विकारों को, परिग्रह कह कर अपरिग्रहवाद को नीतिवाद का सिरमौर बना दिया। जरा भी गहराई से हम इस सूक्ष्म विवेचन पर विचार करें और खोज करें तो आज की समस्याओं को हल करने के लिए पर्याप्त सामग्री यहाँ मिलेगी। फिर हमें दिखेगा कि जहाँ पदार्थ पर विशेष स्वामित्व है, जहाँ प्रतिस्पर्धा व प्रतिद्वन्द्विता है, जहाँ ईर्ष्या है, जहाँ शोषण है, जहाँ समाजानुमोदित वैयक्तिक आवश्यकता का अतिक्रम है, जहाँ वैषम्य है, वहीं परिग्रह है। वैयक्तिक क्षेत्र से आगे बढ़ कर सामाजिक धरातल पर आते ही हम साम्यवाद और अपरिग्रहवाद में असाधारण व आश्चर्यजनक समानता पाएँगे, साथ ही यह भी देखेंगे कि अपरिग्रहवाद साम्यवाद का पूरक बनने की भी क्षमता रखता है। तभी हम यह समझ सकेंगे कि घोर संग्रह के बीच रह कर अपरिग्रहवाद का गुणगान करने में कोई तथ्य नहीं है। तभी दान के सहज दोष प्रकट होकर यह संकेत देते दिखेंगे कि वह समाज आदर्श नहीं है जो दानियों या दानवीरों से भरपूर है या जहाँ दान खब लिया-दिया जाता है, बल्कि वही समाज आदर्श है जहाँ दान अनावश्यक है, जहाँ न दाता हैं न भिखारी हैं, न जहाँ देने का अहंभाव है, न लेने की दीनता व गिरावट लाने वाली कृतज्ञता है, जहाँ वितरण का आधार वास्तविक आवश्यकता की पूर्ति है, जहाँ अतिसंग्रह असंभव है। अपरिग्रहवाद का यह विराट् स्वरूप निश्चित रूप से महावीर के अपरिग्रहवाद

में बीज-रूप में विद्यमान है और इस अपेक्षा से महावीर विश्व के सर्वप्रथम साम्यवादी भी हैं, यह निर्विवाद है।

जैसा कि अहिंसा, अनेकान्तवाद व समतावाद के विषय में हम कह चुके हैं, अपरिग्रहवाद को लेकर भी यही वस्तुस्थिति है। 'महावीर के अनुयाइयों' में अपरिग्रहवाद को ढूँढने से दृष्टि-भ्रम या ग़लतफ़हमी हो सकती है, जो न होना चाहिए। सचमुच अपरिग्रहवाद की जुबानी पूजा अभी भी ये लोग करते हैं, पर हाय रे! इनकी मजबूरी, ये आज परिग्रह के परम-उपासक बन बैठे हैं। फ़क़ीर की नहीं, दानवीर की क़द्र यहाँ है। काले बाजार की पापाजीविका करके, जाली हिसाब-किताब की मदद से रक़में ग़बन कर, इन्कम टैक्स, सेल्स टैक्स आदि देय करों को हड़प कर और न जाने किस-किसका न्यायोचित धन डकार कर, ग़रज़ यह कि तरह-तरह के छल-कपट, अन्याय व अनीति से कोई रुपया कमाए और उस करोड़ों की कमाई में से कुछ हजारों-लाखों का दान कर अल्पांश छोड़ बैठे तो वह बन जाता है समाज-भूषण, धर्म-प्राण, और न जाने क्या-क्या, और मच जाती है उसकी वाह-वाही व प्रतिष्ठा की धूम, यहाँ तक कि उसके हाथों में नेतृत्व की बागडोर भी दे दी जाती है। यहाँ अपरिग्रह की मूल भावना का कितना भयंकर उपहास छिपा हुआ है! फिर, विद्वानों व ज्ञानपुञ्जों की दयनीय स्थिति में अपरिग्रहवाद का खुला मखौल नहीं तो क्या है? ये सती-सरस्वती के उपासक, ये महावीर-वाणी के मुख, गणिका लक्ष्मी के मोहपाश में आबद्ध हैं। सरस्वती लक्ष्मी की परिचारिका व क्रीत-दासी बन कर अपरिग्रहवाद का दम भरने वालों को ललकार रही है, पर कोई नहीं सुन रहा है। इतना ही नहीं, धार्मिक क्रियाएँ भी अपरिग्रहवाद की खिल्ली उड़ा रही हैं। बाहरी वैभव के प्रदर्शन में धर्म की 'प्रभावना', सोने चाँदी हीरे-जवाहरात से मस्त फ़क़ीर की मूर्ति का निर्माण, बहुमूल्य चाक-चिक्य पूर्ण वस्त्राभूषणों से वीतराग की मूर्ति का अलंकार, गजरथ, पंचकल्याणक आदि उत्सवों में धन का थोथा प्रदर्शन व अपव्यय, मंदिरों का अनावश्यक व अतिनिर्माण, मंदिरों की अपार धन-सम्पत्ति का मोह-भरा व साथ ही निरर्थक, बल्कि समाज के लिए घातक केन्द्रीकरण—यह सब क्या है यदि अपरिग्रहवाद के मुँह पर लगी कालिख नहीं है? निश्चय व व्यवहार की दुहाई ग़लत तरीक़े से देकर या 'किन्तु-परन्तु' के साथ बातें बना कर, इस लक्ष्मी-पूजा की वकालत करने में कोई सार नहीं है। अपरिग्रहवाद की छाया भी यहाँ नहीं है। उसे देखने के लिए इतिहास पर दृष्टि डालनी होगी, साहित्य की गहराइयों में उतरना होगा, विवेक से काम लेना होगा।

महावीर-दर्शन

महावीर-संदेश का संकेत ही ऊपर दिया गया है पर महावीर-जीवन की साधना उससे सहज ही स्पष्ट है। अपने समय की विकृतियों को दूर करना ही नहीं, वरन् रचनात्मक व ठोस तत्त्वों पर मानव-जीवन को निर्धारित करना, एक नई निर्माणकारी दृष्टि, विचारधारा व फ़िलासफ़ी देना, आने वाले अनन्त भविष्य के लिए अमर ज्योति जगाना, उसका लक्ष्य है। पर दुर्भाग्य है कि उसे संकीर्ण सीमाओं में घेर कर, उस पर बाह्य विधानों का भारी बोझा लाद कर कुछ ऐसा बना दिया गया है कि न उसका सदुपयोग हो रहा है, न कोटि-कोटि नर-नारियों को उससे कोई प्रेरणा मिल रही है। जरूरत है कि थोड़े से आदमी ही नहीं, आज दुनिया सुने महावीर का संदेश और देखे महावीर-जीवन की झाँकी। और यह तभी सम्भव है जब ये थोड़े से लोग जो यह दावा करते हैं कि वे महावीर के अनुयायी हैं, उसे दिखाएँ, उसे सुनाएँ। और यह उस समय तक असंभव है जब तक वे स्वयं न करें महावीर-दर्शन। आज तो वे समझते हैं कि मन्दिर में जाकर महावीर की मूर्ति के दर्शन करना महावीर-दर्शन है, मूर्ति को स्नान कराना और स्नान-जल आँखों से लगाना, आठों द्रव्यों से पूजा करना, गीत गाना, नाचना—यही है महावीर-पूजन। ये बाह्य विधान वे रखें, पर एक तो उनका परिष्कार करें, इनमें प्राण लाएँ, इनका उचित रूप से नव-संस्कार करें; दूसरे, किसी भी रूप में कैसे भी बाह्य विधान का अन्तरङ्ग पर निरंकुश आधिपत्य न होने दें, शब्दों को भावों पर सवार न होने दें, शरीर को आत्मा पर आच्छादित न होने दें। वे ऐसा करेंगे तो उन्हें क़दम-क़दम पर महावीर–दर्शन होंगे, अपने दैनिक कार्य में, जीवन के हर क्षेत्र में, विश्व के कोने–कोने में उन्हें महावीर का भव्य रूप दिखाई देगा। तब उनकी सहानुभूति का वृत्त इस विश्व को अपने में समेट लेगा और वह महावीर के जीवन में ही नहीं, विश्व के जीवन में महावीर का दर्शन करेंगे और देखेंगे कि ईसा की सेवा में, मुहम्मद के भाईचारे में, कार्ल-मार्क्स के समतावाद में, गाँधी की अहिंसा में, महावीर की साधना है, महावीर की आत्मा है। तब वे समझेंगे कि दुखियों के दुःख–निवारण में, शरणार्थियों के पुनर्वास में, रोगियों की चिकित्सा में, भूखों और नंगों की सुरक्षा में शिक्षा व ज्ञान के प्रसार में, देश के नव-निर्माण में, विश्व-शान्ति के सत्-प्रयत्नों में, महावीर की जीवन-ज्योति है। और जब वे ऐसा देख–समझ सकेंगे, तभी वे महावीर का सन्देश सर्वत्र फैला सकेंगे।

अर्चना

वीर ! तुम्हारे विमल चरण में, सुर-नर-खग की भक्ति समर्पित !

यौवन में बन कर वैरागी ,
सभी सम्पदा तुमने त्यागी ।
संयम-शील-धर्म-अनुरागी
बन, अभिलाषा तुमने त्यागी ॥

राग-द्वेष, मत्सर-लिप्सा की, ऋजुकूला के तीर विसर्जित !
वीर ! तुम्हारे विमल चरण में, सुर-नर-खग की भक्ति समर्पित !!

अमित यत्न कर पूर्ण ज्ञान जब ,
पाया तुमने वितरण कर तब ।
कहा विश्व से जीव तुल्य सब ,
भूल न बलि दे आहुति में अब ॥

जीवन भूल नहीं दे सकता तो न मृत्यु दे पामर-गर्वित !
वीर ! तुम्हारे विमल चरण में, सुर-नर-खग की भक्ति समर्पित !!

राम बने, रजनीचर रावण ,
धर्म-कर्म का कर पारायण ।
महापुरुष होते साधारण ,
नर ही बनते सच नारायण ॥

मग का प्रस्तर जैसे मठ में, पावन प्रतिमा चन्दन चर्चित !
वीर ! तुम्हारे विमल चरण में, सुर-नर-खग की भक्ति समर्पित !!

—श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन 'सरोज'

भगवान महावीर—

जीवन और सिद्धांत

श्री धर्मचन्द्र 'मुखर'

आज से २५५४ वर्ष पूर्व चैत्र शुक्ल त्रयोदशी के दिन अहिंसा के अवतार विश्वमैत्री के सन्देश-वाहक महावीर ने भारतभूमि को अपने पवित्र जन्म से कृतार्थ किया था। कुण्डलपुर (बिहार) के राजा ज्ञातवंशीय क्षत्रिय सिद्धार्थ इनके पिता एवं वज्जियों के गणतंत्र के प्रधान महराजा चेटक की पुत्री प्रियकारिणी त्रिशला इनकी जननी थी। भगवान के अवतरित होते ही सिद्धार्थ एवं अन्य कुटुम्बीजनों की श्री वृद्धि हुई, माता त्रिशला के हृदय में आनन्द का सागर-लहराने लगा। प्रजा भी उत्तरोत्तर सुख, शांति एवं समृद्धि के सुरभित शीतल समीर का सा आनन्द अनुभव करने लगी। क्रमशः बालकालीन कलाओं से बढ़ते हुए कुमार एक दिन षोडश कलाओं से अभिवृद्ध शरत्पूर्णिमा के चन्द्र से प्रतिस्पर्धा एवं गुणों के समुद्र को उद्वेलित करते हुए वर्धमान संज्ञा को सार्थक करने लगे। जीवन की विभिन्न वीरता एवं बुद्धिपूर्ण घटनाओं के कारण वे क्रमशः वीर, अतिवीर, सन्मति आदि के नाम से भी प्रख्यात हुए।

वे राजपुत्र थे; निःसीम वैभव व विलास की सामग्रियां उनके चरणों में उपभोग के लिए प्रस्तुत थीं। पर नहीं, वे तो संसार की वासना में लिप्त न हो उससे छुटकारा पा पीड़ित मानवता का कल्याण करने आए थे। हिंसा, असत्य, प्रभुता एवं परिग्रह से सन्तप्त विश्व में अहिंसा, सत्य, समता और सहिष्णुता की पावन भागीरथी प्रवाहित हो और समाज उसमें स्नान कर अपने अन्तर की कलुषता को धो स्वच्छ-साफ करे यही उनकी मंगलमय कामना थी। तत्कालीन वितण्डावाद, हिंसा का प्रचण्ड तांडव और अन्धविश्वास की अवांछनीय प्रवृत्तियों को देखकर उनका हृदय वेदना से भर उठा। मानवता के कल्याण की कामना की पराकाष्ठा ने उन्हें पिता की आज्ञा, मातृप्रेम और कुटुम्बीजनों के मोह से दूर विरक्ति के मार्ग पर ला खड़ा कर दिया। वे आध्यात्मिक क्षेत्र में क्रान्ति के स्रष्टा ही नहीं हुए; अपितु स्वार्थ-लिप्त समाज के जीवन को पवित्र करने के लिए चिरसत्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर अज्ञान तम-स्तोम से व्याप्त विश्व की पथ-भ्रान्त जनता के ज्ञान के प्रकाश-स्तम्भ भी बने।

अखंड मानवता की सेवा का पुण्यव्रत लेकर घोर त्याग और तपस्वी जीवन का अनुकरणीय आदर्श उपस्थित करने से समाज के हृदय में उनके प्रति जो सम्मानपूर्ण श्रद्धा की मुद्रा अंकित हुई वह आज भी अमिट है । वे मार्गदर्शक थे अतः तीर्थंकर कहलाए ।

बचपन से ही कुमार वर्धमान के हृदय में विरक्ति की भावना अंकुरित होती गई । वे तीस वर्ष के हुए, पिता ने विवाह का प्रस्ताव उपस्थित कर राज्य कार्य में उन्हें लगाना चाहा, माता ने रूपसी वधू के प्रेम पाश में बांध सांसारिक विलास में अनुरक्त करना चाहा पर कुमार ने पिता की आज्ञा, माता के अविरल अश्रुबिन्दुओं, बन्धुजनों के स्नेह एवं प्रजा की ममता की उपेक्षा कर उस चिरसत्य को खोजने की प्रतिज्ञा की जो घर में नहीं बन में, परिग्रह में नहीं आकिंचन में, मोह में नहीं त्याग में, राग में नहीं विराग में, भोग में नहीं योग में, विलास में नहीं साधना में, लिप्सा में नहीं निरीहता में—निहित थी। उन्होंने घर द्वार छोड़ा, वस्त्र आभूषण छोड़े, महत्व छोड़ा और छोड़ी कुण्डलपुर के महाराज कहलाने की आकांक्षा । वे तिलतुष मात्र परिग्रह का त्याग एवं ऐन्द्रियिक सुखों को तिलांजलि देकर—"ज्ञातखण्ड" वन में ध्यानमग्न हो गए । विशिष्ट सिद्धि और लोकसेवा के लिए विशिष्ट साधन की आवश्यकता होती है, तपश्चरण का निर्मल सलिल-स्रोत अन्तर के कलमष कर्दम को धो आत्मा को स्वच्छ, साफ, समर्थ एवं कार्यक्षम बना देता है । बारह वर्ष के तपश्चरण के उपरान्त उनके अन्तर में अज्ञान के अस्थान पर ज्ञान, मिथ्यात्व के स्थान पर उज्ज्वल सत्य, चञ्चलता के स्थान पर धैर्य, सद्विश्वास, अटल साहस एवं लोकोत्तर क्षमाशीलता आदि सात्त्विक प्रवृत्तियों की प्रतिष्ठा हुई और वैशाख शुक्ल दशमी के दिन तृतीय प्रहर में जृम्भक ग्राम के सन्निकट ऋजुकूला नदी के तट पर सालवृक्ष के नीचे कैवल्य की उपलब्धि से आत्मा में ज्ञान, दर्शन, सुख और स्वाभाविक गुणों का पूर्ण आविर्भाव हो गया।

तीस वर्ष के गार्हस्थ्य जीवन में—भारत की भयावह परिस्थिति का गम्भीर अध्ययन करने के उपरान्त ही—महावीर ने साधना का प्रशस्त मार्ग चुना था । दुर्बलों को दी जाने वाली पीड़ा, याज्ञिक हिंसा, नारी पारतन्त्र्य एवं ऊँच-नीच की बढ़ती हुई भावनाओं को देख उनके हृदय में जो चोट पहुँची, गृहत्याग उसी की प्रतिक्रिया थी । मानव से मानव का गठबन्धन करने, जातीय विषमता की गहरी खाई को पाटने तथा स्वार्थान्धता और अन्ध-विश्वास को दूर करने के लिए अहिंसा के दिव्य दूत ने लोककल्याण का व्रत ले

सर्वप्रथम राजगृह के निकट विपुलाचल पर्वत पर हुई महती सभा—जिसे जैन-शास्त्रों में समवसरण कहते हैं—में उपदेश दिया।

ग्यारह गणधरों में से प्रधान गौतम गणधर भगवान के पावन उपदेशों का लोकभाषा में प्रसार किया करते थे। राजगृह के महाराज श्रेणिक (इतिहास में बिम्बसार नाम से प्रसिद्ध) भी भगवान के समवसरण में धर्मोपदेश-श्रवण के लिए आया करते थे। कहा जाता है कि उन्होंने विभिन्न सभाओं में छप्पन हजार प्रश्न किये और सभी का यथोचित उत्तर भी पाया। श्रेणिक की रानी चेलना, चेटक की पुत्री और भगवान महावीर की मौसी भी होती थी। तप और संयम की प्रज्वलित अग्नि की आंच में तपे हुए भगवान के निर्मल उपदेशों के हृदयस्पर्शी अक्षुण्ण प्रभाव से विश्व में नई जागृति और उत्साह भर गया। अज्ञान का परदा हटा, वस्तुस्थिति का बोध हुआ। सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह और आत्मविश्वास की प्रतिष्ठा हुई। उन्होंने पतितों को उठाया, नारी स्वातन्त्र्य की घोषणा की और विषमता को दूर कर "सत्त्वेषु मैत्री" का सन्देश दिया।

महावीर द्वारा प्रतिपादित (१) अहिंसा (२) साम्यवाद (३) अनेकान्त या स्याद्वाद (४) कर्मवाद और (५) अपरिग्रहवाद सिद्धान्त आत्मोत्कर्ष के पथ पर चलने वाले व्यक्ति के लिए प्रकाश स्तम्भ का कार्य करते हैं। इन्हें जीवन में उतार कर प्राणि मात्र चरम लक्ष्य की प्राप्ति कर सकता है।

अहिंसा—हिंसा न करना, यह शब्द हिंस धातु से बना है जिसका अर्थ है वध करना, मारना, पीटना या कष्ट देना। दुःख किसी चेतन को ही दिया जा सकता है अतः 'प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा" या मन, वचन, काय से किसी भी जीव को कष्ट पहुँचाना हिंसा है। 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' का पूर्ण पालन अहिंसा की पराकाष्ठा है। महावीर ने कहा कि वीर होकर तो रहो पर व्यर्थ क्रोध मत करो, प्राणि मात्र में मैत्री की भावना रखो, किसी से वेर मत करो। अहिंसा कायरों का नहीं, सच्चे वीरों का धर्म है। जैनाचार में अहिंसा ही आत्म विकास की प्रथम और अन्तिम सीढी है।

आध्यात्मिक साम्यवाद का व्यापक अर्थ है चेतन-अचेतन की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करना और पारस्परिक कार्य-करण भाव में सहयोगात्मक प्रवृत्ति को आधार मान स्वतंत्रता को अक्षुण्ण बनाये रखना। विश्व अनेक तत्त्वों का समुदाय है, जड़ और चेतन के सहयोग और सम्मिश्रण से इसकी गति चल रही है फिर भी आत्मद्रव्य का जड़ द्रव्यों एवं जड़ द्रव्यों का आत्मद्रव्य से पृथक अस्तित्व है। अतः यह मानना कि "मैं बड़ा हूँ, वह छोटा है, मैं राजा हूँ, वह

प्रजा है, मैं छूत हूँ, वह अछूत है, मैं पण्डित हूँ, वह मूर्ख है" निरा अज्ञान है। इसकी प्रतिष्ठा से विकारों का विनाश एवं व्यक्तिगत प्रतिष्ठा के साथ ही साथ समता के सुन्दर धरातल पर समाज के भव्य भवन का निर्माण होता है। यह ऐहिक और पारलौकिक सुख-शान्ति का मार्ग दिखाता है। महावीर स्वयं अहंमन्यता पर विजय प्राप्त कर समता के सच्चे आदर्श बने थे।

अनेकान्त या स्याद्वाद—प्रत्येक पदार्थ अपने अपने गुण एवं पर्याय रूप से परिणमन कर एक ही साथ अनेक धर्मों का आधार है। जीव और अजीव द्रव्यों के पारस्परिक संयोग से वस्तु की उत्पत्ति होती है और बिना किसी नियन्ता के स्वाभाविक उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्य परिणमन से नाना आकारों को धारण करती है। पर्याय बदलती रहती हैं पर वस्तु का सर्वथा विनाश नहीं होता। अनंत गुण, शक्ति, पर्याय, और धर्म प्रत्येक वस्तु में विद्यमान है। वस्तु के विराट् रूप को शब्दों में कहना असम्भव है और एक रूप से ग्रहण कर उसे सर्वथा सत्य कहना कदाग्रह है, हिंसा और संघर्ष का कारण है। अहिंसक के लिए अनेकांत का पक्ष स्वीकार करना व्यवहार्य ही है। स्याद्वाद का सामान्य अर्थ है स्यात् वाद अर्थात् यह बात अमुक दृष्टिकोण से कही जा रही है। इसमें सत्य है पर कदाग्रह नहीं, अहंकार रहित मत प्रतिपादन है। मानसिक और वाचनिक शुद्धि के साथ ही सहिष्णुता, सहानुभूति, और मैत्री की भावना को अंकुरित करने के कारण स्याद्वाद जैन तत्त्व ज्ञान रूपी तरु का सुमधुर एवं सबसे बड़ा फल है।

कर्मवाद—प्राणियों को अच्छी बुरी प्रवृत्तियों के अनुसार ही फल मिलता है। जैन दर्शन में कर्म एक वस्तुभूत पदार्थ हैं जो रागी द्वेषी जीव की अच्छी भली क्रियाओं द्वारा आकृष्ट हो जीव से बँधता है। फलदाता कोई ईश्वर या नियन्ता नहीं अपितु बांधे गए कर्मों के अनुसार ही जीव संसार में परिभ्रमण कर सुख-दुःख भोगता है। योगों के निरोध पूर्वक कर्म परमाणुओं का आत्मा में आगमन, रोक एवं संचित कर्मवर्गणाओं को तपस्या द्वारा सर्वथा जलाकर जीव कर्म निर्लिप्त हो मुक्त कहलाने लगता है।

अपरिग्रहवाद का अर्थ है—व्यक्ति बाह्य पदार्थों में ममत्व व स्वामित्व की भावना न रखे। बाह्य पदार्थों में ममत्व बढ़ाने से प्राणी राग, द्वेष, मोह, ममता, मूर्च्छा आदि विकारों के दलदल में फंस जाता है। परिग्रह में दूसरों के अधिकार के अपहरण की भावना निहित रहती है। फलतः हिंसा और

[शेष पृष्ठ ४० के नीचे]

अहिंसा के अमर पुजारी !

अखण्ड, अच्छेद्य, अभेद्य, अनन्त तमोनीलिमा के उस पार सत्य का दीप जलाने वाले ! पुण्य-पन्थ को प्रशस्त कर युग-युग की कालिमा को ज्ञान-रश्मियों में विलीन कर, भास्वर-शाश्वत रजत की धवलिमा को शान्त-शुभ्र दिग्दिगन्तों में व्याप्त कर, कीर्ति-कौमुदी को पुलकायमान करने वाले ! जीवन की मंजिल के अंतिम सफल, सुदृढ़ राही ! विश्व के मध्य आज भी प्रेम की अमरता के मीठे बोल कर्ण-कुण्डलनियों को उत्फुल्ल कर, अमर गाथा को दुहरा रहे हैं, जो सदैव तुम्हारी जयन्तियाँ पुजापे की अन्तिम श्वास तक मनाते आ रहे हैं, मनाते जायँगे।

पर राग की यह अरुण-लालिमा उस शुभ्रता में न्यून न होकर अत्यन्त स्पष्ट परिलक्षित होती जायगी।

काश ! उसी को पहचान पाते तो पथिक का यह पथ आधा तय किया हुआ ही मिलता।

—श्री देवेन्द्र कुमार जैन शास्त्री,

[पृष्ठ ३९ का शेष]

संघर्ष को प्रश्रय मिलता है। "मूर्च्छा परिग्रहः" कहकर इसे उतना ही जघन्य पाप माना है जितना हिंसा और असत्य को। अपरिग्रहवाद में व्यक्ति को निर्लिप्त होकर जीवन निर्वाह के योग्य धनार्जन कर पदार्थों के उपभोग की सुविधा तो दी गई हैं पर अनावश्यक संचय कर दूसरे के अधिकार छीनने की शिक्षा नहीं।

सामाजिक, आर्थिक, एवं सांस्कृतिक विषमता, अशान्ति, संघर्ष और युद्धों का प्रतिरोध करने के लिए इन सिद्धान्तों का सामाजिक जीवन में व्यवहार करना नितांत आवश्यक है। यह कार्य छोटा नहीं महत्व का है, पाप का नहीं पुण्य का है, संघर्ष का नहीं विश्व शांति का है, विषमता का नहीं समता का मूल है।



भगवान महावीर का व्यक्तित्व

—डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरी एम० ए०, पी-एच० डी०

भगवान महावीर जिस युग में पैदा हुए थे वह युग न केवल भारत के लिए ही बल्कि समस्त संसार के लिए बौद्धिक जागृति का युग था। उस जमाने में ग्रीस देश में महात्मा सुकरात ने, फारस में महात्मा जरथुस्त्र तथा चीन में लाओत्से और कन्फ्यूशियस ने विचार क्षेत्र में क्रान्ति पैदा कर दी थी। उस युग का धार्मिक एवं दार्शनिक क्रान्ति का भारतीय इतिहास बड़ा अद्भुत है और भगवान महावीर का व्यक्तित्व समझने के लिए उसे जान लेना अत्यन्त आवश्यक है।

यथार्थ में ऐतिहासिक दृष्टिसे भगवान महावीर के उदय होने के कई शताब्दियों पहले से भारतीय विचार धारा में क्रान्ति प्रारम्भ हो गई थी। उस समय तक वैदिक काल और वैदिकोत्तर काल की चहल पहल एक प्रकार से खतम हो चुकी थी। वेदानुयायी नवीन सम्प्रदाय तथा वेदविरोधी सम्प्रदाय भारतीय विचारों और सामाजिक ढांचे के विकास एवं परिवर्तन में अत्यन्त क्रियाशील थे। इतिहासज्ञों के शब्द में हम इसे 'सूत्रयुग' कह सकते हैं, क्योंकि इस युग में श्रौत, गृह्य आदि सूत्रों का निर्माण हुआ था। भारतीय धार्मिक इतिहास की दृष्टि से हम इसे 'श्रमण-ब्राह्मण युग' भी कह सकते हैं। तत्कालीन ब्राह्मण, जैन और बौद्ध साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन से हमें मालूम होता है—एक ओर तो बड़े बड़े आश्रम थे जहां बड़े बड़े गुरुकुल चल रहे थे तथा एक प्रतिष्ठापक कुलपति के अधीन सैकड़ों छात्र शिक्षा पाते थे; दूसरी ओर परिव्राजकों की बड़ी जमातें वर्षा ऋतु को छोड़ शेष महीनों सारे देश में घूम फिर कर धार्मिक एवं दार्शनिक विचारों को फैलाती फिरती थीं। जनता में वैदिक क्रिया काण्ड और उदात्त अनुदात्त स्वरित के ढंग से वेद शिक्षा के प्रति रुचि उठ गई थी। वेदों की अपौरुषेयता पर शंका होने लगी थी। वेद विहित यज्ञ होम ब्राह्मणदान आदि कुछ महत्व के नहीं हैं, उनसे आत्मा की प्राप्ति संभव नहीं हो सकती आदि विचार जागृत होने लगे थे। लोगों का ध्यान आत्म साक्षात्कार की ओर, शील, समाधि (योग), चिन्तन, मनन

(प्रज्ञा) की और अधिक जा रहा था। अन्धकार से ज्योति की ओर अविद्या से विद्या की प्राप्ति की ओर सन्तों-साधकों के प्रयत्न थे। वह जिज्ञासा और खोज का युग था; आत्मा और परलोक उसके विषय थे। आत्मा के भौतिक और आध्यात्मिक रूपों के प्रति बहुविध कल्पनाएँ हो रही थीं; पर अन्तिम निष्कर्ष पर न पहुंचा जा सका था।

आत्मा और परलोक की समस्या को लेकर ऐसे अनेकों मत चल पड़े थे जिनका कि प्राचीन जैन बौद्ध और ब्राह्मण ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है। जैन सूत्रों में इस प्रकार के ३६३ मतों का उल्लेख है जिन्हें मोटे रूप से क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानवाद और विनयवाद में विभक्त किया गया है। उनमें से कुछेक के नाम एक्कावाई, अणिक्कावादी, मितवादी, निमित्तवादी, सासयवादी, समुच्छेदवादी, णियतिवादी आदि स्थानांग सूत्र में मिलते हैं। इसी तरह बौद्ध ग्रन्थों में सस्सतवादी, एकच्च सस्सतवादी, अन्तानन्तिक आदि नामों के ६२ मतों का उल्लेख मिलता है तथा ब्राह्मण ग्रन्थ श्वेताश्वतर उपनिषद में कालवादी, स्वभाववादी, नियतिवादी, यदृच्छावादी आदि नाम से उन्हें कहा गया है। ये सब मत ग्रन्थों की कल्पना रूप में न थे बल्कि इनमें से कुछेक प्रतिष्ठापक आचार्यों के नाम भी हम बौद्ध ग्रन्थ दीघनिकाय से जानते हैं, जैसे पूरण कस्सप (निष्क्रियवादी) पकुधकच्चायन (नित्यतावादी) अजित केसकम्बली (भतवादी—चार्वाक) मक्खलि गोशाल (नियतिवादी) तथा संजय वेलट्ठिपुत्त (संशयवादी) —इनके संबंध में यह गया है कि ये सभी आचार्य बड़े प्रभावशाली थे। सभी का अपना संघ था, गण था। वे प्रसिद्ध गणाचार्य, तीर्थंकर एवं बहुजन सम्मत थे।

इस तरह धार्मिक एवं दार्शनिक वातावरण से क्षुब्ध युग में भगवान महावीर के व्यक्तित्व का उदय हुआ।

महावीर का जन्म ५९९ ईसा पूर्व वैशाली गणतंत्र के एक सदस्य राजा सिद्धार्थ और उनकी रानी त्रिशला से क्षत्रियकुण्ड ग्राम में हुआ था। गणतंत्र के स्वतंत्र वातावरण में क्षत्रिय कुमारों के साथ उनने अनेकों साहस पूर्ण कार्य किये जिससे उन्हें वीर, अतिवीर नाम से भी कहा गया है। कल्पसूत्र आदि ग्रन्थों से मालूम होता है कि वे बड़े ही सुन्दर और प्रभावशाली थे। उनकी निर्मल बुद्धि के कारण उन्हें सन्मति भी कहा जाता था। जब वे साधु हो गए और घोर तपस्या करने लगे तो उनका नाम महावीर हो गया। वैसे उनका घरेलू नाम वर्धमान था। बौद्ध साहित्य में उनका नाम उनके कुल के नाम

पर नातपुत्त (ज्ञातृपुत्र) मिलता है और वे निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय के अनुयायी थे; इसलिए उन्हें निगण्ठ नातपुत्त नाम से कहा गया है। पाली निकायों में उनके व्यक्तित्व की अनेक स्थानों में चर्चा की गई है। तदनुसार वे अपने अनुयायियों के लिए सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अपरिशेष (केवल) ज्ञान से सम्पन्न, चलते, उठते, बैठते, सोते, जागते सम्पूर्ण ज्ञान दर्शन से युक्त थे।

चूल सकुलदायी सुत्त से मालूम होता है कि शास्ता के प्रति इस प्रकार की अमिट श्रद्धा एवं विश्वास ने बहुसंख्यक लोगों के मन में उनके प्रति और उनके उपदेशों के प्रति अत्यन्त आदर एवं भक्ति उत्पन्न कर दी थी। उन लोगों के लिए वे सर्वोच्च मानवीय गुणों के आधार एवं पूर्णता की मूर्ति थे। उनकी कष्ट सहिष्णुता एवं क्षमाशीलता उन लोगों के लिए इस बात का आदर्श थी कि वे कैसी भी संकट की घड़ी में अकम्प, दृढ़ रहें; उनके उपदेश और शिक्षाएँ उनके लिए सत्य का दर्शन थे।

किसी भी महापुरुष के व्यक्तित्व का दर्शन उनके सिद्धान्तों में होता है। न कि उनकी भौतिक बाह्य सामग्री में। उनका व्यक्तित्व जैनशास्त्रों में काल्पनिक ढंग से वर्णित—जन्म दीक्षादि समयों में देवों का आगमन, आकाश से पुष्पवृष्टि, चामर आदि विभूतियों से नहीं मापा जा सकता। ये चमत्कारिक बातें अन्य महापुरुषों के पौराणिक चरित्र की प्रतिस्पर्धा में कही गई हैं। उन्होंने जिन बातों को अपने युग की समस्या हल करने के लिए जनता के सामने रखा था, वे ही उनके व्यक्तित्व के यथार्थ परिचायक हैं। वे सिद्धान्त हैं अहिंसा, क्रियावाद (कर्मवाद) और स्याद्वाद।

उस जमाने में 'वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति' की समस्या न थी; वह नारा तो अपने आप कभी का खतम हो चुका था। समस्या थी कि क्या अपने जीवन निर्वाह के लिए हमें प्राणिवध करना आवश्यक है? क्या उसके बिना भी जीवन नहीं चल सकता? समाज और नैतिकता से गिरे हुए अपने भाइयों के प्रति हमारे क्या कर्तव्य होने चाहिए? भगवान महावीर ने इस समस्या का हल अहिंसा से किया। और उस अहिंसा की साधना इस तरह से की घोर हिंसक जन्तु भी अपना वैर विरोध छोड़ उनके पास एक स्थान पर बैठ सके। उन्होंने सभी प्राणियों के प्रति मैत्रीभाव रखने का उपदेश दिया, तथा शान्ति और धैर्य के साथ क्षमाभावों से अपने विरोधियों का हृदय परिवर्तन कर उन्हें जीतने का उपदेश दिया। उन्होंने अहिंसा का आदर्श रूप ही नहीं

रखा बल्कि उसका व्यावहारिक रूप भी–नियमों के साथ अपवाद भी–प्रतिपादन किया। इससे भारतीय दैनिक जीवन में अहिंसा का बड़ा ही प्रभाव पड़ा। वह मांसाहार से विमुख हो निरामिषता की ओर झुकने लगा।

महावीर की अत्युच्च अहिंसा की साधना से प्रभावित हो भगवान बुद्ध ने सामञ्ञफल सुत्त में उन्हें चातुयाम संवर से संवृत कहा है। चातुयाम संवर का वहां जिस रूप से वर्णन है उससे मालूम होता है कि वे महावीर की अहिंसा के विविध रूपों के प्रतीक के सिवाय और कोई दूसरे चातुयाम संवर नहीं हैं। भले ही उन रूपों का चातुयाम नाम गलती से दे दिया गया हो। उनकी व्याख्या महावीर की अहिंसा की साधना के प्रकाश में अच्छी तरह समझ में आ जाती है। ये चातुयाम संवर हैं:—सब प्रकार के जल से विरक्ति, सब प्रकार के पाप कार्यों से विरक्ति, सब प्रकार के पाप शोधन से युक्त तथा इससे ही अन्तरंग सन्तोष का अनुभव।

महावीर के व्यक्तित्व का परिचायक उनका सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है क्रियावाद, जिसका दूसरा नाम कर्मवाद है। यथार्थ में जैन धर्म का प्राचीन नाम क्रियावाद था। प्राचीन जैन ग्रन्थों में श्रमण भ० महावीर को क्रियावादी नाम से कहा गया है। जैन और आर्हत तो जैन धर्म के लिए पीछे दिये गए नाम हैं। महावीर ने इस क्रियावाद की दार्शनिक व्याख्या कर तत्कालीन आत्मा और परलोक की समस्या का समाधान किया। उन्होंने इस सिद्धान्त से यह घोषित किया, लोगों में यह चेतना पैदा की कि मनुष्य अपने कर्मों का—चाहे वे काय से किये गए हों, चाहे वे वचन या मन से किये हों—स्वयं उत्तरदायी है। उसे उनका फल भोगना पड़ेगा। उनसे उसे कोई बचा नहीं सकता। उन्होंन इस सिद्धान्त से लोगों में यह चेतना जागृत की कि इन कर्मों से मुक्ति किसी की कृपा से नहीं मिल सकती बल्कि स्वयं के प्रयत्नों से मिल सकती है। क्रियावाद के सिद्धान्त से महावीर ने तत्कालीन विचारकों—अक्रियावादियों, अज्ञानवादियों और विनयवादियों के सामने अपनी स्थिति स्पष्ट रख दी। उन्होंने उस समय मत-मतान्तरों में विभ्रान्त लोगों को रास्ता दिखाया कि क्रियावाद ही आधुनिक समस्याओं का समाधान है। भगवान बुद्ध ने भी तत्कालीन समस्याओं का समाधान क्रियावाद का सिद्धान्त अपना कर किया है। उस युग के दोनों महापुरुषों ने क्रियावाद का स्वरूप—"सयंकडं च दुक्खं नान्न-कडं" तथा "सुख दुक्खं सयंकतं" इन शब्दों से द्योतित किया है। भगवान महावीर के सामने उस क्रियावाद को मानने वाले एक दो नहीं, १८० मत

प्रचलित थे, उन से अपने क्रियावाद को भिन्न करते हुए महावीर ने जीवादि सात तत्त्वों का प्रतिपादन किया जो कि आत्मा और कर्म सिद्धान्त का असली रूप है। इस मान्यता के अनुसार जितने व्यक्ति हैं उतनी ही आत्माएँ हैं और वे ज्ञात या अज्ञात हालत में जो भी पाप करती हैं उनका उन्हें ही फल भोगना पड़ता है। बुद्ध ने अपने क्रियावाद में आत्मा को न मान कर चित्त-संतान को माना है।

भगवान महावीर के व्यक्तित्व की झलक हमें उनके तीसरे सिद्धान्त स्याद्वाद से भी मिलती हैं। इस सिद्धान्त ने ऐसी विचार-सरणि, ऐसी विचार धारा को जन्म दिया जिसमें दूसरों के मतों को, आदर्शों को विचारने और उनके साथ समन्वय करने का स्थान है। यह सिद्धान्त उस समय सामने लाया गया जब कि अनेक विरोधी सिद्धान्त बिना किसी निश्चय पर पहुँचे अस्पष्ट रूप में थे। स्याद्वाद, बौद्धिक विचारों के समन्वय का वह सिद्धान्त है जो कि मानव मानव के बीच आपसी समझौते पर आश्रित है। जैन साहित्य में इसे सर्वज्ञता का आधार माना है। महावीर के समकालीन वादियों में संजय वेलट्ठिपुत्त ने इसे न समझ संशयवाद के रूप में अपनाया है। पर भ० बुद्ध इस सिद्धान्त से भलीभांति परिचित मालूम होते हैं। मज्झिमनिकाय के अभय राजकुमार सूत्र में जब कि जैन श्रावक अभय उनके सामने उभय कोटि के प्रश्न रखता है तब बुद्ध जैन विचारसरणि का अवलम्बन ले एकांश (एक दृष्टि कोण) से उसका उत्तर देते हैं, तब अभय राजकुमार उनकी बात मान लेता है और कहता है—ठीक ही है भगवान् आपने अनेक परियाय से धर्म प्रकाशित किया है। उसी सूत्र में बुद्ध ने कहा है कि तथागत किसी वचन की व्याख्या में काल(मौका-दृष्टि कोण) को जानते हैं।

महावीर के व्यक्तित्व के परिचायक इन महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों ने सचमुच में तत्कालीन अनेक समस्याओं के सामाधान करने में बड़ा काम किया जिसका कि असर भारतीय समाज पर बहुत समय तक रहा। तत्कालीन राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास इसके ज्वलंत प्रमाण है।

महावीर के व्यक्तित्व के संबन्ध में एक ओर बात यहाँ कहना उचित होगा। कहा जाता है कि महावीर ने बिलकुल नई धर्म परम्परा नहीं चलाई बल्कि उन्होंने अपने पूर्ववर्ती पार्श्वनाथ की धर्म परम्परा को ही पुनरुज्जीवित किया है। पार्श्वनाथ और महावीर के बीच केवल ढाई सौ वर्षों का अन्तर है— ऐसा माना जाता है कि इस अन्तराल में पार्श्वनाथ का धर्म कुछ समय के लिए

क्षीण हो गया था। इसके बावजूद महावीर के शासन को चलते हुए आज करीब ढ़ाई हजार वर्ष पूरे होने को आ रहे हैं, पर वह बराबर चल रहा है; इस तुलना में पार्श्वनाथ के शासन का इतने थोड़े समय में क्षीण हो जाना एक जिज्ञासा का विषय है। पार्श्वनाथ का शासन कैसा था, उसका क्या नाम था, महावीर ने उसे कैसे पुनरुज्जीवित किया आदि प्रश्न भी जिज्ञासा के विषय हैं; जिनके समाधान के लिए हमारे पास बहुत कम सामग्री है। जो भी है उससे मालूम होता है कि पार्श्वनाथ चातुयाम संवर अर्थात् अहिंसा, सत्य, अचौर्य और ब्रह्मचर्य—के मानने वाले थे। महावीर ने उसमें अपरिग्रह को और बढ़ा कर पञ्चयाम संवर की स्थापना की, जिसका कि महत्व आज संग्रह और मुनाफा खोरी के युग में भलीभाँति समझा जा सकता है। जैन, बौद्ध ग्रंथों के देखने से यह भी भलीभाँति मालूम होता है कि जैन श्रमणों के तप तथा व्रत आदि नियम उस समय तक बड़े सुव्यवस्थित एवं सुदृढ़ थे। इससे अनुमान होता है पार्श्वनाथ द्वारा चलाई गई जैन संघ की व्यवस्था महावीर के समय तक सुव्यस्थित हो गई थी। पर उक्त शासन के क्षीण होने में यदि कोई कारण हो सकता है तो तत्कालीन दार्शनिक विचार धारा। उक्त विचार-धारा को पार्श्वनाथ के शुष्क तप, संयम, शील के नियम रुचिकर व सुहावने न लग सके, जबतक कि उनका दार्शनिक आधार कुछ न हो। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि उक्त महन्त गिरीके युग में, पार्श्वनाथ के इन बाह्य सिद्धान्तों को, विकृत रूप में तत्कालीन अन्य तैर्थिकों ने अपना लिया था जैसे मक्खलि गोशाल ने अचेलकता, पूरणकस्सप ने नग्नता, अजित केशकम्बलि ने वृक्षों और लताओं में जीवों का अस्तित्व, तथा पकुध कच्चायन ने ठंडे पानी में जीव की सत्ता और संजय वेलट्ठिपुत्त ने स्याद्वाद का विकृत रूप संशयवाद। इस तरह इन शक्तियों नें पार्श्वनाथ के शासन को लुप्त करने की चेष्टा की। जो भी हो पर महावीर ने अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से उस शासन को पुनरुज्जीवित किया, उसकी दार्शनिक पृष्ठ भूमि तैयार कर उसमें पुनर्जीवन दिया, उसकी जड़ें ऐसी मजबूत की कि उसकी सत्ता आज भी अविकृत रूप में बनी हुई है। मध्यम मार्ग का सुहावना बौद्धदर्शन भारत भूमि से उठ गया; पर कठिन मार्ग का अनुयायी जैनधर्म महावीर के व्यक्तित्व के कारण भारत में आज भी विद्यमान है।

आज जन्म वीर का !

विश्व सारा,
कृष्ण काय—
पाप अन्धकार से
था आच्छादित;
मार्ग अवरुद्ध था
मनुष्यता का ।
जन समूह—
भय-भ्रान्त
अति क्लान्त
ज्ञान-चेतना विलुप्त
खा रहा था ठोकरें ।
आपस में—
लड़ते-झगड़ते,
मिटाने का संकल्प दृढ़
कर रहे थे दूसरों को ।
हो रहा था अन्त जहां
पूर्ण सत्य धर्म का;
मानते स्वयं को—
श्रेष्ठ सर्वोपरि,
मानव समाज में
भय का था साम्राज्य ।
एक—
देख दूसरे को दौड़ता
बुभुक्षु श्वान के समान;
जीवन का ध्येय था—
करना अनेक पाप
लक्ष्य यही, मानव का—
करना असीम पाप ।

हो रही—
नृशंस हत्या
मूक प्राणियों की जहां,
पाप को ही
मानते थे
धर्म अति उच्चतर ।
यज्ञ यूप से बँधी—
कर रही क्रन्दन अजा,
जिसे—
सुन हृदय
खण्ड—खण्ड
टूक—टूक
हो रहा;
यहां तक कि
वृक्ष भी •
मौन, और शान्त हो
खड़े-खड़े
दे रहे थे साथ
उस, मूक के रुदन में;
पाषाण भी समीप के
दृश्य देख
हो रहे थे नीर तुल्य
पानी, पानी;
सूर्य देव
चण्ड रश्मि भानु भी
देख न सके यह
मूक वध
घोर पाप !

हो गए शीघ्र ही
अभ्र की ओट में।
किन्तु–
उस, धर्म के पुजारी का
दुष्ट अत्याचारी का
हो न सका
मन शुद्ध और नम्र,
वह तो बना रहा
फिर भी कठोर अति
वज्र तुल्य;
कर में
ग्रहण कर नग्न असि
शीघ्र ही कर दिया
शीश से शरीर
एकदम ही पृथक;
लाल-लाल
रक्त की
बह चली असीम धार
हो गई मही समस्त
रक्त!
रक्त!!
रक्तमय!!!
एक नहीं
असंख्य ही
ऐसे, ऐसे
हो रहे थे यज्ञ आदि–
अजामेध
अश्वमेध
गोमेध
यहाँ तक नरमेध
आह!

हवन के कुण्ड में–
हो रहा था अन्त
उन सब प्राणियों का!
× × ×
वर्णभेद,
सीमा लाँघ
गया था पहुँच निज
चरमसीमा पर;
शूद्रों को
अछूत, अन्त्यजों को
खाने का
पीने का
बोलने का
जीने का
था न अधिकार कुछ;
पराधीन बन करते
व्यतीत थे–
सेवा में
सफाई में
कमाई में दूसरों की
जीवन का शेष भाग।
आए सम्मुख कोई
उच्च वर्ण
गर्वित जाति मद से;
मार्ग में
तो–
लेटना ही पड़ता था
वहीं उस मानव को,
क्योंकि कहीं
पड़ न जाय शरीर पर
छाया उस शूद्र की।

वेद वाक्य बोलने पर–
होती जिह्वा छिन्न-भिन्न
पृथक् दसन से।
और–
श्रवण जो वेद का
कर ले शूद्र कोई,
कानों में बेचारे के
आफत के मारे के
गर्म–गर्म
अति उष्ण
धधकती लौह धार
पड़ती थी आन के !

× × ×

होते थे अत्याचार
नारियों पर
उन सुकुमारियों पर;
कहता था मानव यों —
"पादुका यह पैर की !"
रखते थे ठोकरों में
उन अबलाओं को;
प्रातः उठ
पीसना
कूटना
माँजना
करना गृह कार्य सब;
क्षण भर मिलती न
शान्ति उन्हें कभी,
ऊपर से–
गालियों की
होती बौछारें थीं !
इस अपमानित
कलंकित जीवन से
कहती थी—
मरना श्रेयस्कर;
तथा कई
कर बैठती थी
आचरण इसका;
यों पुष्प से मृदुल तन
जन्म अमोल का
करती हा !
अन्त थीं।

× × ×

मांस का प्रपूर्ण वेग
अतिशीघ्रता से
बढ़ा जा रहा था;
राव, रंक
युवा, वृद्ध
बालक औ' बालिका
रह नहीं सके थे-
अछूते इस पाप से !
सुरावाद !
वह भी
करता प्रबल गर्ज,
निरन्तर, अविराम
जा रहा बढ़ा था
मानव समूह की ओर ही;
यहां तक
वेदों में भी
पा लिया निजस्थान,
ऋषि
मुनि
ज्ञानी

ध्यानी भी
न छूटे
इस सोम पान से।
एक ही नहीं
अपितु–
अनेक ही
बढ़े अत्याचार थे;
चहुँ ओर–
सुनता था आर्तनाद
त्राहि–त्राहि
कर रहा समस्त विश्व
द्वेष की दावाग्नि में
झुलसा था जा रहा !

× × ×

नरक तुल्य भूमि का
दृश्य देख
हृदय कराह उठा
उस वीरवर का;
होकर दयार्द्र वह
दुखियों की सेवा हित
जगत का दूषित,
वातावरण मिटाने को;
जनता में साम्यधारा
प्रेम की बहाने को;
शीघ्र चला
प्राणत विमान से
आया
त्रिशला के उर,
लेकर अवतार वह
नगर कुण्डलपुर
स्वर्गसम हो गया
हो उठे प्रफुल्लित
उल्लसित हृदय
सत्य धर्मधारियों के
सज्जनों के।
शान्ति सी छा गई
सर्व संसार में
आ गई वह–
धन्य !
चैत्र शुक्ला त्रयोदशी,
देव वृन्द और
मानव समूह
शीघ्र आ
खुशियाँ मना रहा
गा रही हैं नारियाँ–
मंगल, खड़ी-खड़ी
घड़ी-घड़ी
प्रतिपल, मोद से
हर्ष से,
उल्लास से, एक साथ
एक स्वर
कह रहे—
आज जन्म वीर का !

—मुनि श्री कीर्तिचन्द्र जी 'यश'

सन्मति महावीर और 'सर्वोदय'

–श्री महावीर प्रसाद प्रेमी

विश्व के रंग-मंच पर अनेक शताब्दियों तक सूत्रधार बना रहने का यदि किसी को सौभाग्य प्राप्त हुआ है, तो वह है परम पुनीत भारतमाता। इसी पवित्र भूमि पर जैन-धर्म के पुनरुद्धारक अन्तिम तीर्थंकर सन्मति महावीर का आविर्भाव बिहार प्रान्त के पटना नगर के समीप वैशाली के उपनगर कुण्डलपुर में आज से लगभग २५५४ वर्ष पूर्व चैत्र शुक्ला १३ को हुआ था और निर्वाण ७२ वर्ष की आयु में कार्तिक कृष्ण ३० पावापुरी (राजगिर जिला पटना) में हुआ था। महावीर एवं बुद्ध प्रायः एक ही क्षेत्र में और एक ही समय में हुए, इसलिए इनमें बहुत-सी समानता है। जिन, बुद्ध, श्रमण, अर्हत्, तीर्थंकर आदि शब्द दोनों धर्मों में समान रूप से अपने प्रवर्तकों के लिए प्रयुक्त होते हैं। जैन तथा बौद्ध-धर्म के सिद्धान्तों में पर्याप्त समानता है और बहुत-से व्यक्तियों के नाम भी एक जैसे हैं। जो कुछ हो, भारत के राष्ट्रपिता गाँधी जी पर जैन और बौद्ध-धर्म का बड़ा प्रभाव पड़ा। उन्होंने सत्य और अहिंसा के अनूठे अस्त्र इन्हीं धर्मों में से प्राप्त किए। कर्मयोगी विनोबा भावे पर भी उनके पवित्र विचारों का विशेष प्रभाव पड़ा है। तभी तो एक मित्र को उन्होंने एक पत्र में लिखा था कि "आज तो मैं महावीर और बुद्ध की छत्र-छाया में उन्हीं के प्यारे बिहार में घूम रहा हूँ एवं बिहार निवासियों के प्रेम एवं मिलनसारी का मुझ पर अमिट प्रभाव पड़ा है।" वस्तुतः बिहार श्रमण-संस्कृति का केन्द्र भी है।

भगवान् महावीर के पाँच धर्म-सूत्र हैं—'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, संयम या ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।' आज सामाजिक-समानता, आर्थिक-न्याय के आधार पर—जन्मपर आश्रित जात-पाँत और वर्ग या वर्ण के दूषित भेद-भाव, साम्प्रदायिकता एवं प्रान्तीयता का अन्त करके राष्ट्र के नव-निर्माण की बातें तो बहुत कही सुनी जाती हैं; परन्तु जब तक सब लोगों के हृदय में क्रान्तिकारी भावना और इसके लिए सांस्कृतिक-चेतना पैदा नहीं होती और जब तक इस सिद्धान्त के अनुसार लोग अपना नैतिक चरित्र तथा परस्पर शुद्ध व्यवहार नहीं बनाते तब तक न्याय-नीति, प्रेम एवं सुख-शान्ति की आशा करना व्यर्थ है। सच पूछा जाय, तो मानव-समाज में गुण-कर्म अथवा आजीविका के आधार पर

विभिन्न विभागों का वर्गी-करण स्वयं मनुष्य ने किया था, जो कालान्तर में जन्म पर आधारित हो गया। पर हृदय से हीनता की भावना दूर कर महानता की भावना पैदा करने, सामाजिक समानता और आर्थिक न्याय या सुविधा मिलने से कोई भी व्यक्ति ब्राह्मण जैसा ज्ञानी या विद्वान् तथा क्षत्रिय जैसा वीर बन सकता है। अतः जन्म से बड़प्पन की बात झूठी और मूर्खता पूर्ण है। हाँ, इसमें कोई संदेह नहीं कि इसके लिए शिक्षा और कार्य-कुशलता का ज्ञान पैदा करना अत्यन्त आवश्यक है। इस संबन्ध में यह कहना कि जो व्यवस्था किसी समय निर्धारित कर दी गई है वह ईश्वरीय या नैसर्गिक तथा धर्म पर आधारित है अर्थात् मनुष्य कृत नहीं है, इस बात में कितना पाखण्ड छिपा हुआ है, इसका अनुभव पाठक स्वयं कर सकते हैं।

जात-पाँत का विनाश

कहना न होगा कि विगत हजारों वर्षों से समय-समय पर सन्मति महावीर, महात्मा बुद्ध, रामानन्द, कबीर, नानक, राजा राममोहन राय और स्वामी दयानन्द ऐसे अनेक महामानवों ने सामाजिक-सुधार, क्रान्ति और नव-निर्माण के क्षेत्र में बाधक जातियों के रूढ़िवाद एवं अनावश्यक और हानिकारक रीति-रिवाजों का खण्डन किया है; परन्तु उनका यह प्रयत्न केवल सामाजिक एवं धार्मिक-क्षेत्र तक ही परिमित होने के कारण पूर्णतः सफल न हो सका। यदि वे महात्मा गाँधी की तरह राजनीतिक-क्षेत्र में भी प्रयत्न करते, तो जात-पाँत, शोषण और आर्थिक असमानता कब की दूर हो गई होती, जैसा कि गाँधी जी की प्रखर सूझ-बूझ के अनुसार जन्म पर आश्रित बड़े-छोटे अथवा जात-पाँत का विरोध राजनीतिक-क्षेत्र में करने से आज राजनीतिक कारणों से ही, जात-पाँत दूर हो रही है। सामाजिक असमानता और आर्थिक अन्याय को कायम रखने वाली बातों को समाज रूपी शरीर का विनाशक रोग समझ कर उखाड़ फेंकना एक मंगलकारी एवं नैतिक व्यवहार है और उनको कायम रखना ही अनैतिक कार्य है।

हाँ, समाज में जिस सीमा तक असमानता अनिवार्य रूप में रहे, उस सीमा तक यह सावधानी बरती जाय कि इस असमानता का दुरुपयोग न हो सके। इस दृष्टि से समाज में अनिवार्य रूप में रहने वाली असमानता को विकेन्द्रित और शक्तिहीन करना होगा तथा सबको सामाजिक समानता और आर्थिक-न्याय के स्तर पर लाने के लिए प्रयत्न करना होगा। स्वतन्त्रता, जनतंत्र और समानता के अनुरूप कार्य-पद्धति ऐसी होनी चाहिए, जिसका आधार

पशु-शक्ति न होकर आत्मिक-शक्ति और अहिंसात्मक क्रान्ति हो; जिसके द्वारा हमें 'सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः' के महान आदर्श को व्यावहारिक रूप देना होगा। अब जन्म पर आश्रित जात-पाँत के पक्षपाती बने रहने का युग लद गया। अतः समाजिक एवं राजनीतिक क्षेत्र में प्रभुत्व रखकर मानव-अधिकार का गला घोंटते रहना एवं अन्याय तथा क्रूरतापूर्ण व्यवस्था को सामाजिक समानता और आर्थिक-न्याय के रूपमें परिवर्तित न करना और इसमें धार्मिक तथा सांस्कृतिक बाधा बतलाना, जघन्य कृत्य और घोर अपराध है। अतः इस बात को अपने लक्ष्य में रखकर कि 'मानव-भावना अपना अधिकार चाहती है, हमें अपने अस्तित्व की रक्षा करने के साथ ही अपने समान ही दूसरों के अस्तित्व की रक्षा करने के लिए तप, त्याग और यदि अपना बलिदान भी करना पड़े, तो इसके लिए तैयार रहना चाहिए। इसी को 'स्वयं जीओ और दूसरों को भी जीने दो' का सिद्धान्त कहते हैं।

सत्य, अहिंसा और प्रेम

जैसा कि महामात्य चाणक्य ने कहा है "स्वराज्यस्य मूलं चरित्रम्" अर्थात् नैतिक चरित्र ही देश के स्वराज्य की रक्षा करता है। इसलिए भारतवर्ष अपनी राष्ट्रीयता का पतन नहीं चाहता। शताब्दियों के उपरान्त जो महामानव भारत में अवतीर्ण हुआ था, उसने उसे सिखाया है कि नैतिकता के सिद्धान्त से विचार और कार्य कभी पृथक न होने चाहिए। मानव के लिए सच्चा मार्ग सत्य, अहिंसा, प्रेम एवं कर्तव्यनिष्ठा का है। वैसे तो अन्य सभी महात्माओं ने अहिंसा और सत्य को मानव-जीवन में बड़ा ऊच्च स्थान दिया है, किन्तु जिस सूक्ष्म रीति से श्रमण भगवान् महावीर ने इनका विवेचन किया, वह शायद ही किसी दूसरी जगह मिल सके। आजकल तो इनका प्रयोग सामूहिक रूप से राजनीति के क्षेत्र में होने लगा है, वह भी न केवल भारत में अपितु भारत के बाहर भी। अहिंसा और सत्य को मोक्ष प्राप्ति का साधन जानकर महावीर जनता में इसका प्रचार करते थे। इसी शान्ति (अहिंसा, सत्य और प्रेम) के पथ पर चलने का मार्ग बापू ने बताया। इस पथ पर चलकर ही हमने केवल स्वतन्त्रता ही नहीं प्राप्त की, बल्कि उनसे भी मित्रता कायम की, जिनसे कल तक हमें संघर्ष करना पड़ा था।

हमें समाज में रहना है, हमें दूसरों से वास्ता पड़ता है और दूसरों का

[शेष पृष्ठ ५६ पर]

आह्वान !

आओ फिर एक बार !

प्रेम-शान्ति वरदान लिये
अवनीतल पर;
हिंसा खोल रही द्रुत द्वार
खुल चुके कहीं—हो रहे
मौन-करुणा-तम से
हो व्यथित-अधर
सुप्त-निशा पीड़न में
आयी पुकार,

आओ फिर एक बार !

ढह चुके, संतप्त निशदिन
हिंस्रता में पल रहे
पुण्य के अवशेष चिह्न,
अरुणता की कलुषता में
कालिमा नव नीलिमा
बन; छा रही,
साँस की धड़कन—
हो कम्पित ओष्ठ से भी
कुछ न कहते पा रही,
है यही उन्मुक्त क्रन्दन
दूर मिथ्या-तम निशाकर

आओ फिर एक बार !

—श्री देवेन्द्रकुमार जैन शास्त्री

भगवान महावीर की अमर देन

अहिंसा

—श्री मदन लाल जैन (रावलपिंडी वाले)

इतिहास बताता है कि वर्धमान महावीर राग-द्वेष, क्रोध-मान-माया लोभ आदि १८ दोषों तथा मन और इन्द्रियों को संपूर्ण रूप से जीत कर अविनाशी सुख शान्ति प्राप्त करने वाले जिनेन्द्र भगवान हुए। जिन्होंने वर्षों तक कठोर तप-त्याग अहिंसा व्रत संयम की साधना करके सत्य की खोज की। स्वयं राज्याधिकारी और उस समय के राजाओं महाराजाओं पर अत्यधिक प्रभाव रखते हुए भी उन्होंने युद्ध का दबाव या राज्यदण्ड का भय दे कर अपने सिद्धान्तों को जनता पर थोपने का यत्न नहीं किया था। बल्कि जब उन्होंने देखा कि लोग देवी देवताओं और धर्म के नाम पर जीवहिंसा करने में स्वर्ग की प्राप्ति तथा सुख मानते हैं, तो उन्होंने जनता से ललकार कर कहा कि तुम अहिंसा और शान्ति के सिद्धान्तों को इसलिए मत मानो कि मेरी जाँच में ठीक उतरे हैं। बल्कि उन्हें स्वयं सचाई की कसौटी पर परखो और यदि तुम्हारी जाँच में ठीक उतरें तो अपनाओ वरना नहीं। ऐसी परीक्षा का अवसर देने का परिणाम यह हुआ कि शास्त्रों के नाम पर अन्धविश्वास का खड़ा किया हुआ किला धीरे २ टूटने लगा। जब लोगों के दिलों में भगवान महावीर की शुभ बातें ठीक लगीं तो उन्हें विश्वास हो गया कि भगवान महावीर के सिद्धान्तों के सिवाय सुख-शान्ति प्राप्त करने का और कोई उपाय नहीं है। इसीलिए आचार्य काका कालेलकर जी ने डंके की चोट से कहा कि—"मैं दृढ़ता के साथ कह सकता हूँ कि भगवान महावीर के अहिंसा सिद्धान्त से ही विश्व कल्याण तथा शान्ति की स्थापना हो सकती है।"

श्री अनन्त शयनम् आयंगर ने भी स्वीकार किया है कि "When the two major power blocks of the world are engaged in experiencing Atom Bombs and Hydrogen Bombs, the teachings of Ahinsa preached by Mahavira is of great significance to establish peace in the world". अर्थात जब कि संसार की दो बड़ी शक्तियाँ ऐटम तथा हाइड्रोजन बमों से संसार को नष्ट

करने पर तुली खड़ी हों, तो भगवान महावीर की अहिंसा ही संसार में शान्ति स्थिर कर सकती है"। यही कारण है कि आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पहले अहिंसा के जिस महान संदेश को भगवान महावीर ने विश्व के सामने रखा था, आज विश्व फिर भगवान महावीर के उसी महान सिद्धान्त को अपनाने की चेष्टा कर रहा है। आज सत्य के पुजारी विश्वशान्ति प्राप्त करने के लिए उस परम पिता महावीर के महान क्रान्तिकारी संदेश अहिंसा को अपने जीवन में लाने की चेष्टा करते नजर आ रहे हैं। अवश्य ही इससे विश्वशान्ति की संभावना बढ़ गई है। आज उसी अहिंसा के अवतार महावीर के चरणों में हमारा शत-शत वन्दन है।

[पृष्ठ ५३ से आगे]

हम से, इसलिए हमें परस्पर प्रेम रखने की बड़ी आवश्यकता है। सच तो यह है कि साधु-चरित्र के नियम उसी सीमा तक पाले जा सकते हैं, जिस सीमा तक वह दूसरों से प्रेम करता है। इस चरित्र का आधार प्रेग और सन्तोष पर है। जिस जीव के साथ हमारा प्रेम होता है, हम उसको कभी दुःख नहीं देते, उसके विरुद्ध कभी झूठ नहीं बोलते, बिना आज्ञा उसकी कोई चीज नहीं लेते, उसे बुरी दृष्टि से नहीं देखते। सन्तोष के कारण पदार्थों का बहुत संग्रह भी नहीं करते। दूसरों के काम में आने वाली वस्तु को अपनी जरूरत के बिना अपने पास रख छोड़ना पाप है। अहिंसा, सत्य, न्याय, सन्तोष, त्याग आदि गुणों का मूल-स्रोत 'प्रेम' है। परस्पर प्रेम करने वाले व्यक्ति अपने हिस्से से अधिक चीज नहीं लेते। यदि सब व्यक्तियों में ऐसी धारणा हो जाय तो दुनिया में अन्याय, कलह और कष्ट का नाम तक न रहे। फिर तो निश्चय ही सुख, शान्ति, सेवा, प्रेम और सहानुभूति की छाया चारों ओर फैलने में देर न लगे।

अन्त में इस बात का उल्लेख कर देना आवश्यक होगा कि भगवान् महावीर का अवतार किसी का विरोध करने के लिए नहीं, परन्तु धर्म के तत्त्व एवं विचार को दृश्य स्वरूप में लाने के लिए तथा समता, एकता और गूढ तत्त्व-ज्ञान का प्रकाश करने के लिए हुआ था। वर्ण या जाति-भेद का विचार न कर 'सर्वोदय' यानी समूचे मानव-जाति एवं प्राणिमात्र का कल्याण करना ही उनका असली उद्देश्य था।

महावीर के ये उत्तराधिकारी !

–मुनि सुरेश चन्द्र शास्त्री, साहित्यरत्न

महावीर की जयन्ती मनाने का अभिप्राय केवल उनका नाम ले लेना, उनके जय-जयनाद से पृथ्वी-आकाश एक कर देना, उनकी सैद्धान्तिक विचार धारा पर लच्छेदार भाषा में लम्बे-चौड़े भाषण दे देना, अथवा अर्थपूर्ण शब्दों में समाचारपत्रों के कुछ पन्ने काले कर देना नहीं है। किसी भी महापुरुष की जयन्ती मनाने का अर्थ है उससे विरासत में मिले विचार-दर्शन तथा आचार दर्शन को जीवन में ढालना और उससे प्राप्त सैद्धान्तिक पूंजी से युग-युग की दरिद्रता को मिटाना।

संक्षेप में, महावीर की अनमोल शिक्षाएँ यही तो थीं कि—मानव-मानव में सौहार्द-मूलक अभेद हो, प्राणीमात्र को जीवन का समान अधिकार मिले, हम जिएँ और जीने दें, हम स्वतंत्रता से सोचें और दूसरों को भी सोचने दें, एक-दूसरे के दृष्टिकोण को हृदयंगम करते हुए समन्वित धरातल पर सत्य का द्वार सदा खुला रखें, मानव-मानव के साथ मानवता का दृष्टिकोण अपनाए।

परन्तु, मानव-जाति का यह दुर्भाग्य ही समझिए कि उसने आज तक किसी भी महापुरुष की महत्ता का सही मूल्यांकन करने में सदा अपनी बौद्धिक दुर्बलता एवं अदूरदर्शिता का ही परिचय दिया है। मानव-जाति के इतिहास का पन्ना-पन्ना इस उजले तथ्य की खुली साक्षी दे रहा है। मानव एक ऐसा भुलक्कड़ प्राणी है कि वह उन महापुरुषों की विचार-ज्योति को, उनके आचार की जलती हुई दीप-शिखा को तो पीठ दे देता है और केवल उनका नाम पकड़ कर कोरी वाणी से उनका जय-जयकार करके वृथा सन्तोष की साँस लेता रहता है और उनके आदेश-सन्देश के प्राणतत्त्व की निर्मम हत्या करके उसके बाह्य शरीर से चिपट जाता है।

मानवता की साकार मूर्ति महावीर के साथ भी उनके अनधिकारी उत्तराधिकारियों ने ऐसा अन्याय करने में कोई कोर-करार नहीं रखी है। महावीर वाणी की यहाँ जितनी दुहाई दी जाती है उसमें आत्मा की वफादारी और बुद्धि की सच्चाई का शतांश भी उपलब्ध नहीं हो सकता। तथ्य की भाषा तो यह है कि आज हम उनके नाम का झंडा हाथ में लेकर चलने वाले वास्तविकता को पीठ पीछे डालकर नकली सिक्कों पर रीझ रहे हैं। जीवन की यह कैसी विडम्बना है!

महावीर के सन्देश की आधार शिला थी अहिंसा ; प्राणीमात्र के साथ आत्मोपम व्यवहार करना ही जिसकी जीवित व्याख्या है। अहिंसा की इस उदार व्याख्या के पीछे विश्वबन्धुतत्व का महास्वर गूँज रहा था जो मानव जीवन के लिए यही दिशा-सूचन करता था कि अपने प्रति कठोर और दूसरों के प्रति उदार बनो। अपने प्रति कठोर रहना तप है और दूसरों के प्रति उदार रहना अहिंसा है। इस अहिंसा और तप की दिव्य दृष्टि में से ही स्वतंत्रता, बन्धुता, समता एवं सौहार्द के प्रकाश की किरणें फूटती नजर आएँगी।

परन्तु, महावीर के पुश्तैनी भक्तों में यदि आज जीवित अहिंसा के दर्शन करना चाहें, तो निराशा की एक लम्बी साँस ही लेकर रह जाना पड़ेगा। सचमुच वहाँ महावीर की अहिंसा नहीं अपितु कुछ बैठे-ठाले कायरों की अहिंसा का अजीब दृश्य दृष्टिगत होगा। 'अहिंसा परमो धर्मः' का नारा आज भी वे लगाते हैं, खूब लगाते हैं, जोरों से लगाते हैं; पर वहाँ अहिंसा के नाम पर अहिंसा का विकार ही अपना पंजा जमाये बैठा है। सम्प्रदायवाद के व्यामोह और फ़िरकापरस्ती की दलदल में फंसकर अपने ही पड़ौसी, नहीं नहीं, सहोदर भाई पर भी बुरी तरह कीचड़ उछालने, उसे बुरा-भला कहने, चप्पा चप्पा भूमि के लिए मुक़दमे बाजी करने और अपने ही भाई-बन्धु के पतन के दुर्भाव की दुर्गन्ध निरन्तर मन में संजोकर रखने पर भी उनकी अहिंसा सवा सोलह आने खरी बनी रहती है ऐसी उनकी मति-गति बन गई है। वे आज भूल बैठे हैं कि राग-द्वेष बढ़ाना, परस्पर में घृणा—नफ़रत रखना, दूसरों की दुर्बलताओं का रहस्य-भेदन कर प्रसन्नता से नाच उठना भी हिंसा है, घोर हिंसा है। दूसरों के फूलों को भी गन्दगी समझ कर और अपनी सम्प्रदाय की गंदगी पर भी फूल चढ़ाकर आज तक हमने अहिंसा की कितनी उपासना की है—यह महावीर के दावेदार प्रत्येक साम्प्रदायिक तत्त्व के सोचने-समझने की बात है।

तत्कालीन विद्वत्समाज तथा धर्म नेताओं के विचार-संघर्ष और सत्य के प्रति असहिष्णुता के दुर्भाव को नामशेष करने के लिए महावीर ने एक विचार-शैली का आविष्कार किया, उसी का नाम 'अनेकान्त' अथवा 'स्याद्वाद' है।

संक्षेप में स्याद्वाद का निचोड़ यही तो है कि "समूचे संसार को अपनी ही आँख से मत देखो परखो। दूसरे को हमेशा उसकी आँख—दृष्टि से देखिए, उसके दृष्टिकोण को परखिए। सत्य वही और उतना ही नहीं है कि जो जितना आप देख पाए हैं। जीवन में कानेपन को दूर कीजिए; क्योंकि काना

व्यक्ति एक ओर के ही सत्य को देख सकता है, सत्य का दूसरा पहलू उसकी आँख से गायब हो जाता है। स्याद्वाद की दिव्य दृष्टि से ही दूसरे के कथन के तथ्यांशों को देखा जा सकता है। एकान्त का पक्षान्ध भला सत्य का दर्शन कैसे कर सकेगा !"

'स्याद्वाद' के साथ भी महावीर के अनुयायियों ने खूब आँख मिचौनी की है। 'स्याद्वाद' की बात आज भी ये करते हैं, उछल-उछल कर करते हैं। 'स्याद्वाद' की छीछालेदर आज भी यहाँ होती है, खूब होती है। विश्व की समस्त विचारधाराओं में समन्वय साधने की आवाज आज भी ये लगाते हैं। पर, हाय रे ! परले सिरे की इनकी विचार-संकीर्णता ! ये आज एकान्तवाद के कट्टर पुजारी बन बैठे हैं। ज़बान पर इनकी है अनेकान्त और जीवन में बैठा है कोरा एकान्त। सत्य के प्रति आग्रहवृत्ति के स्थान पर आज 'स्व' की सत्यता का आग्रह इनकी छाती पर दैत्य बनकर बैठ गया है। 'मेरा सो सच्चा' के क्षयरोग से इनका जीवन दिन-दिन घुला जा रहा है। अपने-अपने पोथी-पन्नों पर सत्यता की मुहर लगाकर ये सत्य को दबोचे बैठे हैं

महावीर के ये अनधिकारी उत्तराधिकारी !

यदि ऐसा न होता, तो क्या यह संभव था कि ये इने-गिने मुट्ठी भर महावीर के अनुयायी अलग-अलग संप्रदायों और बाड़ा बंदियों की शक्ल में टुकड़े-टुकड़े होकर बिखरे होते ? छोटी-मोटी तथ्य-विहीन मान्यताओं एवं परम्पराओं को लेकर क्या ये अखाड़े में उतरते, लड़ते-झगड़ते, संघर्ष करते ? विचारों की दूरी तथा विषमता को साफ़ करने के लिए आपस में मिल-जुलकर उदार-दृष्टि से विचार विमर्श न करते ? अपनी-अपनी संप्रदायों की पूजा-प्रतिष्ठा के पचड़े में न पड़कर क्या आज इनका सामाजिक वातावरण ऐसी दयनीय दशामें होता ? जो महावीर का 'स्याद्वाद' विश्व की उलझी हुई विचारकड़ियों को सुलझा कर विश्व-एकता का आदर्श लेकर आया था, उस उदार सम्पत्ति को पाकर भी हम जो आज अपनी-अपनी बाड़ा बन्दियों में कैद हो गए हैं—इससे बढ़कर और क्या विचार-दरिद्रता हो सकती है ?

मानव-मानव के बीच की विषमता और ऊँच-नीच की दुर्भावना की दीवारों को तोड़ने के लिए महावीर ने अवर्गवाद एवं अजातिवाद का समता-मूलक महापाठ पढ़ाया था। उस युग-पुरुष की महावाणी आज भी उस युग-संदेश की ओर अंगुली निर्देश कर रही है कि—"मानवजाति एक है, अखण्ड है।

उसमें ऊँच-नीच की कोई विभेदक रेखा नहीं खींची जा सकती। जन्म से न कोई ऊँचा है और न नीचा। जन्मतः न कोई पवित्र है और न अपवित्र। धर्म-कर्म करने में, आत्म-विकास की ओर बढ़ने में मानवमात्र का समान अधिकार है। धर्म किसी एक वर्ग की बपौती नहीं है। मानव की उच्चता उसके कर्म पर—सदाचार पर आधृत है। जीवन में जन्म-पत्री की नहीं, कर्म-पत्री की पूछ है।"

इस प्रकार जात-पाँत के भेद-भाव और छूआ-छूत की अन्याय-मूलक विषमताओं के विरुद्ध महावीर ने खुला विद्रोह किया था और हरिकेशी, अर्जुनमाली तथा सद्दालपुत्त जैसे साधकों को भी अपने शासन में बराबरी का स्थान देकर जन-जीवन के समक्ष एक मूर्त आदर्श पेश किया था। महावीर की देशना-सभा को समवशरण इसीलिए तो कहा जाता था कि वहाँ मानवमात्र को समान रूप से शरण मिलती थी। उनकी देशना-सभा में मानवीय समता साकार हो उठती थी।

किन्तु, आज महावीर का जय जय नाद करने वाले साधु-वर्ग और श्रावक-वर्ग दोनों में ही जात-पाँत और छूआ-छूत के घिनौने दृश्य देखकर दाँतों तले अंगुली दबाकर रह जाना पड़ता है। साधु-वर्ग जिसने जैनेन्द्री दीक्षा धारण करते समय 'अप्पाणं वोसिरामि' की हुंकार के साथ ही पूर्व जीवन की गली-सड़ी चादर को उतार कर फेंक दिया था, वही आज जात-पाँत की गन्दगी की टोकरी अपने सिरपर उठाये फिर रहा है। जात-पाँत की संकीर्ण मान्यताएँ, छूआ-छूत की भेद-भरी आसुरी कल्पनाएँ श्रावक-वर्ग के तो रक्ताणुओं में बुरी तरह घुलमिल गई हैं। उनकी छाती पर हरिजन-महाजन-गिरिजन के अतिरिक्त दस्से-बिस्से और ढैय्ये का एक महाभूत नया ही सवार हो बैठा है। तत्त्व की भाषा तो यह है कि जिन ऊँच-नीच की दानवी दीवारों को भूमिसात् करने के लिए महावीर ने एक दिन अपना सर्वस्व दाव पर लगा दिया था, जी-जान लड़ा दी थी; आज उसी के जय-जयकार से जमीन-आसमान एक करने वाले उसी गली-सड़ी लाश को छाती से चिपकाये फिर रहे हैं। और यदि विद्रोह की भाषा में कह दूँ, तो जातीयता को प्रश्रय देने वाले ये भक्त ही वीर-शासन के प्रतिद्वन्द्वी हैं, विरोधी हैं, शत्रु हैं।

क्या महावीर-जयन्ती की पुण्य वेला पर महावीर के भक्त स्वयं अपना मूल्यांकन करने का साहस करेंगे?



अहिंसा धर्म

अहिंसा धर्म है, और धर्म का जीवन अहिंसा है,
दुखी संसार को निर्वाण का साधन अहिंसा है।
नज़र आती है मुक्ति जिसमें वह दर्पण अहिंसा है,
खुलें आँखें जो दिल की वह आत्म-दर्शन अहिंसा है॥

इसी का तेज पापों का अंधेरा नाश करता है,
यह वह दीपक है, जो मन मंदिर में प्रकाश करता है।
यह वह साधना है जो प्रेम का रस्ता बताती है;
यह वह देवी है जो भगतों को भगवत से मिलाती है॥

यह वह ज्वाला है जो झूठे विकारों को जलाती है,
तपस्या से तपा कर मन को यह कुन्दन बताती है।
यह वह शक्ति है जो भवसिन्धु पर पुल पाट देती है,
यह वह तलवार है जो यम की फांसी काट देती है॥

कहीं है न्याय की शक्ति, कहीं रक्षा दया है यह,
कहीं परमार्थ की देवी, कहीं श्रद्धा क्षमा है यह।
बचाए जो क्लेशों से वह नेकी की छटा है यह,
रसायन प्रेम की है यह, दर्दे दिल की दवा है यह॥

अहिंसा का पुजारी वीरता बल का पुजारी है,
वह योद्धा है, जो रण में लाख योद्धाओं से भारी है।
न डरता है किसी से वह, न औरों को डराता है,
सकल संसार को वह पाठ प्रेम का पढ़ाता है॥

वह जिसके पास जाता है, उसे अपना बनाता है,
मधुर वाणी से अपनी प्रेम की वीणा बजाता है।
इसे मंगल नज़र आता है, दुनिया के अमंगल में,
झुका देते हैं, उसके पाओं पर सिर शेर जंगल में॥

करो महावीर की पूजा कि खुद भी वीर बन जाओ,
अहिंसा का मुकुट भारत के सिर पर आज पहनाओ।
यही तप है, यही जप है, यही है धर्म वीरों का,
सिंगार इस कर्म भूमि में यही है कर्म वीरों का॥

[यह रचना किसी अज्ञात कवि की है। पं० मुनि श्री फूलचन्द्र जी 'श्रमण' ने श्रमण के लिए भेजी है। अतः धन्यवाद।]

भगवान महावीर की जीवन साधना

–प्रो० देवेन्द्रकुमार जैन एम० ए०

महावीर का महत्व

हमारे इस देश में शान्ति और अहिंसा के जो साधक हुए उनमें भगवान महावीर का नाम कई दृष्टियों से महत्व रखता है। एक तो इसलिए कि इतिहास में उनके बारे में ऐतिहासिक जानकारी मिल जाती है, दूसरे उनके बाद दूसरा ऐसा शुद्ध अध्यात्म-साधक नहीं हुआ और तीसरे आज के अशांत विश्व में उनके विचारों की बहुत आवश्यकता है।

आचार या विचार

परन्तु महावीर के विचारों का मूल्यांकन करने के लिए हमें उनका व्यक्तित्व देखना चाहिए। क्योंकि उन्होंने जो कुछ कहा है या उनके नाम पर जो कुछ कहा जाता है वह समूचा सच नहीं हैं। वे साधक अधिक थे, विचारक कम। इसका अर्थ यह नहीं है कि उनमें विचारने की क्षमता नहीं थी, क्षमता थी। पर उसके प्रदर्शन में उन्होंने अपना जीवन न खपाकर, साधना में ही जीवन लगाया और उनके व्यक्तित्व का कुल निचोड़ है सरल सादा आचार और उदार विचार। भगवान महावीर की दृष्टि में ऐसे विचार का कोई मूल्य नहीं था, जिसका जीवन में कोई उपयोग न हो। विचारों से बने आचार की अपेक्षा आचार से निकले विचारों का ही उनकी दृष्टि में महत्व था।

व्यक्तित्व की कसौटी

यह बात केवल आध्यात्मिक जीवन से ही संबंध नहीं रखती, किन्तु जीवन के हर क्षेत्र में देखी जा सकती है। वर्तमान अर्थनीति की संकीर्णता और राजनीति की कटुता का सबसे बड़ा कारण यही है कि हम एक खास विचार का आग्रह रखकर समूचे समाज के आचार को चलाना चाहते हैं। महावीर जीवन के विकास के लिए आचार को विचार की सीमा से एकदम बाँधने के पक्ष में कभी नहीं थे। क्योंकि विचारों की अंधी या मजबूरन दासता मनुष्य के आचार को सूखा और क्रूर बना देती है। उसमें अनुभूति की सरसता लाने के लिए, विचारों से थोड़ी मुक्ति अवश्य मिलनी चाहिए।

महावीरः युग की सीमा

महावीर के व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हुए उनके युग की सीमा हम भलीभांति जानते हैं। उनके युग से आज का युग कई बातों में बहुत भिन्न है, उस समय आज जैसी राजनैतिक और आर्थिक विचार धाराए नहीं थीं। उस युग की जनता शायद राजनैतिक अधिकार और आर्थिक प्राप्ति की होड़ में न पड़कर आध्यात्मिक जिज्ञासा से बावली हो रही थी। चीजों के उत्पादन में श्रम और मनुष्य के हाथ में सीधा संबंध था। मशीन और खासकर मिल तब तक उत्पादन का माध्यम नहीं बनी थी फिर समाज में एक प्रकार की विषमता थी, जो आर्थिक साधनों के उस अवनत युग में भी समाज में प्रतियोगिता और आर्थिक अंतर बढ़ा रही थी। उस युग के सभी विचारक इस विषमता को बाहर नहीं, किन्तु मनुष्य के मन में खोज रहे थे। उनका विश्वास था कि मनुष्य के मन में अवश्य कोई ऐसी गांठ है जिसके खुलने से सब रहस्य खुल जाते हैं और जिसके बंद रहने से सब कुछ बंद रह जाता है।

महावीर का प्रयत्न

इस रहस्य को जानने के लिए उत्साही व्यक्ति संसार से नाता तोड़कर वनकी राह पकड़ते थे। महावीर ने भी ऐसा ही किया। उन्होंने मन की गांठ को जाना ही नहीं, क्योंकि कोरे जानने का उनकी दृष्टि में कोई महत्व नहीं था। उसे उन्होंने तोड़ा भी और तोड़कर जो पाया उसका ज्ञान सब को कराया। यह बात नहीं कि महावीर को पता नहीं था कि समाज में विषमता और डाह आर्थिक साधनों (परिग्रह) से आती है, प्रत्युत वह समझते थे (और समझाना भी चाहते थे) कि मन की विषमता और आसक्ति कम हो जाने पर आर्थिक साधनों के प्रति आसक्ति अपने आप कम हो जाती है। इससे आर्थिक प्रतियोगिता में होड़ तो कम होगी ही; साथ ही समाज की दृष्टि बदलने से वह सुख-शांति की खोज, आर्थिक संपन्नता में ही न मान कर, दूसरी बातों में मानने लग जायगा। मन की विषमता का ही दूसरा नाम राग द्वेष है। उनका कहना था कि केवल आध्यात्मिक क्षेत्र में ही नहीं किन्तु जीवन के हरएक क्षेत्र में राग द्वेष को नियंत्रित करना चाहिए। बहुत कुछ यह व्यक्ति की अपनी साधना पर ही अवलंबित है।

क्रान्ति की स्थायी सफलता

आजकल हमारा दावा सामाजिक या समाजवादी या राष्ट्रवादी होने का

है। इसलिए हम अपने राग-द्वेष को सामाजिक या राष्ट्रीय बनाने में लगे हैं और इससे जो भी प्रतिक्रिया या आंदोलन उत्पन्न हो रहे हैं उनमें राग-द्वेष घटाने की जगह जितना उभाड़ा जाता है, हम अपने को उतना ही सफल समझते हैं। वर्तमान अशांति और संघर्ष की उग्रता का मूल और मुख्य कारण यही है। हो सकता है इससे हमें सफलता मिलती दिखती हो, पर है वह क्षणिक। दूसरे उससे जो आतंक बढ़ता है वह उसे अधिक दिन नहीं टिकने दे सकता है।

व्यक्तिवाद

महावीर व्यक्तिवादी थे, परन्तु उनका व्यक्तिवाद ऐसी किसी भी समाज व्यवस्था या आर्थिक प्रणाली का विरोधी नहीं था जो समाज में समता लाना चाहती है। वह तो इस प्रकार की समाज क्रांति के लिए आवश्यक नैतिक पृष्ठभूमि है। जो बात हम क्रान्ति, कानून और आतंक से लाना चाहते थे उसे वह स्वेच्छा से लाना चाहते थे। भारतीय अध्यात्मवाद का भी यही धरातल है। इसलिए यदि संचय बुरा है तो सामाजिक प्रतिबंधों से उसे रोकने में व्यक्तिवादियों को भी बुरा नहीं मानना चाहिए और समाजवादियों को भी ऐसी विचार धारा से चिढ़ने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए जो सचमुच संचय का नैतिक दृष्टि से विरोध करती है। ये दोनों बातें एक दूसरे की विरोधी नहीं पूरक हैं।

जीवन साधना का लक्ष्य

उनके व्यक्तिवादी दृष्टिकोण का लक्ष्य दूसरा ही था। उसी लक्ष्य से ही हम उसका ठीक मूल्य आँक सकते है। वह युग ईश्वर की सर्वशक्ति संपन्नता की प्रतिष्ठा का युग था। सृष्टि के हर काम और बात में ईश्वर की सत्ता मानी जाती थी। कभी २ उसे प्रसन्न करने के लिए हिंसा और बलि करना भी धर्म के अंग माने जाते थे। महावीर ने इसका विरोध किया। महात्मा बुद्ध इसीलिए अनीश्वरवादी बने। महावीर ने मनुष्य को ईश्वर की ऊंचाई तक पहुंचाने की साधना की। उस युग के भारतीय अध्यात्म में ईश्वरवाद का समाजीकरण ही शायद उनकी साधना का बहुत बड़ा लक्ष्य था। यद्यपि ईश्वरवाद का सिक्का मिटा तो नहीं पर उसकी धारणा अवश्य बदली। इतने बड़े विश्वास को हिला देना आसान काम नहीं था। इसलिए महावीर की साधना भी आसान नहीं थी।

भगवान महावीर के समय का
एक बोधक प्रसंग

—श्री अगरचन्द नाहटा

भगवान महावीर के समय के कई प्रसंग बहुत ही बोधक हैं। उन प्रसंगों द्वारा हमें बहुत ही शिक्षाएँ प्राप्त होती हैं। मनुष्य का मन अत्यन्त चंचल है। क्षण-क्षण में वह शुभ और अशुभ विचारों द्वारा शुभाशुभ कर्म बन्धन करता है। 'मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः' की उक्ति भगवान महावीर के समय के राजा प्रसन्नचंद्र के लिए सोलह आने चरितार्थ होती है। क्षणभर के पहले जो अपने अशुभविचारों द्वारा सातमें नरक के योग्य कर्म-परमाणुओं का संग्रह कर लेता है और थोड़े समय बाद ही इतने प्रबल अशुभ बंधन को नष्ट कर मोक्ष प्राप्त कर लेता है—इसका दृष्टान्त राजर्षि प्रसन्नचंद्र का जीवन चरित्र है।

भगवान महावीर ने ही उनके जीवन प्रसंग को श्रेणिक महाराजा के पूछने पर प्रकट किया था जिसे 'वसुदेव हिंडी' नामक पाँचवीं शताब्दी के प्राचीनतम कथा ग्रंथ से अनूदित कर यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है। प्रसंग बहुत ही मार्मिक है जिससे अशुभ विचारों की ओर जाते हुए मन को रोक कर शुभ विचारों की ओर लगाकर सिद्धिप्राप्त करने की अपूर्व शिक्षा मिलती है।

केवल अशुभ विचारों से ही कितना जबरदस्त बंधन हो जाता है, वचन और काय की प्रवृत्ति चाहे तदनुरूप न भी हो—इसके लिए यह अत्यन्त बोधक दृष्टान्त है। तन्दुलमच्छ का एक दूसरा दृष्टान्त भी प्रसिद्ध है। वह चावल जितना छोटा सा प्राणी केवल मानसिक हिंसा द्वारा नरकगामी होता है। शुभ विचारों का झोंका भी बहुत जबरदस्त कार्य साधक होता है जिससे कि सारे अशुभ बंधन क्षण में ही नष्ट हो कर परमपद प्राप्त हो जाता है। मनुष्य को बहुत सावधान रहने की आवश्यकता है। न मालूम कब उसके आयुष्य का अंत आ जाय; यदि उस समय उसके अशुभ भाव रहें तो दुर्गति निश्चित है।

अब राजर्षि प्रसन्नचन्द्र का वह प्रसंग दिया जा रहा है। जंबूस्वामी के चरित्र के अंतर-प्रसंग के रूप में यह 'वसुदेव हिंडी' में आता है। प्रसन्नचन्द्र

ने अपने नाबालिग पुत्र को राज्य भार सौंप कर दीक्षा क्यों ली। इसका सारा प्रसंग श्रेणिक के पूछने पर भगवान महावीर ने बताया है। विस्तार भय से उसे यहां नहीं दिया गया।

राजर्षि प्रसन्नचन्द्र

उस समय अरहंत भगवान् महावीर गुणशिला चैत्य में समवसरे थे। तीर्थंकर के दर्शनों का उत्सुक श्रेणिक राजा उनको वन्दनार्थ गया। उसके अग्रणी (सेना आदि के नायक) में से अपने कुटुम्ब संबन्धी बातें करते हुए दो व्यक्ति जा रहे थे कि उन्होंने दोनों हाथ ऊपर किये हुए और एक पैर पर खड़े तप करते हुए एक साधु को देखा। उनमें से एक ने कहा—" अहो, यह महात्मा-ऋषि सूर्य के सम्मुख खड़ा रह कर तप कर रहा है, निश्चित ही इसे स्वर्ग या मोक्ष हस्तगत सा है। दूसरे ने ऋषि को पहचान लिया और बोला कि अरे! क्या तुझे मालूम नहीं है? यह तो राजा प्रसन्नचन्द्र है। इसे धर्म कैसे होगा? इसने नाबालिक पुत्र को शासन-सूत्र सौंपा, उसे मंत्री लोग अब पद-भ्रष्ट कर रहे हैं। इस ढंग से तो इसने अपने वंश का विनाश किया है यह किसे पता कि उसके अंतःपुर की क्या स्थिति होगी? ध्यानभंग करने वाला यह वचन प्रसन्नचन्द्र के कानों में पहुँचा, वह सोचने लगा कि ये अमात्य कितने अनार्य हैं। मैंने सदैव जिनका सम्मान किया है वे ही मेरे पुत्र के विरुद्ध हो रहे हैं! अगर मैं वहाँ हाजिर होता और उनकी चेष्टाएँ इस प्रकार होती तो अवश्य ही मैंने उन्हें दंडित किया होता। इस प्रकार संकल्प-विकल्प में पड़े प्रसन्नचंद्र के सामने मानो वह प्रसंग मूर्त हो उठा और वह अमात्यों के साथ मानसिक युद्ध करने लगा।

इतने में श्रेणिक राजा उस स्थान पर पहुंचा। उसने ऋषि को नम्रतापूर्वक प्रणाम किया और उसे ध्यानमग्न देखा। वस्तुतः राजर्षि प्रसन्नचन्द्र के तप का सामर्थ्य आश्चर्यजनक है—यह सोचता हुआ वह तीर्थंकर के निकट पहुंचा। प्रणाम करके उसने भगवान से विनयपूर्वक पूछा—"भगवन्! प्रसन्नचंद्र अनगार को जिस समय मैंने प्रणाम किया था उस समय यदि वे मृत्यु को प्राप्त होते तो उन्हें कौन सी गति मिलती?" भगवान ने कहा कि "सातवें नरक में जाता।" साधु को नरक प्राप्ति क्यों होवे? यह प्रश्न कर राजा पुनः कहने लगा कि यदि प्रसन्नचंद्र की अब मृत्यु हो जाए तो वह किस गति में जाएगा?" भगवान ने कहा कि इस समय वह सर्वार्थसिद्धि में जाने लायक है"। राजा ने

पूछा कि एक बार नरक-गति और दूसरी बार देव-गति । यों आपने द्विविधापूर्ण उत्तर किस लिए दिया है ?" भगवान बोले कि—"ध्यान विशेष द्वारा उस समय उसने अशुभ और इस समय शुभ विचारों को स्वीकार किया था"। श्रेणिक ने पूछा—"किस प्रकार ?" भगवान्न बोले कि तेरे अग्रणी पुरुषों से अपने पुत्र के विपथगामी होने की बात सुनकर प्रशस्त ध्यान का त्याग करने से । तूने जब प्रणाम किया था तो उस समय वह अपने शत्रुरूप अमात्य के साथ मानसिक युद्ध कर रहा था और इसीलिए वह उस समय नरक में जाने योग्य था । तेरे वहां से प्रस्थान के बाद उसकी क्रिया-शक्ति जागृत हुई और "मैं अपने शिरस्त्राण से शत्रुओं का संहार कर दूंगा" यह विचार करते हुए जैसे ही उसने अपने मुंडित सिर पर हाथ रखा कि उसे प्रतिबोध हुआ कि अहो, मैं अपने धर्म का त्याग करके दूसरों के लिए यति-जनों के प्रतिकूल मार्ग पर उतर पड़ा—"इस प्रकार उसने अपनी खुद की निंदा व अपने आप से गर्हणा करते हुए मुझे वहीं से प्रणाम करके आलोचना ली व प्रतिक्रमण किया, अब वह प्रशस्त ध्यानी है । उसने अशुभ कर्मों को विनष्ट कर शुभ कर्मों का उपार्जन किया है । इस हेतु उसके लिए अलग-अलग समय में दो गतियों का निर्देश किया गया है ।

जिस समय भगवान् महावीर प्रसन्नचन्द्र के शुभाशुभ ध्यान से नरक और देवगति के बंध की बात कररहे थे—कहाँ सातवीं नरक और कहाँ सर्वार्थसिद्धि नामक सबसे उत्कृष्ट स्थिति । उसी समय कुछ देवता उस प्रदेश में उतरे तो श्रेणिक राजा ने पूछा कि प्रभो ! अभी इन देवों का आगमन कैसे ? भगवान महावीर ने उत्तर दिया कि प्रसन्नचंद्र अनगार की केवलज्ञान प्राप्ति से हर्षित होकर देवगण यहाँ आए हैं । थोड़े से समय के बीच ही परिणामों के अंतर से कितना जबरदस्त परिवर्तन हो गया है । नरक जाने वाला मोक्ष का अधिकारी हो गया ।

उपदेशमाला आदि प्राचीन ग्रंथों में भी प्रसन्नचंद्र की कथा दृष्टिान्त रूप में दी है । वसुदेव हिंडी में उनके भ्राता वल्कल-चीरी का प्रसंग भी साथ ही दिया है और वह भी बहुत ही बोधप्रद है । वल्कल-चीरी की कथा महाभारत के एक प्रसंग से भी मेल खाती है । फिर कभी उसको तुलनात्मक विवेचन के साथ प्रकाशित किया जायगा । महाकवि समयसुन्दर ने वल्कल-चीरी का रास भी बनाया है ।

खण्डकाव्य

दीक्षा

[रानी चेलना के द्वारा किये गए भिक्षुओं के निरादर से प्रेरित होकर महाराज श्रेणिक ने प्रतिशोध के प्रतिफल स्वरूप एक दिन वन में ध्यानस्थ मुनि के गले में मृतक सर्प डाल दिया। घर आने पर सब वृत्तान्त रानी से कहा, रानी दुःखित हुई और योगिराज के समीप गई, श्रेणिक भी । रानी ने साँप निकाला, परिचर्या की, ध्यानमुक्त होने पर योगिराज ने दोनों को साम्यभाव से आशीर्वाद दिया। श्रेणिक उनकी विशाल हृदयता देखकर आत्मग्लानि से गड़ सा गया और आत्म-हत्या की सोचने लगा। पुनः संबोधित किये जाने पर जैनधर्म में दीक्षित हो गया]

"बोले श्रेणिक—
रानी !
मुनियों का निरादर
हा ! दुःसाहस यह
आज किया तुमने।
सत्यनिष्ठ योगी वे
सोचते होंगे क्या !
कहते होंगे क्या !
अपने मन में—
राज्यकुल में भी
ऐसा हो निरादर
और फिर—मेरे रहते !
नहीं नहीं !
कभी नहीं होगा यह।
लूँगा अवश्य मैं
प्रतिशोध इसका—
मौका पाकर अवश्य ही करूँगा
प्रतीकार इसका।"

× × ×

राज्य का व्यसन है मृगया
श्रेणिक भी इसके
प्रधान अनुयायी थे
पूरे व्यसनी थे,
चल पड़े सजकर कानन को।
घूमते फिरते
सुबह से शाम तक
इधर उधर भटकते,
सिद्धि के अभाव में।
खीझ पड़े अपने पर
सोचते मन में
आज क्या कारण है !
नृप भी खाली हाथ
जाये क्या ?····
नहीं—
हाँ। यह अवश्य है कि—
आज तो प्रातः ही पथ में
देखा था, योगी वह
सीधा सा

··नग्न, वस्त्रों के अभाव में,
गृह के अभाव से—
शिला पर बैठा था।
अवश्य ही अमंगल वह पहला था,
प्रातः का देखा····
अपशकुन पहला था।
हो न हो! वही है कार्य का बाधक
देखूँगा, अभी अभी उसको।
आज यह मुश्किल से
आया अवसर है।
आज मैं अवश्य ही
लूँगा प्रतिशोध।
रानी के किये का
अपने हिये का
निकालूँगा मैल वह।

× × ×

बस क्या था दौड़ पड़े
हाँपते
खीझते
रीझते कानन को
योगी के निकटतम।
मार्ग में सर्प एक, मृतक सा
पा गये,
ले लिया हाथ में।
दृढ़ निश्चय था
डालूँगा उसी के गले में
उसी पापी के, जिसने कि
आज है व्यर्थ किया—
परिश्रम मेरा,
पर्यटन मेरा।
पहुँचे योगी तक

गले तक बढ़ाया हाथ को।
रुक गया हाथ,
झिझके श्रेणिक, बोले
ऐं! यह क्या!
मैं क्यों अप्रतिभ!
क्यों यह हाथ रुका!
अंतर् की ज्वाला ने साथ दिया
किया प्रेरित, प्रतिशोधाग्नि ने—
श्रेणिक को किया क्रोधित।
डाल दिया साँप को गले में,
और फिर चले पड़े घर को
प्रमुदित हो मन में
सोचते समझते कुछ कहते मन में
आज मैंने—
रानी के किये का
ले लिया बदला,
कर लिया प्रतीकार,
पा लिया प्रतिशोध।
पहुँचे निकट जब रानी के, बोले—
प्रेयसि!
प्रमुदित हूं आज मैं
बदला लेकर
प्रतिशोध लेकर
तुम्हारे कर्म का
अपने धर्म का।
और फिर कह दिया
वृत्त सब कानन का,
आज के दिन का।
रानी घबराई, बोली
ओह! अनर्थ,
योगी पर तुमने यह··
अह हा! पाप की गठरी

तुमने यह बाँधी क्यों ?,
यह अधम कृत्य औ'
किया तुमने क्यों ?
उपसर्ग योगी पर
क्यों किया तुमने ?
बोले श्रेणिक
प्रिये ? क्षुभित न हो
वे आते ही मेरे कब के
चल दिये होंगे
साँप को फेंक कर,
हाँथ पाँव पोंछकर
अन्यत्र ।
फिर क्यों क्षोभ यह !
फिर क्यों रोष यह !
रानी बोली—राजन् !
यदि वे साधु हैं—
सचमुच दिगम्बर
महाव्रत धारक,
तो वे वहीं पर
वैसे ही, शिला पर-
होंगे ध्यानारूढ़,
मग्न होंगे आत्म-चिंतन में ।
चलो तुम भी, देखो उनका
अप्रतिम-तेज, आत्म गौरव
अहिंसा औ' जितेन्द्रियता ।
चल पड़े दोनों, समीप में साधु के
देखकर योगी का उपसर्ग
रानी का हृदय भर गया
दया से, नृप के कुकर्म से,
भर गईं आँखें पानी से ।
साँप को निकाला, और फिर
कोमल कपड़े से
चीटियाँ उतारीं
किया उपचार ।
योगी की समाधि भंग हुई
उपसर्ग पूर हुआ, बोले—
दोनों से हृदय से
साम्य-भाव से—
धर्मवृद्धिरस्तु ।
श्रेणिक चौंक पड़ा, बोला—
यह क्या ? शत्रु और मित्र सब
एकसम, मैं और रानी
एक सम !
सचमुच योगी ! तुम
सच्चे योगी हो,
कर्मठ योगी हो,
जितेन्द्रिय, धर्मवीर
विशाल हृदय योगी हो ।
कहते कहते गदगद हो गया
श्रेणिक—
लज्जा से पृथ्वी में धँस गया,
ग्लानि से भर आया हृदय ।
लगा सोचने
क्या अब भी मैं
जीने का अधिकारी
रह गया ? भूतल पर
दिखाऊँगा किसको
मुँह यह अपना
पाप की कालिमा से लिप्त
प्रतिशोध की भस्म से पुता !
अब तो मैं अपने ही हाथ से
अपने ही द्वारा……।

कि इतने में ताड़ ली
योगी ने
श्रेणिक के मन की बात
बोले—
राजन !
यह भी अधर्म है,
सोच रहे तुम जिसे
वह भी तो एक बड़ा पातक है।
दुनियां में इससे भी
बड़ा कोई पाप नहीं,
अधर्म भी नहीं कोई
आत्महत्या—सदृश।
श्रेणिक झुक गए
गिर पड़े योगी के चरणों में
रो पड़े, बोले—

स्वामिन् !
सचमुच तुम योगी हो
कर्मठ योगी हो,
जितेन्द्रिय, धर्मवीर,
विशाल हृदय योगी हो।
मुझको भी उबारो इस—
संसार सागर से, जिससे
कर सकूँ कल्याण अपना
और यह कहते कहते
हो गया दीक्षित धर्म में
जिनेन्द्र के बताये,
उस पवित्र धर्म में
पावनतम धर्म में
पतितोद्धारक—
महान जैन धर्म में।

—श्री गोकुलचन्द्र जैन

गीत

समस्त अघ चले गये अदृश्य बन ,
समस्त दोष छिप गये अकन्ट्य बन ।
समस्त पाप जा बसे अरम्य वन ॥
महान् वीर का सुजन्म था महा !

लखा उन्हें वधक दयार्द्र हो गया ,
लखा उन्हें कि वध्य मुक्त हो गया ।
लखा उन्हें कि शाप शान्त सो गया ॥
महान् वीर की सुदृष्टि थी महा !

अगम्य मुक्तिमार्ग गम्य हो गया ,
अरम्य धर्ममार्ग रम्य हो गया ।
अक्षम्य पापदण्ड क्षम्य हो गया ॥
महान् वीर के सुकर्म थे महा !

याग की प्रसिद्धि मिट गई सभी ,
याग-आग भी बुझा तभी सभी ।
राग की सुसिद्धि मिट गई सभी ॥
महान् वीर का सुधर्म था महा !

सभी समान थे न राव रंक थे ,
सभी समान थे न शुद्ध शूद्र थे ।
सभी समान थे न प्रेय हेय थे ॥
महान् वीर का समय रहा महा !

—श्री कोमल जैन 'बीना'

वह चला जा रहा था

—श्री धनदेव कुमार 'सुमन'

वह चला जा रहा था। उसकी गति में इठलाहट थी, मादकता थी, चंचलता थी।

और सहस्रों नर नारियों का झुण्ड उसके पीछे २ मन्थर गति से चला आ रहा था। उसकी जय जयकार करता हुआ। उसके गुणानुवाद गाता हुआ। परन्तु इस आत्मश्लाघा के कारण उस मुनि के मुख पर न तो प्रसन्नता की रेखाएँ ही प्रस्फुटित हो रही थीं और न अहं के भाव ही। उसके आनन से टपक रही थी सरसता, मादकता, सहृदयता और सौम्यता। बरस रही थी शान्ति।

सहसा एक पथिक उनके सम्मुख आकर खड़ा हो गया। उस महर्षि के कदम रुक गए। चरणाविन्दों में नमस्कार कर बोला—

"भगवन्! आप इस मार्ग से न जाइए। इस बीहड़ जंगल में एक विषधर सर्प निवास करता है। जिस की भयंकर फत्कारों से जंगल के समस्त जीव जन्तु तक मृत्यु को प्राप्त हो गए हैं। निर्जन बना दिया है उसने इस वनस्थली को। जो भी मानव इस मार्ग से गया है वह बच नहीं सका महामुने!"

परन्तु उसके हृदय पर इसका किंचित् मात्र भी प्रभाव न पड़ा। उनके मुख पर—आनन पर निर्भयता का अटल साम्राज्य था। मौत, जीवन का दूसरा नाम था उनके लिए। जीवन से ममत्व नहीं था उन्हें। फिर वह विचलित क्यों होता? उस मानव को बोध देने के लिए वह बोला, "देवानुप्रिय! यह जीवन क्षण भंगुर है। एक न एक दिन इसने नष्ट हो ही जाना है पानी के बुलबुले की तरह। फिर इससे मोह क्यों, राग क्यों, इसमें आसक्ति क्यों? यथार्थ में जीवन एक सफर है और मौत उसकी मंजिल। वीर वही है जो मृत्यु पर विजय पा लेता है। दूसरे आत्मा अजर है, अमर है, अविनाशी है। फिर मौत से भय कैसा?"

जन समुदाय जय जयकार करता हुआ वापिस हो गया। उसके रुके हुए पग फिर उठे। उसके इस अदम्य साहस को देख प्रकृति भी बौखला उठी। वायु का वेग बढ़ गया। मार्तण्ड की किरणों से पृथ्वी और आकाश जल उठे। सहस्रमुखी शेषनाग की फूत्कारों के समान चलने वाली लू से शरीर झुलसने लगा। पृथ्वी पर पैर रखना दूभर हो गया। परन्तु उसे इससे क्या? वह तब भी नंगे सिर नंगे पाव चला जा रहा था अपने गन्तव्य स्थान की ओर। जिसको मत्यु अपने पथ से विचलित नहीं कर सकी, उसके समक्ष प्रकृति की क्या सामर्थ्य?

वह निर्जन वनस्थली में पहुँचा। आदमी का तो कहना ही क्या, वहाँ तो पशु पक्षी तक भी दिखाई नहीं देते थे? उसी भयावह सर्प की बाँबी पर वह ध्यानस्थ होकर खड़ा हो गया। फूत्कार करता हुआ वह विषधर वहाँ आ टपका। और अपनी बाँबी पर उसे खड़ा देख क्रोधित हो फुंकार उठा।

परन्तु महर्षि जरा भी विचलित नहीं हुए। उसकी फूत्कारों का उन पर कोई प्रभाव न पड़ा।

यह देख सर्प आगबबूला हो गया। उसके नेत्र अंगारे उगलने लगे। नथुने फूल गए। प्रतिशोध की भावना से प्रेरित हो अपनी पूर्ण शक्ति से उसने मुनि के अंगूठे पर अपने दांत गाड़ दिए। काट लिया उसे, भर दिया मारक विष रग २ में। और प्रतीक्षा करने लगा उसके धराशायी होने की।

परन्तु उसने उफ़ तक न की। पाषाण की प्रतिमा की तरह शान्त निस्तब्ध खड़ा रहा उसी तरह ध्यानस्थ। मन में ज़रा भी क्रोधित न हुआ वह उस पर।

उसको उसी प्रकार शान्त मुद्रा में देख विषधर घबरा उठा। उसके रक्त का रसास्वादन करने में भी उसे आज विचित्र ही आनन्द अया था। अन्य रुधिरों से इस रुधिर में उसे एक विशेषता ही अनुभव हुई थी। इसका कारण क्या है? वह सोचने लगा।

तत्क्षण ही श्रमण ने अपनी समाधि खोली। चण्ड कौशिक सर्प को संबोधित करते हुए उसने कहा—"ऐ कौशिक! समझ। तू पूर्व जन्म में कौन था? तेरी यह दुर्दशा क्यों हुई?" मुनि ज्ञानी था, त्रिकालदर्शी था।

अतः उसने सर्प के पूर्व जन्म का समस्त विवरण खोल कर उसके सम्मुख र[illegible] दिया। जिसे सुन कर चण्डकौशिक की आँखें खुल गईं। उसने आत्म[illegible] को पाया। वह सोचने लगा कि क्रोध के कारण साधु जीव[illegible] में उत्पन्न हो सर्प बना। यदि इस जीवन में भी मेरी यही दश[illegible] जाने मुझे अगले जीवन में किन २ दुःसह यन्त्रणाओं को सहन करना पड़ेगा। सोचते २ उसके रोंगटे खड़े हो गए उसके शरीर का अंग प्रत्यंग भय से विह्वल हो उठा। प्रार्थना की—"भगवन—मेरा उद्धार करो।"

"मैं तुम्हारा उद्धार नहीं कर सकता। तुम स्वयं ही अपना उद्धार कर सकते हो। आत्मा स्वयं कर्ता है और स्वयं ही उसके फल को भोगता है। दुःखों का कर्त्ता तथा सुखों का कर्ता भी वह आप ही है, जैसे मार्ग में हम इस आत्मा को ले जाते हैं वैसा ही फल इस आत्मा को प्राप्त हो जाता है। मैं तो केवल तुम्हारा पथ प्रदर्शन ही कर सकता हूँ।"

"मार्ग ही बतलाइए महात्मन्।"

"क्षमा धारण करो।"

"अच्छा। भगवन् ऐसा ही होगा।" उस दिन से ही उसके जीवन में परिवर्तन हो गया। मर्यादा में स्थित नदी के प्रवाह की तरह अब उसका मन शान्त और गम्भीर हो गया था। क्रोध को त्याग देने का दृढ़ संकल्प कर अपने मुख को उसने बाँबी में और शेष शरीर को उससे बाहर रख छोड़ा। उससे त्रसित तथा भयभीत रहने वाले पशु, पक्षी कीड़े मकोड़े भी अब उसको काटते, नोचते। परन्तु वह अब उन्हें कुछ भी न कहता। वह हँस २ कर प्रसन्नता से उन कष्टों को सहता। वे पशु पक्षी भी सोचते थे कि ऐसा परिवर्तन एक दम उसमें कैसे आ गया? क्यों बन गया वह क्षमा का अवतार! कोई उन्हें उत्तर देने वाला न था।

वह अध्यात्म योगी वहाँ से जा चुका था अन्यत्र। वह चला जा रहा था जन कल्याण की भावना से प्रेरित हो निरन्तर-सतत एक स्थान से दूसरे स्थान पर।

जयन्ती आया

हुए
उठी ।
जल उठे ।

...ीर ... अप्रैल मंगलवार को चैत्र शुक्ला त्रयोदशी वाले दिन श्रमण भगवान महावीर का जन्म दिवस है । इस अवसर पर सभी जगह बड़े उत्साह से महावीर-जयन्ती का उत्सव मनाया जाने लगा है । श्रमण का अप्रैल-मई का यह संयुक्त-अंक भी महावीर-जयन्ती के उपलक्ष में निकल रहा है । इसमें अधिकतर सामग्री भगवान महावीर से सम्बन्ध रखती है । आशा है इससे श्रमण के प्रेमी-पाठकों को हर्ष व संतोष होगा । घर बैठे वे बहुत कुछ ... ही पढ़-सुन सकेंगे। जानने-समझने को भी बहुत कुछ मिलेगा । हमें हर्ष है श्रमण के अपने लेखकों ने हमारी सूचना का आदर करके समय पर मननीय लेख व कविताएँ भेजकर हमारा उत्साह बढ़ाया है । श्रमण शिरोमणि महावीर के संबन्ध में अपने हार्दिक भावों को लिख कर अपनी श्रद्धा की पुष्पाजलियाँ भेंट की हैं । श्रमण का यह संयुक्त-अंक होने पर भी कई लेख व कविताएँ नहीं दी जा सकी हैं। महत्व के कुछ लेख रोकने भी पड़े हैं । आशा है कृपालु लेखक इस विवशता के लिए क्षमा करेंगे । उन लेखों व कविताओं को समय समय पर अगले अंकों में देने का प्रयत्न किया जाएगा । कई लेख और कविताएँ तो अंक के तैयार होने तक पहुँचे हैं । जिन का छपना किसी तरह भी संभव नहीं था। हमें ऐसा लगा है कि महामानव महावीर के लिए लोगों के दिल में जो आदर व श्रद्धा है, वह अद्भुत है । ढाई हजार वर्ष के लंबे अरसे के बाद भी वे भूले नहीं । जब कि उनके ही समय के कई महापुरुषों का नाम-निशान भी नहीं रहा और न उन्हें कोई याद करने वाला ही । महावीर का अहिंसा, संयम और तप का संदेश ही ... था, जो कभी मर नहीं सकता, उनकी साधना भी अमर थी । महावीर की अहिंसा को लेकर राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने आज के भारत को स्वतंत्र बना कर विश्व को चकित कर दिया है । राष्ट्र-पिता के क़दमों पर चल कर वीर जवाहर लाल ने स्वतंत्र भारत की जो प्रतिष्ठा बढ़ाई है, विश्व उसकी ओर आशाभरी दृष्टि से देख रहा है । आज फिर भारत नए रूप में विश्व को अहिंसा और शान्ति का संदेश सुनाने में समर्थ बन रहा है ।

सच बात यह है कि भगवान महावीर इतिहास के पृष्ठों में ऐसे महापुरुष हुए हैं, जिनने मानव जाति ही नहीं, प्राणीमात्र के कल्याण के लिए बहुत कुछ

किया है। महावीर की तुलना में बैठने वाले आज भी म[illegible] मिलेंगे। आज से ढाई वर्ष पहले महावीर ने जो अहिंसा[illegible] वह बुझी नहीं। उस ज्योति को जगाते रहने वाले मह[illegible] बल्कि विश्व के दूसरे कोने में भी पैदा होते रहे हैं। श्रमण संस्कृ[illegible] की यही विशेषता है कि वह समय समय पर विश्व को ठीक दिशा म[illegible] वाला संदेश देती रही है।

महावीर स्वयं श्रमण—तपस्वी थे। वे शरीर तक भी परवाह नहीं करते थे। [illegible] बड़े कष्टों को झेलने के लिए हरदम तैयार रहते थे। तैयार ही नहीं, [illegible] जान-बूझकर कष्टों के सामने जा खड़े होते थे। उनके जीवन की यह [illegible] बड़ी विशेषता थी। साढ़े बारह वर्ष का उनका साधना काल एक सच्चे श्रमण का साधना काल है। वे राज कुमार थे। फिर भी इस रूपमें कभी किसी को अपना परिचय नहीं देते थे। यदि किसी ने पूछा भी तो इतना ही कहते थे कि मैं एक भिक्षु हूँ। अनेक तरह की यातनाएं [illegible] भी मन में रोष नहीं लाते थे। और न कभी उफ़ तक ही करते थे। आचारांग में कहा है—रात के समय जब कभी मीठी नींद आ घेरती थी, तो सोते तक नहीं थे। फौरन शीतकाल की ठंडी खुली हवा में जा खड़े होते। गरमी की मौसम में कहीं ठंडी छाया में तन्द्रा आने लगती तो कड़ी धूप में जा खड़े होते। महीनों तक खाना नहीं खाते थे। कई २ दिन तक पानी नहीं पीते थे। लिखा है साढ़े बारह वर्ष में सिर्फ ३४९ दिन ही भोजन किया था। बाकी सभी दिन कुछ नहीं खाया। यह तपस्या और कठोरता की चरम सीमा है। ढाई हजार वर्ष के इतिहास में भी यह सुनने में नहीं आता कि जिसने इतनी कड़ी तपस्या की हो। वह भी अपनी इच्छा [illegible] उत्साह से। मन में जरा सी भी कमजोरी बिना लाए।

थोड़ी देर की वाह-वाही के लिए यह कुछ नहीं था। वह तो सब कुछ चुप-चाप था, दूसरे किसी को पता तक नहीं चलता था। मालूम होता है—श्रमण महावीर जान-बूझकर कष्टों को बुलाते थे। ऐसे ऐसे अपरिचित स्थानों में गए जहाँ कोई नहीं जानता था और लोग बड़े अनाड़ी थे। वे आदर-सत्कार करना तो दूर, उलटा कुत्तों को छुछकार कर लगा देते थे। श्रमण महावीर उन्हें हटाते तक नहीं थे। काट लेने पर दवाई भी नहीं करते थे। सचमुच उनकी यह क्षमता अद्भुत थी। इतिहास के पृष्ठों पर कल्पना नहीं की जा सकती। इन सब को झेलकर वे यह देखना चाहते थे कि मनुष्य कहाँ तक

... ता है। कहाँ तक घृणा और द्वेष पर विजय पा सकता है। इस हुए ... आत्म-कल्याण और विश्व-कल्याण का कितना बड़ा आदर्श उठी। ... ...पना से परे है। अन्त में श्रमण महावीर 'जिन जल उठे। ... राग और द्वेष ... सबसे बड़े अन्दरूनी शत्रु हैं दोनों को ... जीत लिया था। इसलिए ... 'जिन' थे। महावीर का यह सिद्धान्त था कि मनुष्य कष्टों को झेले बिना कुछ नहीं पा सकता।

वे कहते थे—'अप्पा चेव दमेयव्वो अप्पा हु खलु दुद्दमो' अपने आप को दमन करना आसान नहीं, फिर भी इसे दमन करना है। महावीर को आनन्द की अनुभूति होती थी। यह उनका अ... ही था, वहाँ

महावीर का कहना था कि—'अनुस्रोत-गामी मत बनो'—... पर ... ... 'प्रतिस्रोत-गामी बनो'—जलकी धार ऊपर से नीचे बहती है ... उसके साथ नीचे बहने में कोई विशेषता नहीं, विशेषता तो उसी धार के सहारे ऊपर ... ढ़ने में है। इससे पता चलता है कि मानव जाति की जो सबसे बड़ी दुर्बलता ... महावीर ने उसे पहचान लिया था। महावीर की तपस्या और साधना का ही संभवतः यह फल है कि ढाई हजार वर्षों के बाद भी महात्मा-गांधी जैसे महापुरुष का परिपाक हुआ। जिसने विश्व को नीचे की ओर बहती हुई धार से बचा लिया है। अनुस्रोत-गामी बनने की बजाय प्रतिस्रोत-गामी बना दिया है। इसकी सचाई का पता तब लगता है जब कि हम यह पढ़ते-सुनते हैं कि बड़े बड़े राजनीतिज्ञ पुरुष भी इस मृगमरीचिका के शिकार हैं कि वे अणुबमों और उदजन बमों को ही विश्व में शान्ति लाने वाला मानते हैं। उनका यह विश्वास ईमानदारी का हो सकता है। पर है ग़लत। महावीर ने ... शब्दों में कहा है कि—'अत्थि सत्थं परेण परं, नत्थि असत्थं परेण परं' हिंसा के साधन एक से एक बढ़ कर हैं, किन्तु अशस्त्र-अहिंसा व शान्ति का रास्ता तो एक ही शस्त्र रहित हैं। महावीर ने यह कभी नहीं माना कि शस्त्रों से भी शान्ति मिल सकती है। महावीर की इसी बात को राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने कहा ही नहीं, बल्कि करके दिखला दिया है। आज वीर जवाहरलाल राष्ट्रपिता के क़दमों पर चलकर विश्वको यही संदेश दे रहे हैं। इस नई बात को सुनकर विश्व भी चकित सा है। जब समूचे विश्व इसपर चलकर देखेगा, तो सचमुच ही महावीर की वह महातपस्या सार्थक हो जाएगी। इस तपस्या का रहस्य भी तभी खुलेगा। विश्व तब जानेगा कि महावीर ने साढ़े बारह वर्ष तक महासाधना करके जो कुछ पाया था, वह

रंग लाकर रहा। विश्व के कल्याण का मार्ग ओझल नहीं [illegible] महावीर की साधना अमर हो कर रहेगी। आज भी यह [illegible] किया जा सकता है।

आज उसी महामानव महावीर के [illegible] दिवस के शुभावसर [illegible] और श्रमण के प्रेमी पाठकों की ओर से हर्ष व श्रद्धा की पुष्पांजलि अर्पित क[illegible] अपने को स्वस्थ व प्रसन्न अनुभव करते है।

अवकाश या अभयदान !

[illegible] धर्म का इतिहास बतला रहा है कि जब कभी किसी जैन या जैना[illegible] [illegible] जा या बादशाह से माँग की तो यही कि हिंसा बन्द की जाए। [illegible] हार्द छुट्टी मनाने में नहीं बल्कि अहिंसा में है। महावीर के [illegible] और साधना से भी इसी का मेल है।

जैन समाज महावीर जयन्ती के लिए भारत सरकार से छुट्टी की माँग कर रही है। सरकार कहती है एक दिन की छुट्टी से लाखों रुपये का नुकसान हो जाता है। सरकार का नुक्सान राष्ट्र का नुक्सान है। आश्चर्य होता है, जैन समाज की माँग के पहले से रहते हुए भी बाद में महात्मा बुद्ध की जयन्ती आदि की नई छुट्टियाँ घोषित हो जाती हैं। नेहरू सरकार की परराष्ट्र नीति प्रियता का यह सबसे बड़ा सबूत है। घर में भले ही असंतोष रहे।

सच बात यह है कि भगवान महावीर की अहिंसा साधना न होती तो शायद राष्ट्रपिता महात्मागांधी की अहिंसा भी न होती और न आज के भारत की अहिंसा व शान्ति की वर्तमान नीति ही। महावीर वर्तमान भारत के पितामह थे। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी को उन्हीं की अहिंसा साधना ने बनाया। खेद है नेहरू सरकार महावीर के इतने से महत्व को भी नहीं आँक सकती।

जैन समाज से हमारा निवेदन है कि वह दूसरों की देखा देखी सरकार से एक दिन की छुट्टी का आग्रह न करके उस दिन लाखों प्राणियों को अभयदान दिलाने की माँग करे। महावीर-जयन्ती वाले दिन भले ही छुट्टी न हो, सरकारी तौर पर हिंसा बन्द की जाए तो कितना अच्छा हो। इससे लाखों प्राणियों को अभयदान मिलेगा। इससे बढ़कर महावीर की भावना व साधना नहीं हो सकती। हम चाहते तो यह हैं कि महावीर जयन्ती और राष्ट्रपिता महात्मा गांधीका बलिदान दिवस—दोनों दिन जीवों की हिंसा बिलकुल बन्द रहे।

भारत सरकार जैन समाज की इस माँग को भी मानने को तैयार न हो तो छुट्टी की माँग किसी तरह से भी अनुचित नहीं कही जा सकती।

साहित्य-सत्कार

हुए
उठी ।
जल उठे ।

कर्ता—स्वामी निश्चल दास जी, शुद्ध हिन्दीकार—स्वामी निगमानन्द शास्त्री । प्रकाशक—उदासीन संस्कृत विद्यालय, मो० ढुण्ढिराज, बनारस मूल्य ३) रु०

स्वामी निश्चल दास कृत विचार-सागर अद्वैत वेदान्त सम्बन्धी उत्तम ग्रन्थ है । किन्तु उस की भाषा बहुत ही पुराने ढंग ही की था, वहाँ स्वामी निगमानन्द जी शास्त्री ने उसे सरल-सरस शुद्ध हिन्दी में [illegible] पर [illegible] । [illegible] हरिभाऊ उपाध्याय (मुख्य मंत्री अजमेर) की भूमिका तथा [illegible]चार्य [illegible] [illegible]नन्द जी की टिप्पणों से पुस्तक बहुत ही सुन्दर व उपयोगी बन गई [illegible] सुन्दर संपादन-छपाई, पृष्ठ संख्या ५०८ । वेदान्त जिज्ञासुओं के लिए [illegible] उत्तम पुस्तक है ।

सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामंडी, आगरा के दो नए प्रकाशन

ब्रह्मचर्य-दर्शन पृ० सं० २०० मूल्य २) रु०

अपरिग्रह-दर्शन पृ० सं० १३८ मूल्य २) रु०

प्रवचनकार—कविरत्न पं० मुनि श्री अमरचन्द्र जी महाराज

संपादक—पं० श्री [illegible]चन्द्र जी भारिल्ल, न्यायतीर्थ

दोनों पुस्तकें [illegible] जी के प्रवचन हैं । ज्ञानपीठ की ओर से अहिंसा-दर्शन, सत्य-दर्शन और अस्तेय-दर्शन नाम से पहले तीन पुस्तकें निकल चुकी हैं । अब ब्रह्मचर्य-दर्शन और अपरिग्रह-दर्शन को निकाल कर पाँच महाव्रतों के क्रम को पूरा किया गया है । इनमें महाव्रतों के हृदयंगम जन-जीवनोपयोगी स्वरूप का निरूपण है । पुस्तकें सभी अवश्य पढ़ने योग्य हैं । भाषा सरल-सरस है । छपाई-सफाई व गेट-अप दर्शनीय हैं । हम चाहते हैं सन्मति ज्ञानपीठ की सभी पुस्तकों का जनता में खूब प्रचार हो । इससे देश के आचार-विचार का स्तर ऊँचा होगा और जनरुचि का परिष्कार भी ।

—कृष्णचन्द्राचार्य



श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, बनारस का जैन इतिहास में एक साहित्यिक [illegible]

जैन साहित्य का बृहद् इ[illegible]

प्रस्तुत ग्रन्थ की तैयारी में लग[illegible]ग [illegible]ह विद्वान् लगे हुए हैं [illegible] हजार पृष्ठ के ग्रन्थ के निर्माण में लगभग ५००००) पचास हजार रुपये व्यय होंगे। ग्रन्थ चार भागों में पूरा होगा।

प्रथम भाग—आगमिक साहित्य

[illegible] में १५०० पृष्ठ होंगे जिसमें आगम, आगमों की टीकाएं, निर्यु-[illegible] चूर्णियां, संस्कृत व्याख्याएं और लोकभाषाओं में रचित [illegible] कर्मप्राभृत और कषायप्राभृत, कर्म सम्बन्धी संपूर्ण साहित्य, आगमिक प्रकरण आदि समस्त साहित्य का परि[illegible] दि[illegible] जाएगा।

द्वितीय भाग—दार्शनिक तथा लाक्षणिक साहित्य

इस भाग में ५०० पृष्ठ होंगे जिनमें सम्पूर्ण जैन दार्शनि[illegible] साहित्य, व्याकरण, कोश, अलंकार, छन्द, ज्योतिष, गणित, आयुर्वेद [illegible]शास्त्र, ऋतुविज्ञान, शकुनशास्त्र, सामुद्रिक, संगीत, कला, स्थापत्य, मुद्राशास्त्र, लक्षणशास्त्र, भूगर्भशास्त्र, धातु विज्ञान आदि विषयों से सम्बन्धित समस्त जैन साहित्य का परिचय रहेगा।

तृतीय भाग—काव्य साहित्य

इस भाग में ४०० पृष्ठ होंगे जिनमें जैन पुराण, चरित्र, कथा प्रबन्ध, ऐतिहासिक साहित्य, प्रशस्तियां, महाकाव्य, खण्डकाव्य, नाटक, चम्पू, स्तोत्र आदि का विस्तृत परिचय दिया जाएगा।

चतुर्थ भाग—अपभ्रंश एवं लोकभाषाओं में निर्मित साहित्य

इस भाग में ६०० पृष्ठ होंगे जिनमें अपभ्रंश साहित्य, हिन्दी जैन साहित्य, गुजराती जैन साहित्य, राजस्थानी जैन साहित्य, कन्नड़ जैन साहित्य और तमिल जैन साहित्य का विस्तृत परिचय रहेगा।

यह ग्रन्थ पिछले २५०० वर्ष के समस्त जैन साहित्य का प्रतिनिधि ग्रंथ होगा। इस ग्रंथ के पठन मात्र से आपकी जैन साहित्य विषयक जिज्ञासा शान्त हो सकेगी। इसके निर्माण में आप यथाशक्ति अपना योगदान दीजिये।

—मन्त्री

जैन-साहित्य निर्माण योजन[illegible]

अभिमत

हुए ... [illegible] ...चार्य श्री पूज्य यतिवर्य श्री हीराचन्द्र सूरि
उठी। ... [illegible] ... लिखते हैं कि—
जल उठे। ... "...प्रेम से पढ़ता हूँ मनन करता हूँ। मेरी दृष्टि
... में इसका स्थान बहुत ऊँचा है। इसका लक्ष्य जैन शासन
...जैन संघ की सेवा है। यही कारण है इसमें सभी लेख सम्प्रदायातीत एवं जैन सिद्धान्तों के प्रचारक होने से यह पत्र जैन मात्र के लिए आदरणीय है। लेख भी इसमें अनेक प्रतिभाशाली, ... सत्य के अन्वेषक विद्वानों के ही निकलते हैं। जैनेतर ...ही देखा, वहां भी मननीय लेख रहते हैं। ऐसे पत्र की समूचे जैन स...हने पर ... अति आवश्यकता थी। इस त्रुटि की पूर्ति यह 'श्रमण' पत्र ... कि बहुना, ... 'श्रमण' ने जैन-जैनेतर विद्वानों में आदरणीय स्थान ...कर लिया है। यही इसकी प्रगति का सूचक परिचय है। मैं इसकी हार्दिक उन्नति चाहता हूँ।"

सम्पादक—पं० [illegible]



श्रमण

सम्पादक
पं० कृष्णचन्द्राचार्य

एक नज़र में—

★ जैन साहित्य की विशालता से अब विद्वान अपरिचित नहीं रहे हैं। पहले जो जैन-ग्रंथ मन्दिरों, देवालयों और जैन शास्त्र भण्डारों में छिपाकर रखे जाते थे, उन्हें अब क्रमशः प्रकाश में लाया जा रहा है। रूढ़िभक्त जैन समाज की यह बदलती हुई मनोवृत्ति उसके उज्ज्वल भविष्य की सूचक है। राजस्थान में जैन साहित्य काफी अधिक मात्रा में मिला है। इस अंक में पृष्ठ ४ पर प्रकाशित 'राजस्थानी जैन साहित्य' शीर्षक लेख में राजस्थानी साहित्य के अधिकारी विद्वान एवं लगनशील अन्वेषक श्री अगरचन्द नाहटा ने राजस्थान में प्राप्त जैन साहित्य पर विहंगम दृष्टि डाली है।

★ इस अंक में पृष्ठ १० पर प्रकाशित श्री तारिणी चरणदास एम० ए० की तीन लघुकथाएँ नग्न मानवता के जीते चित्र उपस्थित करती हैं और पुकार-पुकार कर कहती हैं—मानव ! उठ सम्हल !

★ सृष्टि के आदिकाल से पुरुष पुरुष है, और स्त्री स्त्री। दोनों का अस्तित्व अलग-अलग है व रहेगा। उन्हें एक में नहीं मिलाया जा सकता। इसी तथ्य को दादा धर्माधिकारी जी ने बड़े सुन्दर ढंग से पृष्ठ ११ पर प्रकाशित अपने लेख 'स्त्री का स्वभाव' में स्पष्ट किया है।

★ क्या धन ही जीवन की सार्थकता है ? क्या धन से ही जीवन के सारे सुख एवं ऐश्वर्य खरीदे जा सकते हैं ? इन बातों का उत्तर आपको इस अंक में प्रकाशित श्री एस० कान्त की मर्मस्पर्शी कहानी 'सच्चा वैभव' में मिलेगा। पारिवारिक जीवन में धन एवं सन्तोष का क्या स्थान हैं, यह इस कहानी से भलीभांति पता चल जाता है। 'श्रमण' के प्रत्येक पाठक—मां, भाई, बहन के लिए यह कहानी पठनीय है और है साथ ही एक ऐसी प्रेरणा देनेवाली कि जिससे उनके अशांत जीवन में शांति आ सकती है।

★ ग्रीष्म ऋतु में बर्फ को लोग अमृत से कम नहीं समझते ? पर क्या वस्तुतः बर्फ की प्रकृति शीतल है ? बर्फ के संबन्ध में कुछ आवश्यक जानकारी के लिए पृष्ठ ३६ पर प्रकाशित मध्यप्रदेश के सुप्रसिद्ध चिकित्सक श्री सुन्दर लाल जैन का लेख आपके लिए विशेष रूप से सहायक होगा।

★ और इन सबके अतिरिक्त इसी अंक में आपको मिलेगी ऐतिहासिक कहानी संग्रह 'अतीत के कम्पन' और मासिक 'पाटल' के 'सन्त साहित्य' अंक पर हमारी सम्मति !

वार्षिक मूल्य ४) एक प्रति ।=)

सम्पादक एवं प्रकाशक—पं० कृष्णचन्द्राचार्य

अधिष्ठाता, श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, हिन्दू यूनिवर्सिटी बनारस—५

श्रमण

श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, हिन्दू यूनिवर्सिटी बनारस का मुखपत्र

वर्ष ६ | जून १९५५ | अंक ८

बात मेरे हृदय की कुछ और ही है !

(१)

आज तक जग के लिये सर्वस्व खोया
चाह मन में ले कि यह सन्मार्ग पाये ;
आपसी अलगाव की कटु भावनायें
छोड़ कर बन्धुत्व का सद्भाव लाये ॥

किन्तु जग में चाह पर-हित की निरर्थक
इसलिये मैं कह रहा हूँ बात मन की ।
जो किया, जो कर रहा सब बाध्य होकर
चाह मेरे हृदय की कुछ और ही है !

(२)

प्रेम-रस की मधुरता के लोभ से मैं
मानता जग, जा रहा हूँ प्रेम जग को ।
दूसरा कुछ मार्ग अपनाऊँ, कहाँ यह
शक्ति विधि से मिल सकी है प्रेम-पग को ॥

मान ले या जान ले जो कुछ सुहाये
किन्तु जग से कह रहा हूँ बात मन की।
प्रेम पथ पर चल रहा हूँ बाध्य होकर
राह मेरे हृदय की कुछ और ही है।

(३)

दूसरों के हित लिखी कविता कहानी
दूसरों के लिए सुख-दुख, पीर जानी।
दूसरों के हित लुटा दी निज जवानी
दूसरों के हित बना मैं चिर निशानी॥

किन्तु पर में स्वीयता का भाव लाना
मूर्खता, यह सोच कर अब कह रहा हूँ—
लिख चुका हूँ गीत लेकिन बाध्य होकर,
गीत मेरे हृदय का कुछ और ही है॥

(४)

है कहाँ सम्भव मुझे बन्धन भुवन में
शृङ्खला वह कौन मुझको बाँध ले जो ?
और क्या सम्भव हृदय की थाह पाना
फिर भुवन में कौन उसको जान ले जो ?

किन्तु फिर भी बात जग से की सुहानी
और प्रतिपल ही सुनाई निज कहानी।
जो कहा या कह रहा सब बाध्य होकर
बात मेरे हृदय की कुछ और ही है॥

—कोमल जैन बीना

हमारा युग

अब हमारी कविताओं का युग आ रहा है।

पहाड़ों से कह दो कि वे पत्थरों के बीच सन्ध और दरारों में भी फूल खिलावें। झरनों से कहना कि हमारे आगमन का गीत जोरों से गावें। पक्षियों से कह दो कि जब हमारे गीतों का प्रभाव हो, तो वे एक बार आश्चर्य से चकित होकर चहचहा उठें।

किसानों से कह देना कि वे खेतों में परिश्रम करते हुए अन्न के साथ अपनी जीवनी-शक्ति भी पैदा करें।

मजदूरों से कहना है कि वे अपने बाहुबल के समान ही अपने ओज और उत्साह को भी बढ़ा कर रखें।

दरिन्दों से कह देना कि वे महानाश की आतिशबाजी न खेलें। उनसे कहना कि मनुष्य मनुष्य से प्रेम रखने के लिए है। दुनिया झगड़ा करने की जगह नहीं।

जो राह भूल चुके हैं और स्वयं भटक रहे हैं, उनका साथ छोड़ दो। वे तुम्हें किसी भी मंजिल तक नहीं पहुँचा सकेंगे। उनके हाथ से भी हम अपना हाथ नहीं मिला सकते जो एक हाथ में खंजर लेकर अपना दूसरा हाथ हमारे स्वागत के लिए बढ़ा रहे हैं। हम उनका भी विश्वास नहीं करते जो कह उठते हैं कि जब हमारा हृदय-परिवर्तन होगा तब हम तुम्हारे अनुकूल बन जायेंगे। जागता हुआ वह आदमी नींद का बहाना कर रहा है। उससे कहना कि सोता हुआ आदमी प्रभात आने पर स्वयं जाग उठता है।

समुन्दर में जहाजों को अबाध आने और जाने दो, जिसमें देश-देश, मनुष्य-मनुष्य और संस्कृति-संस्कृति मिल सकें। समुद्र झागों में मुस्कराता रहे, लहरों में कहकहे लगाता रहे।

तोपों से कह देना कि वे हमारे रोष की आग में गल जायेंगे और उसकी भट्टी में निर्माणकारी मशीनों के रूप में ढल जायँगे। उन मशीनों से कहना कि ग्रीज लगा कर हल्की हो जायँ और निर्बन्ध-चंचल इस तरह चलने लगें जिस प्रकार पानी में मछलियाँ चलती हैं।

मानव-मानव में भेद न रहे। संसार को सुन्दर बनाने के लिए मनुष्य का पसीना मौलसिरी के फूलों की तरह झरता रहे।

तब हमारी कविताएँ फूलों की तरह खिलेंगी और सुवास की भाँति दिलों में पैठ जायँगी।

—'निर्भय'

राजस्थानी जैन साहित्य

—श्री अगरचन्द नाहटा

[मार्च अंक से आगे]

२० लोकवार्ताएँ संबन्धी ग्रन्थ—

लोक-साहित्य के संरक्षण में जैन-विद्वानों की सेवा अनुपम है। सैकड़ों छोटी-मोटी लोकवार्त्ताओं को उन्होंने अपने ग्रन्थों में संगृहीत किया है। एक-एक लोकवार्त्ता के संबंध में संस्कृत एवं लोकभाषा में उनके बहुत से ग्रन्थ उपलब्ध हैं। बहुत सी वार्त्ताएँ जिन्हें यदि वे नहीं अपनाते तो विस्मृति के गर्भ में कभी की विलीन हो जातीं। यहाँ राजस्थानी भाषा में रचित फुटकर लोकवार्त्ताओं की सूची दी जा रही है—

अंबउ चरित्र कर्ता—विनयसमुद्र, रूपचन्द्र
कर्पूर मंजरी (रास) मतिसार
गोराबादल ,, हेमरत्न, लब्धोदय
चंदनमलयागिरि ,, भद्रसेन, क्षेमहर्ष, जिनहर्ष, सुमतिहंस, यशोवर्धन
ढोलामारू ,, कुशललाभ
नंदबत्तीसी चौपाई,, जिनहर्ष
पनरहवां कलारास,, वीरचंद
पंचाख्यान ,, वच्छराज, हीरकलश
प्रियमेलक ,, समयसुन्दर, मानसागर
भोज चरित्र-कर्त्ता—मालदेव, सारंग, हेमानंद, कुशलधीर
माधवानलकामकंदला ,, कुशललाभ

विक्रम चरित्र—महाराजा विक्रम की दानशीलता, पराक्रम, एवं बुद्धि-चातुर्य लोक साहित्य में सबसे अधिक प्रचारित है। प्रत्येक भारतीय भाषा में विक्रम संबंधी लोक कथाओं का प्रचुर साहित्य उपलब्ध है। मरु-गुर्जरी भाषा में भी करीब ४५ रचनाएँ प्राप्त हो चुकी हैं। यहाँ उनमें से थोड़ी सी

राजस्थानी रचनाओं का ही उल्लेख किया जा रहा है। विशेष जानने के लिए 'विक्रम स्मृति ग्रंथ' में मेरा 'विक्रमादित्य संबंधी जैन साहित्य' शीर्षक लेख देखें।

विक्रम चौपाई कर्त्ता—हेमाणंद, मुनिमाल
पंच डंड चौपाई ,, विनयसमुद्र, लक्ष्मी वल्लभ, लाभवर्धन
सिंहासन बत्तीसी ,, मलयचन्द्र, ज्ञानचन्द्र, विनयसमुद्र, हीरकलश, विनयलाभ
खाफरा चोर चौपाई ,, राजशील, अभय सोम, लाभवर्धन
लीलावती चौपाई ,, कक्कसूरि शिष्य कुशललाभ
विद्याविलास कथा—कर्त्ता—हीरानंद सूरि, आज्ञासुन्दर, आनंदउदय, राजसिंह, जिनहर्ष, यशोवर्धन
विल्हण पंचाशिका ,, ज्ञानाचार्य, सारंग
शशिकला चौपाई ,, ज्ञानाचार्य
शुकबहोत्तरी ,, रत्न सुन्दर, रत्न चन्द
श्रृंगार मंजरी चौपाई ,, जयवंत सूरि
स्त्री चरित्ररास ,, ज्ञानदास
सगालसारास ,, कनक सुंदर
सदयवत्स सावलिगा चौपाई ,, केशव
कांनड कठियारा चौपाई ,, मानसागर
रतना हमीर री बात ,, उत्तम चंद भंडारी
राजा रिसालू की बात ,, आणंद विजय
लघु वार्ता संग्रह ,, कीर्त्ति सुंदर

लोक वार्त्ताओं के अतिरिक्त लोक गीतों को भी जैन विद्वानों ने विशेष रूप से अपनाया है। लोक गीतों की रागिनियों (ढाल, देशी आदि) पर भी उन्होंने अपने रास, स्तवन आदि अधिकांश रचनाएँ की हैं। उन रचनाओं के प्रारम्भ करने के पहले जिस लोक गीत की देशी में वह गाई जानी चाहिये उस लोक गीत की प्रारंभिक पंक्ति दे दी है। हजारों लोक गीतों का पता उनके इस निर्देशन से ही मिल जाता है। कौन सा लोकगीत कितना पुराना है, उसका प्रारम्भिक स्वरूप क्या था, उसकी लोकप्रियता कितनी अधिक थी आदि बातों का भी उससे पता लग जाता है। कुछ लोकगीतों को तो उन्होंने पूरे रूप से ही लिख रखा है जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। ऐसे लोकगीतों की देशियों की सूची श्रीयुत मोहनलाल दलीचंद देसाई ने बड़े परिश्रम से तैयार

कर अकारादि क्रम से 'जैन-गुर्जर कवियो' भाग ३ के परिशिष्ट नं० ७ में पृ० १८३३ से २१०४ तक में दी है। इन देशियों की संख्या २५०० के लगभग है, जिनमें से आधे के करीब तो राजस्थानी लोकगीतों की हैं।

जैनेतरों के मान्य ग्रन्थों पर भी जैन विद्वानों ने कुछ ग्रंथ बनाये हैं जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। देवी सातसी, एकादशीकथा और रामायण इनमें मुख्य हैं। और भी जैनेतर मंत्र आदि लोकोपयोगी विषयों पर फुटकर साहित्य बहुत कुछ जैन-जतियों द्वारा लिखा मिलता है।

यहां यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि राजस्थानी जैन साहित्य जब इतना विविध, विशाल एवं महत्त्वपूर्ण है तो उसकी आज तक यथोचित जानकारी क्यों नहीं प्रसिद्ध हुई? कारण स्पष्ट है कि जैन मुनि एवं श्रावक अपने धार्मिक कार्यों को सम्पन्न करने में ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ बैठे हैं। साहित्य-प्रेम और अपने साहित्य के महत्व के संबंध में प्रकाश डालने की प्रवृत्ति उनमें बहुत कम देखने में आती है और जैनेतर विद्वानों में बहुत से तो साम्प्रदायिक-मनोवृत्ति के कारण जैन साहित्य के अन्वेषण एवं अध्ययन में रुचि नहीं रखते। कुछ निष्पक्ष विद्वान भी हैं, पर उन्हें प्रथम तो सामग्री सुगमता से प्राप्त नहीं होती, दूसरे जैन साहित्य साम्प्रदायिक विशेष है—इस धारणा के कारण वे उसकी प्राप्ति का अधिक प्रयत्न भी नहीं करते। पर अब जैन साहित्य बहुत विशाल परिमाण में प्रकाशित भी हो चुका है और उसका परिचय पाने के साधनभूत ग्रंथ भी काफी प्रकाशित हो चुके हैं। उदाहरणार्थ—जैन विद्वानों के रचित प्राकृत भाषा संबंधी साहित्य के संबंध में प्रो० हीरालाल कापड़िया का 'पाइय भाषा अने साहित्य' नाम का ग्रंथ प्रकाशित हो चुका है। जैनागमों की आवश्यक जानकारी के लिए उनके अन्य ग्रंथ 'अर्हत् आगमोनुं अवलोकन' और A History of Cannonical Literature of the Jains, दलसुख भाई मालवणिया का 'जैन आगम' और डा० विमलचरण के अंग्रेजी में भी कई ग्रंथ प्रकाशित हैं। जैन आगमों की महत्वपूर्ण बातों के संबंध में डा० जगदीश चंद्र जैन का थीसिस भी अच्छा प्रकाश डालता है। संस्कृत जैन साहित्य के संबन्ध में डा० विन्टरनीज का इतिहास भी महत्त्वपूर्ण है। वैसे स्वतंत्र समग्र साहित्य का परिचायक श्रीयुत मोहनलाल दलीचंद देसाई का "जैन साहित्य नो संक्षिप्त इतिहास" तो अत्यन्त मूल्यवान् ग्रंथ है। २०-२५ वर्ष के कठिन परिश्रम से वह तैयार किया गया है और जैन इतिहास की झांकी भी उससे

मिल जाती है। प्रो० वेलनकर का 'जिनरत्न कोश' ग्रंथ दिगंबर श्वेताम्बर दोनों संप्रदायों के प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश भाषा के ग्रंथों की बृहत् सूची है।

जहां तक राजस्थानी जैन साहित्य का संबंध है—इसके महत्व एवं विशालता की जानकारी का प्रधान कारण यह है कि राजस्थानी और गुजराती दोनों भाषाओं की रचनाओं का विवरण 'जैन गुर्जर कवियो' में एक साथ ही छपा है। वैसे १६ वीं शताब्दी तक तो दोनों भाषाएँ एक ही थीं, अतः गुजरातवालों ने उन्हें प्राचीन गुजराती की संज्ञा दी है। पर १७ वीं शताब्दी से दोनों भाषाओं में उल्लेखनीय अन्तर हो जाता है। अतः उनकी भाषा का पृथक् उल्लेख करना आवश्यक था। मैंने यह सुझाव देसाई जी को दिया था और उन्होंने अपने ग्रंथ के तीसरे भाग में उसका कुछ उपयोग भी किया है। श्री देसाई ने अपने इस ग्रन्थ के तीन भागों में सैकड़ों कवियों की हजारों रचनाओं का विवरण प्रकाशित किया है, पर ग्रन्थ गुजराती लिपि में छपा है और 'जैन-गुर्जर कवियो' के नाम से है, अतः राजस्थान के विद्वानों का भी राजस्थानी जैन साहित्य के महत्त्व की ओर ध्यान अभी नहीं जा सका। वे भी जैन रचनाओं को गुजराती ही अधिक मानते हैं, पर वास्तविक बात यह नहीं है।

राजस्थानी भाषा के जैन साहित्य से ही नहीं, जैनेतर प्राचीन राजस्थानी साहित्य से भी हमारे विद्वान्, उसके गुजरात में प्रकाशित होने के कारण अपरिचित रहे हैं। रणमल छंद, कान्हड़दे प्रबन्ध, सदयवत्स प्रबन्ध, हंसावली आदि १५ वीं एवं १६ वीं शताब्दी के प्रारम्भ की रचनाएँ जो गुजराती के नाम से प्रसिद्ध हैं, वास्तव में प्राचीन राजस्थानी की ही हैं।

राजस्थानी जैन साहित्य की उपयोगिता, विविधता एवं विशेषता पर संक्षिप्त प्रकाश डालने के अनन्तर उसकी विशालता पर भी कुछ कह देना आवश्यक हो जाता है। संक्षेप में तो पहले यह कहा ही जा चुका है कि समग्र राजस्थानी साहित्य का सबसे बड़ा अंश जैनों द्वारा रचित है, और चारणों का साहित्य जो राजस्थानी भाषा का सबसे प्रधान साहित्य माना जाता है, तो उससे भी अधिक विशाल है। इसका कुछ आभास निम्नोक्त बातोंसे मिल जायगा—

(१) चारण आदि जैनेतर कवियों की रचनाएँ १५ वीं शताब्दी से ही मिलती हैं और वह भी १७ वीं शताब्दी के पहले की तो इनी-गिनी ही हैं। जब कि इन मध्यवर्ती ४०० वर्षों में जैन विद्वानों ने निरन्तर राजस्थानी

में रचना की है और वे छोटी मोटी शताधिक संख्या में हैं। पद्य साहित्य के साथ-साथ इस समय की गद्य-रचनायें भी प्रचुर हैं। जब कि १७ वीं शताब्दी से पहले की जैनेतर गद्य राजस्थानी-रचना स्वतंत्र रूप से एक भी प्राप्त नहीं है। केवल अचलदास खीची की वचनिका में गद्य का थोड़ा सा उदाहरण मिलता है। जब कि इन ४०० वर्षों में करीब ५०-६० ग्रन्थों के बड़े बड़े बालावबोध राजस्थानी गद्य में जैन विद्वानों के निर्मित प्राप्त हैं। खरतरगच्छीय विद्वान मेरु सुन्दर अकेले ने ही २० ग्रन्थों पर गद्य में बालावबोध-भाषा टीका लिखी है, जिनका परिमाण ३०-४० हजार श्लोक के करीब का होगा। चारण आदि कवियों द्वारा ख्यातों का लेखन अकबर के समय से प्रारम्भ हुआ प्रतीत होता है। गद्य-वार्ताएं तो अधिकांश १८ वीं शताब्दी में ही लिखी गई हैं।

(२) रचनाओं की संख्या पर दृष्टि डालने से भी जैनेतर-राजस्थानी साहित्य के बड़े २ ग्रन्थ तो बहुत ही थोड़े हैं, फुटकर दोहे एवं डिंगल गीत ही अधिक हैं। जब कि राजस्थानी जैन ग्रन्थों, रास आदि बड़े बड़े ग्रन्थों की संख्या सैकड़ों है। दूहे और डिंगल-गीत हजारों की संख्या में मिलते हैं, उसका स्थान जैन विद्वानों के स्तवन, सज्झाय, गीत, भास, पद आदि लघु प्रतियें ले लेते हैं, जिनकी संख्या हजारों पर है।

(३) कवियों की संख्या और उनके रचित साहित्य के परिमाण से तुलना करने पर भी जैन साहित्य का पलड़ा बहुत भारी नजर आता है। जैनेतर राजस्थानी साहित्य निर्माताओं में दोहों व गीतों को छोड़ देने पर बड़े-बड़े स्वतन्त्र ग्रंथ निर्माता कवि थोड़े से रह जाते हैं और उनमें से भी किसी कवि ने उल्लेखनीय ग्रन्थ बड़े-बड़े और छोटे छोटे १०-२० ग्रन्थों से अधिक नहीं लिखा। चारण रचित राजस्थानी भाषा का सबसे बड़ा ग्रंथ वंश भास्कर है। जब कि जैन कवियों में ऐसे बहुत से कवि हो गये हैं जिन्होंने बड़े-बड़े रास ही काफी संख्या में लिखे हैं। यहां कुछ प्रधान कवियों का ही निर्देश किया जा रहा है—

१. कविवर समयसुन्दर—आप राजस्थान के महाकवि हैं। प्राकृत संस्कृत भाषा में अनेक रचनाएँ लिखने के साथ ही राजस्थानी में भी प्रचुर रचनाएँ लिखी हैं। फुटकर स्तवन, सज्झाय गीत आदि की संख्या तो ३०० के लगभग प्राप्त है। वैसे सीताराम चौपाई राजस्थानी की जैन-रामायण है। यह ग्रन्थ ३७०० श्लोक प्रमाण है। इसके अतिरिक्त साम्ब प्रद्युम्न

चौपाई, चार प्रत्येक बुद्धरास, मृगावतीरास, नलदमयंतीरास, प्रियमेलकरास, पुण्यसार चौपाई, वल्कलचीरीरास, शत्रुंजयरास, वस्तुपाल तेजपाल रास, थावच्चा चौपाई, क्षुल्लक कुमार प्रबंध, चंपक श्रेष्ठि चौपाई, गौतमपृच्छा चौपाई, धनदत्त चौपाई, साधुवंदना, पुंजाऋषिरास, द्रौपदी चौपाई, केशी प्रबंध, दानादि चौढालिया एवं क्षमाछतीसी, कर्मछतीसी, पुण्यछतीसी, दुष्काल वर्णनछतीसी, सवैयाछतीसी, आलोयणा छतीसी, आदि २ राजस्थानी में बहुत से ग्रन्थ हैं।

२. जिनहर्ष—इनका दीक्षा पूर्व नाम जसराज था। यह राजस्थानी के बड़े भारी कवि हैं। इन्होंने पूर्ववर्ती जीवन में राजस्थानी भाषा में और पीछे से पाटन चले जाने पर गुजराती मिश्रित भाषा में ५० के करीब रास एवं सैकड़ों स्तवन आदि फुटकर रचनाएं की हैं। इनमें से कई रास तो बड़े २ काव्य हैं। आपकी समग्र रचनाओं का परिमाण एक लाख श्लोक के करीब होगा।

३.—वेगड़ जिन समुद्रसूरि – इन्होंने भी राजस्थानी में बहुत से रास, स्तवन आदि बनाए हैं। जिनका परिमाण ५०-६० हजार श्लोक के करीब होगा। इनके कई ग्रन्थ अपूर्ण भी मिले हैं।

४. तेरापंथी जीतमल जी—इनका 'भगवती सूत्र की ढालें' यह एक ही ग्रंथ ६० हजार श्लोक परिमाण है जो राजस्थानी का सबसे बड़ा ग्रन्थ है। आपकी अन्य रचनाओं को मिलाने से परिमाण लाख श्लोक से अधिक का ही होगा। इस प्रकार ४-५ विद्वानों के ही साहित्य का परिमाण अब तीन चार लाख श्लोक परिमित हो जाता है, तो समग्र राजस्थानी जैन साहित्य का परिमाण १० लाख श्लोक परिमिति होने में कोई भी संशय नहीं। इतने विशाल साहित्य की उपेक्षा अवश्य ही अनुचित है। इन ग्रन्थों में से चुने हुए उपयोगी ग्रन्थों की [illegible] प्रकाशित हो तो जनसाधारण का बहुत बड़ा उपकार हो सकता है। उनका जीवन स्तर इस प्राणवान् साहित्य से प्रेरणा पाकर अवश्य ही उन्नतिशील हो सकता है। खेद है कि अभी जैनों को स्वयं को भी उसका ठीक महत्व ज्ञात नहीं है। राजस्थान का जैन समाज तो अब बहुत ही पिछड़ गया प्रतीत होता है।

तीन लघुकथाएँ

-श्री तारिणीचरण दास 'चिदानंद' एम०ए०

(१)

तीन आदमियों को बन्दी कर कोई मेरे पास घसीट लाया। और उसने कहा—यह हिन्दू है, यह ईसाई है और यह मुसलमान।

मैंने जाँच करने के लिए एक की पगड़ी उतारी, दूसरे की दाढ़ी काटी और तीसरे की टोपी उतारी तो तीनों में एक आदमी की सी शक्ल थी और ......लाल खून दौड़ रहा था।

(२)

तीसरी मंजिल से जब टप् से एक रोटी गिरी तो एक गन्दी गली की ओर एक भिक्षुक और एक कुत्ता दोनों दौड़ पड़े।

कुत्ते ने रोटी छीन ली और भिक्षुक ठोकर खाकर गिर पड़ा—सिर से लाल खून निकल रहा था और जमीन पर लाल लाल अक्षरों से लिख रहा था—

"मनुष्यता पर पशुता की विजय!"

× × × ×

किसी ने कहा—नहीं.........
दोनों कुत्ते थे।
एक स्वयं बना हुआ है—
और दूसरा मनुष्य ने स्वयं
बनाया है.........
अपने हाथों गढ़ा है!

× × × ×

(३)

रात को ग्यारह बजते तक बातचीत करते-करते सेठ दम्पति ने निश्चय किया कि इस महीने की सबसे बड़ी आवश्यकता की चीज है—लड़की के लिए एक एक्स्ट्रा कार............क्योंकि वह शाम को सहेलियों के साथ घूमने जाया करेगी।

× × × ×

ठीक उसी समय बगीचे के माली ने निश्चय किया—इस महीने चाहिए एक मोटा-सा टाट, नहीं तो बच्चे बीमार पड़ जाएँगे।

स्त्री का स्वभाव

–दादा धर्माधिकारी

गुड्डी और तलवार

त्योहार का दिन था। बाहर बरामदे में एक लड़का और एक लड़की खेल रहे थे। लड़की अपनी गुड्डी को झूला झुला रही थी। बीच बीच में उसे उठा कर गोद में ले लेती थी और उसे दूध पिलाने का अभिनय करती। लड़का तलवार लेकर कल्पना के शत्रुओं के सिर काटता, कभी-कभी गमलों के पौधों पर ही हाथ साफ करता। पुराने विचारों के एक मेहमान यह दृश्य बड़ी दिलचस्पी से देख रहे थे। सहसा उन बच्चों के मां-बाप से कहने लगे, "आप हजार कानून बनाइए और समाज सुधार के लाख प्रयास कीजिए, आखिर लड़की, लड़की रहेगी और लड़का, लड़का रहेगा; स्त्री, स्त्री रहेगी और पुरुष, पुरुष ही रहेगा। यहीं देखिएगा, आपकी बेटी का स्वाभाविक खिलौना उसकी गुड्डी है और बेटे का स्वाभाविक खिलौना तलवार है। स्त्री का जन्म माता होकर धन्य होने के लिए है, पुरुष का जन्म पराक्रम और वीरता के लिए है।"

स्त्री-पुरुष का भेद संस्कार जनित

यह तर्क आपातरमणीय है। सुनने में एक दम लाजवाब मालूम होता है कि स्त्री और पुरुष का नैसर्गिक भेद उनके इन दो खिलौनों से स्पष्ट हो जाता है। स्त्री नखशिखान्त स्त्री है और पुरुष आपादमस्तक पुरुष है। परन्तु यह भेद भी संस्कार जनित है, प्राकृत नहीं। इसके लिए पुरुष जितना जिम्मेदार है, स्त्री उससे कम जिम्मेदार नहीं।

स्त्री जननी है पर माता नहीं

स्त्री ने अपने सामने पुरुष की माता बनने का ही प्रयोजन रखा। परन्तु वह पुरुष की माता बनकर भी उसके संरक्षण की मुँहताज रही। वह जिस पुरुष से विवाह करती है, वह तो उसका भर्ता और रक्षक होता ही है, परन्तु जिस पुरुष को जन्म देती है, उससे भी रक्षण और भरण की अपेक्षा रखती है।

स्वरक्षित और स्वपोषित होने में उसे गर्व का अनुभव नहीं होता। इस अर्थ में पुत्र भी उसका 'पिता' और 'पाता' होता है। उनकी मर्यादा के अनुसार वह उसके पति के पद पर होता है। पुरुष की जननी होने पर भी उसकी माता बनने की हिम्मत स्त्री में नहीं है। बाप, भाई और बेटा—तीनों रूपों में स्त्री के हृदय में पुरुष के लिए इज्जत तो है, लेकिन रक्षण और वैभव के प्रदाता के ही रूप में। पुरुष की प्रतिष्ठा इसलिए है कि वह स्त्री के जीवन को वैभवान्वित और सुरक्षित कर देता है। राजपूत रमणियों ने अपना जौहर अपने आपको अग्नि देवता को सौंपकर दिखाया। परन्तु राजपूत पुरुषों के लिए हमेशा युद्ध ही पुरुषार्थ का सबसे प्रशस्त साधन माना गया।

युग-युग से पुरुष की दासी

पिता ने कन्या को जहां जहां उपदेश दिया, वहां पुरुष की इच्छा और आज्ञा का पालन करने पर जोर दिया। 'शाकुन्तल' में कण्व ऋषि ने शकुन्तला को जो आशीर्वादात्मक आदेश दिया, वह प्रसिद्ध ही है। जनक ने सीता को विदा करते समय उसी तरह का आशीर्वाद दिया है। विवाह-विधि में ब्राह्मण और दूसरे बुजुर्ग ऋग्वेद के मंत्र से वधू को यही आशीर्वाद देते हैं कि वह सास, श्वसुर, ननद और देवर सबकी 'साम्राज्ञी' बने।

स्त्री पहले मानवीय व्यक्ति है

स्त्री और पुरुष की विशिष्ट रुचि और मनोरंजन के साधनों में आज जो भेद हम देखते हैं, वह इस दीर्घकालीन परम्परा का ही अंश है, परन्तु उसके विशिष्ट संस्कारों का ही अंश अधिक मात्रा में है। स्त्री सबसे पहले, मुख्यतः और अंततः माता है—यह जितना वास्तविक तथ्य है कि माता बनने के पहले और माता बन चुकने के बाद भी वह एक मानवी व्यक्ति है। स्त्री और पुरुष के विशिष्ट गुणों और विशिष्ट तत्त्वों में भेद है, यह भी वस्तुस्थिति है। परन्तु उनके इन विशिष्ट तत्त्वों के पीछे जो सामान्य गुण हैं, उनको स्त्री और पुरुष दोनों भूल गए। इसलिये स्त्री निःसत्व बन गई और पुरुष के लिये कोमलता दोषरूप बन गई है।

यह कोई नहीं कहता कि स्त्री और पुरुष की विशिष्ट शक्तियों और वृत्तियों में भेद नहीं है। परंतु इस भेद के कारण दोनों की सामान्य मानवता में बाधा नहीं पहुँचनी चाहिए, बल्कि विकास-विज्ञान तो यह मानेगा कि

अत्यंत परिणत अवस्था में स्त्री के गुण पुरुष में और पुरुष के गुण स्त्री में पाये जायेंगे। जिसे हम आध्यात्मिक सिद्धावस्था कहते हैं, उसमें स्त्री को अपने स्त्रीत्व का और पुरुष को अपने पुरुषत्व का स्फुरण भी नहीं होगा। तभी उस स्थिति को ब्रह्मचर्य या संन्यास की स्थिति हम कह सकेंगे। यह जो विकसित मानवीय व्यक्तित्व है, उसी के आधार पर बुद्धिपूर्वक या अबुद्धिपूर्वक हमने स्त्री-पुरुष के सामाजिक और कौटुम्बिक सहजीवन की बुनियाद डाली है। सभी मनुष्य मूलतः सत्यप्रवित्त हैं और सभी में भले बुरे का विवेक करने की शक्ति है—यह धारणा लोकशाही और मानवीय समत्व का आधार है। उसी प्रकार स्त्री-पुरुष-भेद-निरपेक्ष नागरिकता का आधार स्त्री और पुरुष दोनों का मूलभूत समान तत्व और समान शक्ति है। दोनों का संयुक्त व्यक्तित्व ही उनके यथार्थ सहजीवन का अधिष्ठान हो सकता है।

मिथ्या संस्कार

आज तक हमने विशिष्टता के नाम पर दोनों के अन्तर को बढ़ाया है। पुरुष के लिए भीरुता और सुकुमारता लज्जा का विषय है, लेकिन स्त्री का वह अलंकार माना जाता है। वह डरने में और पुरुष का आश्रय लेने में अपने स्त्रीत्व को सार्थक मानती है। पुरुष किसी से न डरने में और दूसरों को अभय देने में अपने को धन्य मानता है। स्त्री दूध तो पिलाती है, परन्तु माता नहीं है। संकट के समय पुरुष उसकी दुहाई देकर पुकारता है, परन्तु माता के नाते रक्षण और अभय देने की क्षमता उसमें नहीं है।

हमारा निवेदन इतना ही है कि यह स्त्री का स्वभावगत दोष नहीं है। यह संस्कार जन्य और परम्परा जन्य दोष है, इसलिए निराकरणीय है। गुड्डी और तलवार मिथ्या संकेत हैं।

भगवान एक ऐसी लम्बी उलझी हुई रस्सी है जिसे मनुष्य ज्यों-ज्यों सुलझाने की चेष्टा करता है, वह और भी उलझती जाती है और जब वह सुलझाते-सुलझाते हार जाता है तो काफिर बन जाता है।

—एक पंजाबी कवि

विश्वकलेण्डर क्यों नहीं अपनाया जाय ?

—प्रो० वेंकटाचलम एम० ए०

'श्रमण' के फरवरी अंक में श्री महेन्द्रकुमार जैन एम० ए० का एक लेख विश्वकलेण्डर के संबंध में प्रकाशित हुआ था। इन्हीं दिनों हिन्दी के कुछ अन्य पत्रों में भी विश्वकलेण्डर के संबंध में विविध लेखकों के लेख प्रकाशित हुए हैं जिनमें विश्वकलेण्डर के पक्ष में पाठकों का ध्यान आकर्षित किया गया है। प्रस्तुत लेख में विद्वान लेखक ने विश्वकलेण्डर के समर्थक लेखकों की बातों का बड़ी कुशलता एवं मनोरंजक ढंग से खण्डन करते हुए 'विश्वकलेण्डर' के कुछ प्रमुख दोषों एवं कमियों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया है। लेखक के विचारों से हमारा सहमत होना आवश्यक नहीं।

—सम्पादक

पिछले दो तीन वर्षों से हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में विभिन्न लेखकों ने यूनेस्को द्वारा प्रस्तावित "विश्वकलेण्डर" के संबंध में लेख लिखे हैं और शायद बिना कुछ समझे-बूझे उसका समर्थन कर दिया है। यद्यपि पाठकों से भी अब "विश्वकलेण्डर" का विषय अपरिचित नहीं रहा है फिर भी यहां 'विश्वकलेण्डर' की उत्पत्ति एवं हमारे वर्तमान कलेण्डर के संबंध में कुछ कह देना अनुचित न होगा।

वर्तमान में हम अपने दैनिक जीवन में जिस कलेण्डर का आश्रय लेते हैं उसे ग्रेगोरियन कलेण्डर कहा जाता है। आजकल यह कलेण्डर अन्तर्राष्ट्रीय कलेण्डर बन गया है, क्योंकि इसी के अनुसार विश्व के अधिकांश देशों में व्यापारिक संबंध तय होते हैं तथा सरकारी कार्यालयों में कार्य होता है। आप को यह जानकर अत्यंत आश्चर्य होगा कि इस कलेण्डर को प्रचलित हुए अभी मुश्किल से ४०० वर्ष हुए होंगे। १६ वीं सदी में पोप ग्रेगोरी १३ वें ने तत्कालीन प्रचलित जूलियन कलेण्डर में कुछ संशोधन किया था, बाद में वह

संशोधित कलेण्डर उसी के नाम से चल पड़ा। इस कलेण्डर में धीरे धीरे लोगों को कुछ दोष मालूम हुए अतः वे इसमें सुधार की मांग करने लगे। पहले तो इस ओर विशेष ध्यान न दिया गया पर अभी पिछले कुछ वर्षों के अनुभव से जब देखा गया कि दैनिक जीवन में, व्यवसायिक कार्यों में तथा आफिसों आदि में इस कलेण्डर के प्रचलन से बराबर असुविधाएं बढ़ती ही जा रही हैं, तब यूनेस्को ने कलेण्डर में सुधार करने का जिम्मा अपने ऊपर ले लिया। वर्तमान कलेण्डर में जो दोष एवं कमियां बतलाई जाती हैं, वे संक्षेप में ये हैं—

(१) सभी महीने बराबर दिनों के नहीं हैं। कोई महीना २८ दिन का होता है, कोई २९ दिन का, कोई ३० का और कोई ३१ का।

(२) किन्हीं भी दो वर्षों में तारीख़ और वार समान नहीं रहते। जैसे यदि इस वर्ष १ जनवरी शनिवार को थी तो यह आवश्यक नहीं कि अगले वर्ष भी १ जनवरी शनिवार को ही हो। अगले वर्ष १ जनवरी को कोई भी दिन हो सकता है। इसी प्रकार अन्य तारीखों के भी संबंध में भी कहा जा सकता है। इस कारण प्रतिवर्ष नए कलेण्डर छपाने पड़ते हैं और इस प्रकार प्रतिवर्ष विश्व में लाखों-करोड़ों रु० व्यर्थ खर्च होते हैं।

(३) प्रत्येक वर्ष, प्रत्येक महीना तथा प्रत्येक तिमाही या छमाही भी किसी एक निश्चित दिन प्रारंभ नहीं होती। प्रारंभ होने के दिन प्रतिवर्ष बदलते रहते हैं।

(४) किसी भी वर्ष की चारों तिमाही दिनों की दृष्टि से बराबर नहीं होतीं। उनमें साधारण वर्ष में क्रमशः ९०, ९१, ९२ और ९२ दिन तथा लीप-ईयर में क्रमशः ९१, ९१, ९२ और ९२ दिन होते हैं। इस प्रकार प्रत्येक छःमाही भी बराबर नहीं होती। पहली छमाही में १८१ या १८२ और दूसरी छमाही में १८४ दिन होते हैं।

(५) किसी भी एक वर्ष के १२ महीनों अथवा किसी एक महीने के चारों सप्ताहों (फरवरी को छोड़कर) का भी आपस में कोई संबंध नहीं। साल के बारहों महीने अलग अलग दिन प्रारंभ होते हैं। इसी प्रकार महीने के चारों सप्ताह के विषय में भी कहा जा सकता है।

(६) प्रत्येक महीने में सप्ताह का प्रत्येक दिन कम से कम चार बार अवश्य पड़ता है। पर २९ दिन की फरवरी वाले महीने में सप्ताह का कोई

एक दिन ५ बार पड़ता है। और इसी प्रकार ३० दिन वाले महीनों में सप्ताह के कोई दो दिन तथा ३१ दिन वाले महीनों में सप्ताह के कोई तीन दिन पांच बार पड़ते हैं। और यह क्रम भी कोई निश्चित नहीं। प्रत्येक महीने में यह क्रम बदलता रहता है।

(७) उपरोक्त कारणों से कार्यालयों में काम करने के दिन भी घटते बढ़ते रहते हैं। किसी महीने में २४ दिन काम होता है, किसी में २५ दिन, किसी में २६ दिन और किसी में २७ दिन।

वर्तमान कलेण्डर के इन दोषों से दैनिक जीवन में अक्सर मुश्किल हो जाती है। सबसे अधिक दिक्कत सरकारी कार्यालयों, रेलों, स्कूलों और व्यावसायिक संस्थाओं को होती है। इनको प्रतिवर्ष नया टाइमटेबिल, नया बजट तथा नया हिसाब किताब आदि बनाना पड़ता है। आजकल व्यवसाय दिन पर दिन उन्नति पर है। काम बढ़ता जा रहा है। प्रत्येक क्षेत्र में विकास हो रहा है अतः किसी ऐसे कलेण्डर की आवश्यकता है जिसके आधार पर सब काम बिना किसी दिक्कत के व्यवस्थित रूप से चल सकें। लोगों की इस आवश्यकता को लक्ष्य कर यूनेस्को ने वर्तमान कलेण्डर में संशोधन कर यक नया कलेण्डर प्रस्तावित किया है, जिसे 'विश्वकलेण्डर' का नाम दिया गया है। और योजना चल रही है कि यह कलेण्डर १ जनवरी १९५६ से चालू किया जाए।

इस कलेण्डर की कुछ प्रमुख विशेषताएं ये हैं—

(१) चारों तिमाही बराबर दिनों की हैं।

(२) प्रत्येक माह, प्रतिवर्ष एक निश्चित दिन प्रारंभ होगा।

(३) प्रत्यक वर्ष रविवार को प्रारंभ और शनिवार को समाप्त होगा।

(४) प्रत्येक तिमाही का पहला महीना ३१ दिनों का तथा बाकी दो महीने ३०-३० दिनों के होंगे।

(५) प्रत्येक वर्ष के अंत में ३० दिसम्बर और १ जनवरी के मध्य का एक दिन "अन्तर्राष्ट्रीय अवकाश दिवस" के रूप में छुट्टी का दिन रहेगा। इसी प्रकार प्रति चौथे वर्ष लीप-ईयरडे के रूप में ३० जून तथा १ जुलाई के मध्य का दिन भी छुट्टी का दिन रहेगा। इन दोनों दिनों का न तो कुछ नाम रहेगा, न इनकी गणना ही कलेण्डर में होगी।

उपरोक्त विशेषताओं को देखकर इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि यदि यह कलेण्डर प्रचलित हो गया तो सभी कार्यों के दिन निश्चित हो जाएँगे, प्रति वर्ष कलेण्डर छपाने की आवश्यकता नहीं रहेगी। प्रत्येक वर्ष समान रहेगा तथा बकी आदि को बजट वगैरह बनाने में सुविधा रहेगी।

पर सच पूछा जाय तो इस कलेण्डर के समर्थक जो इसके इतने लाभ बतलाते हैं, वह झूठी मृगतृष्णा ही है। पहले-पहले भले ही लोग ऊपरी चमक-दमक में आकर इस पर रीझ जाएँ पर धीरे-धीरे दो चार वर्षों में ही लोग इससे ऊब जाएँगे और फिर नए कलेण्डर की मांग करेंगे।

आप पूछेंगे ऐसी संभावना क्यों की जाए ? तो सीधा उत्तर यही है कि मनुष्य सृष्टि के प्रारंभ से ही परिवर्तनशील प्राणी रहा है। उसे परिवर्तन प्रिय है। अतः कलेण्डर भी वह ऐसा ही पसंद करेगा जिसमें दिन प्रति वर्ष बदलते रहें। एक ही प्रकार के जीवन में रहते-रहते मन ऊब जाता है और जीवन नीरस हो जाता है। मनुष्य नई-नई चीज का इच्छुक रहता है। पर प्रतिवर्ष नए कलेण्डर के अनुसार जब एक से दिन और एक सी तारीखें आएंगी, तो कलेण्डर के प्रति लोगों का आकर्षण कम रह जाएगा।

रहा प्रश्न प्रतिवर्ष कलेण्डर छपाने का व्यय बचाने का। तो इस प्रश्न के दूसरे पहलू पर भी हमें विचार करना चाहिए। अभी प्रतिवर्ष कलेण्डर बदलने के कारण चित्रकारों व कलाकारों को अपनी प्रतिभा के दर्शन कराने का अवसर मिलता है। हमें प्रतिवर्ष सैकड़ों सुन्दर-सुन्दर चित्र देखने को मिलते हैं। इससे कलाकारों को भी उत्साह मिलता है। तथा उनकी प्रतिभा विकसित होती है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि प्रतिवर्ष कलेण्डर बदलने से हजारों कलाकारों की रोजी चलती है पर "विश्वकलेण्डर" के प्रचलन से बहुतों की कोई पूछ नहीं रहेगी।

दूसरी बात यह है कि 'विश्व कैलेण्डर' में भी थोड़े बहुत वे दोष एवं कमियाँ रह जाती हैं जो वर्तमान प्रचलित कलेण्डर में हैं, जैसे—वर्तमान कलेण्डर के समान 'विश्व-कलेण्डर' में भी प्रत्येक महीने में दिन समान नहीं हैं। विश्व-कलेण्डर के अनुसार फरवरी में ३० दिन होंगे, अप्रैल में ३१ तथा मार्च, अगस्त, मई और दिसम्बर में ३०–३० दिन ही रह जाएँगे। इसका एक सबसे बुरा प्रभाव यह पड़ेगा कि जिन लोगों का जन्म ३१ मार्च, ३१ अगस्त,

३१ मई और ३१ दिसम्बर को अब तक हुआ होगा, उनकी जन्मतिथि भविष्य में फिर कभी नहीं आएगी। इस दुःख को वे कभी नहीं भुला सकेंगे। इसी प्रकार एक और बुरा प्रभाव यह होगा कि जिन लोगों का जन्म भविष्य में "अंतर्राष्ट्रीय अवकाश" के दिन होगा, वे लोग अपने जन्म दिन का नाम भी नहीं जान सकेंगे, तारीख तो उनकी लापता रहेगी। अतः जब कभी कोई उनकी जन्म तिथि पूछेगा तो वे मन ही मन में कुढ़ेंगे। यह हो नहीं सकता कि "अन्तर्राष्ट्रीय अवकाश" के दिन माताओं को बच्चे जनने से भी 'अवकाश' मिल जाए। बच्चे तो उस दिन पैदा होंगे ही। पर जो बच्चे उस दिन पैदा होंगे, उन्हें अभागे ही कहना पड़ेगा।

धार्मिक कारणों से भी 'विश्वकलेण्डर' का समर्थन नहीं किया जा सकता। और चूँकि इस कलेण्डर के अनुसार माने जाने वाले दो अन्तर्राष्ट्रीय दिवसों को कलेण्डर में कुछ भी स्थान प्राप्त नहीं अतः प्रत्येक व्यक्ति के जीवन के उतने दिन कम होते जाएँगे।

भारत में 'विश्वकलेण्डर' नहीं अपनाया जाए, इसका सबसे बड़ा कारण तो यही है कि विश्वकलेण्डर के निर्माण की आधार भूमि पाश्चात्य मस्तिष्क, आचार-विचार एवं जीवन पर स्थिर है। भारतीय जीवन से उसका कोई सामंजस्य नहीं। अतः यदि विश्वकलेण्डर अपनाया गया तो भी अधिकांश भारत में विश्वकलेण्डर के साथ ही साथ उसके अपने अन्य बहुत से कलेण्डर भी चलते रहेंगे, जैसे कि अभी भी चल रहे हैं। भारतीय त्योहारों, पर्वों, मांगलिक उत्सवों आदि के लिए हमें अपने भारतीय पंचांग का ही आश्रय लेना पड़ेगा। भारत के समान इसी प्रकार अन्य बहुत से देशों में भी वहाँ के अपने कलेण्डर प्रचलित हैं व प्रचलित रहेंगे।

सच्चा वैभव

—श्री एस० कान्त

अरुणा जब सोकर उठी, तो एकाएक उसे अपने मायके की याद आई और उसका मन भारी हो उठा। साल में एक दफा उसके पिता जी अपने सब बाल-बच्चों को अपने यहाँ बुलाते थे। एक हफ्ते बाद अरुणा को भी अपने परिवार के साथ जबलपुर जाना था। सभी लोग वहाँ मई के पहले हफ्ते तक इकट्ठे हो जाया करते थे। रंजना, उसकी छोटी बहिन और उसका पति, उसकी बड़ी बहिन लीला और उसका पति तथा दो बच्चे, सभी वहाँ पहुँच जाते थे; और उसका भाई नवनीत तो वहीं रहता था और उसकी पत्नी भी। इस तरह सभी लोग साल में एक बार मिलते थे।

अरुणा के लिए हमेशा यह मिलन बड़ा दुःखदायी होता था। वहाँ जाने के पंद्रह दिन पहले से लेकर वहाँ से लौटने के बाद एक-डेढ़ महीने तक उसका चित्त अशान्त रहता था। बहुत घबराती थी वह अपने पिता के यहाँ जाने के विचार से। उन सब लोगों से मिल कर उसकी हीनता की भावना बहुत ही अधिक बढ़ जाती थी। इससे उसे बहुत दुःख होता था; उसके उदास और निराशापूर्ण जीवन में और अधिक उदासी छा जाती थी।

बिस्तर पर बैठी हुई वह अपने पिता के परिवार की कल्पना कर रही थी। किस तरह वे सब उस बड़े भारी, आलीशान मकान में इकट्ठे होते थे! छोटी बहिन रंजना अपने चुप्पे और गुमसुम, लेकिन धन कमाने में बहुत होशियार पति सुरेन्द्र के साथ पूरे ठाठ-बाट में वहाँ सबसे पहले पहुँचती थी। लीला का पति तीन-चार होटलों का मालिक था। उसका भाई नवनीत भी एक पेट्रोल कम्पनी में बहुत ऊँचे ओहदे पर नियुक्त था और लगभग छः-सात सौ रुपया तनख्वाह तथा कार का भत्ता पाता था। अभी उसकी उम्र सिर्फ तीस साल की थी। नवनीत अरुणा से दो साल छोटा था और उसे बहुत प्यारा था। एक तरफ यह शाही ठाठ-बाट के लोगों का परिवार और एक तरफ था अरुणा का अपना परिवार।

अपने परिवार का ख्याल आते ही उसकी नजर पास में चारपाई पर ऊँघते हुए अपने पति पर पड़ी। कभी सुख नहीं दे सका यह आदमी उसे। आज सत्रह साल हो गये। कभी इस घर की दरिद्रता दूर नहीं हुई। अरुणा के सपने कभी पूरे नहीं हुए।

अरुणा के पति रमाशंकर एक सीधे-सादे और ईमानदार आदमी थे। जो कुछ मिलता था उसी में सन्तोष करने की उनकी आदत थी। और वे चाहते थे कि अरुणा भी उसी में सन्तोष करे। लेकिन उसे कभी सन्तोष नहीं हुआ। भला एक फोटोग्राफर की जिन्दगी भी कोई सन्तोष करने की चीज़ है। इस शहर में पचासों फोटोग्राफर पड़े हैं। कौन किसे पूछता है? रमाशंकर की आमदनी कभी डेढ़-दो सौ से ज्यादा नहीं हुई। और खर्च का कोई हिसाब ही नहीं। आठ बच्चों का खर्च! गिरा-पड़ा मकान है, हर साल उसी में कुछ न कुछ निकल जाता है। और किसने कहा था कि फोटोग्राफी करो? अच्छी सरकारी नौकरी थी, गवर्नमेन्ट प्रेस में सुपरवाइज़र थे। भगवान की दया होती, तो कुछ दिनों में जिन्दगी बन जाती। लेकिन ताव में आकर नौकरी छोड़ बैठे।

राष्ट्रीय आन्दोलन के दिन थे वे। सभी लोग देश के नाम पर सरकारी नौकरियाँ छोड़ रहे थे। उन दिनों तो यह कोई निश्चय नहीं कर पाये; लेकिन तीन-चार साल बाद विदेशी सरकार की नौकरी से इनका भी मन ऊब गया। और इन्होंने भी नौकरी छोड़ दी। कई महीने बेकार रहे, घर में रोटी के लाले पड़ने लगे। वह तो कहो कि फोटोग्राफी का शौक था, इसलिए रोटी की आशा बाँधने का एक बहाना हो गया। बड़ा संघर्ष था जीवन के इस बदले ढाँचे में। कुछ दिनों तक अरुणा ने भी पूरे मन से साथ दिया था। लेकिन बाद में यह साफ़ होते देर न लगी कि इसमें कोई भविष्य नहीं है।

अरुणा चाहती थी कि उसके पास भी पैसे हों, गहने हों, अच्छा मकान हो; ताकि वह अपने भाई-बहिनों के बीच अपने को हीन न समझ सके। लेकिन ऐसा कभी नहीं हुआ और न होने वाला था। उसने एक आह भर ली और फिर वह बिस्तर से उठ आयी। बहुत सा काम करना बाकी पड़ा था। अभी बच्चों को उठाना था; उन्होंने बिस्तर खराब कर दिया था—उसे धोना था। शशि और जगत को तैयार कर स्कूल भेजना था। सुरेन्द्र और अनुराधा को जगाकर दूध लेने भेजा था। नरेश रात को भूखा ही सो गया था और सबसे

बड़े सूरज और उससे छोटी कंचन को भी उठाना था—नौ बजे तक वे पढ़ने जायेंगे।

जब आठ बजे तक रसोई घर में सब बच्चे इकट्ठे हुए तो फिर से अरुणा का सिर-दर्द शुरू हुआ। सब बच्चे एक साथ खाना माँग रहे थे। और सबको बराबर खाना चाहिए। छोटे हमेशा बड़ों की नकल में सबसे बड़े बर्तन लेकर खाने बैठते थे। कोई दिन ऐसा नहीं था जब नन्हा दूध नहीं गिराता, या शशि चाय की प्याली नहीं उलट देती। जगत का हर रोज मुँह जल जाता था और वह चीखने लगता था। अरुणा को इस भीड़-भाड़ से बड़ी चिढ़ छूटती थी। वह चिल्लाने लगती थी। लेकिन श्यामा और उसके पिता रमाशंकर किसी न किसी तरह से बच्चों को सँभालने की कोशिश करते थे। उसके पति बच्चों को मनाने की कला में बड़े निपुण थे।

अरुणा को उदास देख कर रमाशंकर ने समझ लिया कि मामला क्या है। रात को वे लोग इसी सवाल पर बातें करते-करते सोये थे। रमाशंकर ने अपने भरसक उसे समझाने की कोशिश की थी कि अपने भाई-बहिनों के बीच इस तरह उसे अपने को हीन नहीं मानना चाहिये, लेकिन अरुणा सिसकती ही रही। वह इस बार वहाँ जाना ही नहीं चाहती थी।

लगभग हफ्ते भर तक जबलपुर जाने के सवाल पर पति-पत्नी में काफी बहस होती रही। अन्त में रमाशंकर अरुणा को राजी करने में सफल हो गया। वह जानता था कि मन में अरुणा अपने पिता के घर जाने के लिए और अपने भाई-बहनों से मिलने के लिए कितनी उत्सुक रहा करती है, हालांकि इधर उसकी हीनता की भावना काफी बढ़ गई थी। अरुणा ने जाने की तैयारी शुरू कर दी। इस बार उसने अपने भाई-बहिनों के लिए अच्छी-से-अच्छी चीजें तैयार करने का निश्चय किया। वह चाहती थी कि किसी न किसी तरह वह उनकी दृष्टि में अपना महत्व सिद्ध कर सके। उसने गोभी और आलू के बहुत से समोसे बनाये। बिल्कुल आगरा के दालमोठ की नकल कर चटपटा दालमोठ तैयार किया। नमकीन सेवड़े, मीठे शकरपारे और न मालूम क्या-क्या तैयार करके उसने दो बड़ी-बड़ी डालियाँ भर लीं।

× × × ×

जबलपुर स्टेशन से जब वे लोग घर चले, तो उन्हें दो ताँगे करने पड़े। आठ बच्चों के अलावा काफी सामान था। दो ताँगों में भी बड़ी दिक्कत हो

रही थी। सब एक-दूसरे पर लदे पड़ रहे थे। एक बच्चे का पैर किसी से दब गया। उसने ताँगे में ही चीखना शुरू कर दिया। उधर दो बच्चों में आगे की सीट पर बैठने के सवाल को लेकर मुक्के तन गये थे। गिरते-पड़ते किसी तरह समान को रमाशंकर ने सँभाला और बच्चों को अरुणा ने।

जब वे लोग घर पहुँचे, तो नवनीत ने आगे बढ़ कर अरुणा के हाथ से बच्चा ले लिया। अरुणा जानती थी कि उसे बच्चे बड़े प्यारे लगते हैं। बेचारा नवनीत! चार साल हुए उसकी शादी को, लेकिन उसके चाहते हुए भी उसे कोई बच्चा नसीब नहीं हुआ। अरुणा की भाभी संध्या आधुनिक विचारों की थी। एक बार उसने अरुणा के पूछने पर कहा था कि बच्चों से मुझे नफरत है, बच्चे होने से स्त्री का स्वास्थ्य और सौंदर्य नष्ट हो जाता है। अरुणा को उसकी बात सुनकर न केवल नवनीत के लिए दुख हुआ, बल्कि उसे ऐसा लगा जैसे उसके मुँह पर किसी ने तमाचा मार दिया हो। अपना सौंदर्य उसे भी प्यारा था। तो क्या इतने बच्चे पैदा कर उसने मूर्खता की? सचमुच उसने उस दिन अपने आपको बूढ़ी और थकी हुई महसूस किया हालाँकि उसकी उम्र अभी सिर्फ चौंतीस साल की थी। उसने एकबार अपनी ओर देखा और फिर अपनी भाभी की ओर। छः साल ही तो छोटी थी उसकी भाभी उससे, लेकिन ऐसा लगता था जैसे अभी-अभी उसने सोलहवाँ पार किया हो। रूप, सौंदर्य और स्वास्थ्य जैसे उस पर बहार पर थे। पाउडर, क्रीम, लाली और दूसरे आधुनिक सौंदर्य-साधनों का प्रयोग जैसे केवल उस पर ही सफल हुआ था। लेकिन फिर भी न मालूम क्यों अरुणा को अपनी भाभी पसन्द नहीं आती थी।

इस बार भी उसने अपनी भाभी के ओठों पर एक व्यंग की मुस्कान देखी और उसका दिल बैठ गया। अरुणा इस मुस्कान का अर्थ खूब समझती थी। वह जानती थी कि भाभी उस पर और उसके बच्चों पर हँस रही है। लेकिन यों किसी के हँसने की जगह अरुणा ने नहीं छोड़ी थी। खूब सजा-सँवार कर और नहला-धुला कर वह अपने बच्चों को रखती थी। उसने उन्हें सफाई से रहना और अच्छी आदतें सीखना सिखाया था। बड़े लोगों के बच्चों की तरह इतराना भले ही वे न जानते हों, लेकिन अरुणा ने उन्हें भले और अच्छे बनने की सीख दी थी। इसलिए उसके बच्चों को कोई हिकारत की नजर से देखे यह उसे बिल्कुल पसन्द नहीं था।

घर के दरवाजे पर ही भाभी के इस बर्ताव से अरुणा का मन खट्टा हो गया। अन्दर जाने पर उसे मालूम हुआ कि सब लोग आ चुके हैं। हमेशा की तरह अरुणा का परिवार ही सबसे बाद में पहुँचा। इस पर उसकी माँ ने एक मजाक भी किया कि हमारी अरुणा तो यमराज के यहाँ भी देर से ही पहुँचेगी। उसके पिताजी उससे मिलकर बड़े खुश हुए। और यों अरुणा की उदासी कुछ कम हुई।

ऊपर की मंजिल में इन लोगों के ठहरने के लिए दो कमरे निश्चित थे। वहीं जाकर उन्होंने डेरा डाल दिया। शाम को लॉन में सब लोग इकट्ठे हुए। नाश्ते की तैयारी थी। तभी अरुणा ने अपने बच्चों से मिठाई की दोनों डलियाँ उठा लाने को कहा। बच्चे दौड़े गये और ले आए। नवनीत उसके उसके समोसों पर टूट पड़ा।

"अरुणा जीजी मेरा कितना ख्याल करती हैं!" एक समोसा खाते हुए उसने कहा। गोभी के समोसे उसे बहुत पसन्द थे। "लेकिन यह तो बताओ इस मौसम में गोभी तुम्हें कहाँ से मिली?" उसने पूछा।

"हम लोगों ने एक नया प्रोग्राम किया है—बेमौसम की गोभियाँ उगायी हैं। आँगन के एक कोने में चार गोभियाँ तैयार हुई," रमाशंकर ने कहा।

तभी अरुणा की माँ बोली—"और कितना सारा सामान ले आई हो तुम! इतनी चीजों का क्या होगा?"

उधर दालमोठ की फंकी लगाते हुए उसकी छोटी बहिन रंजना कह रही थी—"जीजी, यह दालमोठ तुमने खूब बनाया है!"

अपने पकवानों की तारीफ सुनकर अरुणा मन ही मन बड़ी खुश हुई।

बच्चों के लिए अलग टेबुल पर तश्तरियाँ लग गई और दूसरी बड़ी मेज पर और लोग खाने बैठे। बातों का विषय ऐसा था, जिसमें अरुणा कोई दिलचस्पी ही नहीं ले सकती थी। लीला ने हाल में ही एक अपना नया बँगला बनवाया था। वह उसकी विशेषताएँ बखान रही थी—"और हम तो उसमें गर्मियों में नहाने के लिए एक हौज भी बनवायेंगे। क्यों, पापाजी, हौज में संगमरमर की सीढ़ियाँ लगाना ठीक रहेगा न। एक हॉल हमने दोहरी दीवाल का बनवाया है। उसमें इसी साल हम मशीन भी फिट करवा लेंगे। अच्छा एयर-कंडीशन्ड हॉल रहेगा।"

उधर उसके जीजा रामलाल अपने होटलों के व्यवसाय के बारे में रमाशंकर से बातें कर रहे थे। नवनीत अगले साल विदेश-यात्रा पर जाने की अपनी योजनाएँ सुना रहा था। और उसकी पत्नी संध्या हॉलीउड की किसीम शहूर फिल्म अभिनेत्री के नवीनतम रोमांस के बारे में रंजना को चावसे सुना रही थी।

इन लोगों के बीच अरुणा का मन नहीं लग रहा था। वह अपने आप को उपेक्षित-सी महसूस कर रही थी। भला इन बातों में उसकी क्या रुचि हो सकती थी ? रह-रह कर उसे यह विचार होता था कि आखिर ये लोग क्यों मेरे सामने इस तरह की बातें करते हैं ! ये जानते हैं कि इनके पास जो कुछ है वह मेरे पास नहीं है। मैं एक गरीब आदमी की स्त्री हूँ। कभी-कभी उसके मन में इन लोगों के प्रति घृणा भी होने लगती थी। लेकिन पति पर खीझने लगती थी। उसे अपने भाग्य पर तरस आने लगता था। इस समय भी वह रह-रह कर यही सोच रही थी कि अगर मेरे पति भी इतने पैसे वाले होते, तो आज मुझे इन लोगों के बीच छोटा नहीं बनना पड़ता।

वह इतने साल से इसी बात का इन्तजार कर रही थी कि कभी-न-कभी उसके पास इतने पैसे हो जायेंगे कि वह इन लोगों को दिखा सकेगी कि वह इतनी हीन नहीं है, जितनी वे लोग उसे समझते हैं। काश, कुछ ही दिनों के लिए उसकी स्थिति ऐसी हो पाती ! लेकिन वह जानती थी कि ऐसा कभी न होगा और हमेशा इन लोगों के सामने उसे नीचा देखना पड़ेगा। उसकी छोटी बहिन का पति शायद रमाशंकर की विपन्नता के बारे में धीरे से नवनीत से कुछ कह रहा था, और अरुणा को ऐसा लगा कि जैसे वे लोग उसके खिलाफ कोई षड्यंत्र रच रहे हैं। नवनीत ने रमाशंकर की ओर देखा और अरुणा को लगा जैसे उसकी आँखों में उसके प्रति एक तरस की भावना थी। अरुणा के लिए इस जगह का वातावरण ऐसा हो रहा था जैसे वह अपने कटु-आलोचकों के बीच आ बैठी हो।

हालाँकि उन लोगों ने खुले आम ऐसी कोई बात नहीं कही कि जिससे अरुणा या उसके पति का अपमान होता, लेकिन इतना साफ था कि उन्हें अरुणा की दरिद्रता पर तरस आ रहा था। और अरुणा के लिए यही असह्य था।

अरुणा चाहती थी कि वे लोग इस तरह उसकी उपेक्षा करने के बजाय यह देखें कि किस तरह कम आमदनी में वह अपना खर्च चला लेती है,

किस तरह अपने बच्चों को उसने सुधारा है, किस तरह पुराने कपड़ों की मरम्मत करके और उन्हें धो-साफ कर बिल्कुल नए-से बना लेती है ! लेकिन जैसे उन लोगों के लिए इन सबका कोई महत्व ही नहीं था। उन्होंने अरुणा के लाए हुए पकवानों की तारीफ भी सिर्फ दिखाने के लिए की थी, यह उससे छिपा नहीं था । उनमें एक नवनीत ही ऐसा था जो बार-बार समोसे की तारीफ किये जा रहा था ।

इसी बीच उधर बच्चों की टेबुल पर झगड़ा हो गया। नन्हें ने एक तश्तरी उलट दी थी और लीला की लड़की इस पर उससे झगड़ा कर रही थी। अरुणा फौरन उठी और उनके पास चली गई। किसी तरह उसने सबको समझाया-बुझाया। लेकिन उससे यह छिपा नहीं रहा कि लीला के बच्चे उसके बच्चों से घृणा करते हैं। उसे यह देख कर बड़ी तकलीफ़ हुई।

अरुणा के लिए यह स्थिति बड़ी कठिन थी। न सिर्फ उसके भाई-बहिन ही, बल्कि उनके बच्चे भी उसे और उसके परिवार को गया-बीता और हीन समझते हैं ! और तभी लीला ने अरुणा को अपने पास बुला कर कहा—"क्यों नहीं तुम लोग हमारा थोड़ा-सा पुराना फर्नीचर ले लेते ?" उसने बताया कि नये मकान के लिए उसके पति ने नयी डिजाइन के फर्नीचर का आर्डर दिया है।

अरुणा को लगा जैसे लीला उसका अपमान कर रही हो। उसका सिर भन्ना उठा—मैं इनका पुराना फर्नीचर लूँ ? इस कदर गये-बीते हो गये हैं हम ? किसी तरह अपने को सँभाल कर उसने कहा—"नहीं, जीजी, हम लोगों के पास काफी फर्नीचर है, इसके अलावा जगह भी तो कम है। कहाँ रखेंगे ?" यह कह कर उसने अपने ओठों पर एक मुस्कान लाने की कोशिश भी की।

लीला बोली—"मैं तो बराबर कहती हूँ तुम लोगों से कि कानपुर आ जाओ। मेरा पुराना मकान खाली ही पड़ा है। इसके अलावा कानपुर वाली दूकान देखने के लिए हमें एक आदमी की भी जरूरत है। रमाशंकर जी बेकार ही फोटोग्राफी के चक्कर में अपने को बरबाद कर रहे हैं।"

लेकिन अरुणा ने उसे और ज्यादा नहीं बोलने दिया। वह नन्हें के सिर पर हाथ फेरते हुए बोली—"तुम तो जानती ही हो, बहन, उन्हें इस तरह के काम में कोई दिलचस्पी नहीं। वे अल्हड़ तबियत के आदमी हैं, उनकी किसी के साथ बनती नहीं।"

उसका मन तो हुआ कि कह दे—"क्या तुम्हारा गर्व इतना बढ़ गया है कि हमें अपना नौकर रखना चाहती हो ?" लेकिन वह कुछ बोली नहीं। लीला यह कहती हुई अपने बच्चे के पास चली गयी कि मैंने तो सोचा कि तुम लोग इसे पसन्द करोगे, जैसी तुम्हारी मर्जी।

उस रात बिस्तर में अरुणा खूब फूट-फूट कर रोयी। रह-रह कर उसे अपने पति पर और अपने भाग्य पर क्रोध आ रहा था। इतनी उपेक्षा और इतना अपमान उसके लिए बहुत ज्यादा था, उसकी सहन-शक्ति जवाब दे रही थी। वह जल्दी से जल्दी अपने घर लौट जाना चाहती थी। उसने अपने पति से भी इस बात का जिक्र किया, लेकिन उसे जैसे इसकी कोई परवाह नहीं थी। रमाशंकर ने इस तरह हँस कर उसकी बात उड़ा दी कि जैसे वह कोई नादानी की बात कर रही हो। इससे अरुणा को और भी दुःख हुआ। उसने अपने आपको अकेली महसूस किया। वह वहाँ से जल्दी से जल्दी जाने का कोई बहाना सोचने लगी।

दूसरे दिन फिर वही अपने भाई-बहिनों के नवाबी चोंचले उसे सुनने को मिले। वही हॉलीउड के नए से नए फैशन और वहाँ के फिल्म कलाकारों के नित नए रोमांसों के किस्से, रीता हेवर्थ और प्रिन्स अली खाँ के किस्से, घुड़दौड़ और बम्बई के दिवालिए सेठों के किस्से, बॉल डान्स और गार्डेन पार्टियों के तरीके, नयी से नयी मोटरों और रेडियो-ग्रामों की चर्चा। यहाँ तक कि अरुणा को लगा कि उसके माता-पिता भी इसी में दिलचस्पी ले रहे हैं। और क्यों न लें ? उन्हें किस बात की कमी थी ! उसके पिता अपने शिकारों के किस्से सुना रहे थे। अच्छे-अच्छे जमींदारों और ताल्लुकेदारों से उनकी दोस्ती थी।

अपने ही लोगों के बीच अरुणा अपने को अधिक-से-अधिक परायी महसूस कर रही थी। वे लोग जब इस तरह की बातें करते, तो वह टुकुर-टुकुर उनकी ओर ताका करती। काफी देर तक ऐसा मौका ही नहीं आता कि वह भी वार्तालाप में कुछ हिस्सा ले सके।

लेकिन रमाशंकर के साथ यह दिक्कत नहीं थी। किसी भी वर्ग के लोगों के साथ उसकी निभ जाती थी। हर तरह की बात में वह दिलचस्पी ले सकता था और अपना तथा दूसरों का मनोरंजन कर सकता था। वे लोग जब अपने बढ़ते हुए धन को खर्च करने की नई से नई योजनाओं के बारे में बातें करते

थे, तो रमाशंकर को अपनी दरिद्रता का या अपनी हीन स्थिति का कभी एहसास नहीं होता था और न उसे इसके लिए कभी कोई शर्म या हिचक ही मालूम होती थी ।

इस स्थिति में अपने पति के प्रति अरुणा का असन्तोष और बढ़ जाता था । वह सोचती थी कि देखो, कैसे मजे में बातें कर रहे हैं ! इतनी भी शर्म नहीं, जरा इसका तो ख्याल करें कि इनकी और अपनी स्थिति में जमीन-आसमान का फर्क है कहाँ ये लोग और कहाँ हम ! ये चाहें तो हमारे जैसे दस को खरीद सकते हैं । ज़रा इतना तो ख्याल आता कि ये लोग कितना कमाते हैं, और एक मैं हूँ जो कैमरा लिए मारा-मारा फिरता हूँ ! इनके बच्चे कैसे अच्छे कपड़े पहनते हैं, ऊँचे स्कूलों में पढ़ते हैं । इनकी बीबियाँ कीमती गहने पहनती हैं, रानियों-जैसी पोशाकें खरीदती है, मोटरों पर घूमती हैं । और एक हमारे बच्चे हैं, बेचारे कभी नया कपड़ा नहीं पाते । एक का कपड़ा छोटा हुआ, तो दूसरे ने पहन लिया, फिर उसे छोटा हुआ तो तीसरे ने पहन लिया—जब तक कपड़ा फट कर तार-तार नहीं हो जाता, तब तक हमारे बच्चे उसे गर्दन में डाले घूमते रहते हैं । और मेरी हालत पर कौन सोचता है ? तीन साड़ियों में मैं साल भर गुजार देती हूँ । लेकिन इस सब का इन्हें कोई सोच नहीं है ।

रात में जब उसने अपने मन की बात रमाशंकर को बतायी, तो वह ठहाका मार कर हँस पड़ा । फिर एकदम से गम्भीर होकर बोला—"देखो अरुणा, मैं कई बार तुम्हें समझा चुका हूँ कि किसी की हालत से अपनी तुलना नहीं करनी चाहिए । इनके पास पैसा है तो क्या हुआ, हुआ करे ! हमारे पास नहीं है, नहीं सही । क्या पैसा ही आदमी की जिन्दगी में बड़ी बात है ?

"और नहीं तो कौन सी बड़ी बात है ? क्या फटे चिथड़े पहन कर कैमरा लिए-लिए घूमना ?" अरुणा ने अपने दिल का सारा असन्तोष, सारी खीज प्रकट करते हुए कहा—"अपने को देखो और उनको देखो ! अपने बच्चों को देखो और उनके बच्चों को देखो ! वे भी तो आदमी हैं !"

"आदमी तो हैं मेरी रानी । लेकिन तुम्हें कैसे समझाऊँ ! क्या देखूँ अपने को और क्या उनको देखूँ ? मैं अपने मुँह से नहीं कहूँगा कि वे बुरे हैं, लेकिन इतना अपने दिल पर हाथ रख कर सोचो कि क्या उनकी आदतें तुम मुझमें देखना पसन्द करोगी ?" फिर रुक कर अपनी आवाज धीमी करते

हुए उसने कहा—"तुम अपनी रंजना और सुरेश को ही लो। माना कि उनके पास पैसा है। हजार-दो हजार नहीं, दो-तीन लाख की उनकी सम्पत्ति है। बहुत अच्छा खाते हैं, पहनते हैं, महल जैसे मकान में रहते हैं; लेकिन अपनी बहिन से पूछो कि जब सुरेश तीन-तीन दिन अपनी उस ऐंग्लो-इंडियन सेक्रेटरी को लेकर गायब रहता है तो उसके दिल पर क्या गुजरती है ? मालूम है, एक बार वह शराब में धुत् पड़े इन्कम टैक्स कमिश्नर के यहाँ रंजना को अकेली छोड़ आया था ? तुम सब जानते हुए भी ऐसी बातें करती हो ! लीला के बड़े लड़के रवीन्द्र को ही देखो, अपने शहर के मशहूर आवारा लड़कों में उसकी गिनती है। और तुम इतने पर भी इनके बच्चों और मेरे बच्चों में तुलना करने को कहती हो?"

अरुणा इस तरह की बातें रमाशंकर के मुँह से, कई बार सुन चुकी थी। वह जानती थी कि यह सब सच भी है, लेकिन फिर भी उसकी शिकायत अपनी जगह कायम थी। इन बातों के होते हुए भी वह यह मानने को तैयार नहीं थी कि उसके परिवार की स्थिति अपने भाई-बहिनों की स्थिति से अच्छी थी। वह अक्सर रमाशंकर को इसके लिए उलाहना देती रहती थी कि उसके साथ रह कर उसने एक दिन भी सुख की साँस नहीं ली। रमाशंकर जानता था कि उसकी पत्नी उससे और उसके रहन-सहन से असन्तुष्ट है। वह अपने भरसक उसे खुश करने की कोशिश करता था, अपनी आमदनी बढ़ाने के लिए भी रात-दिन अपना खून पसीना एक किए रहता था। लेकिन आज तक वह उसे संतोष नहीं दिला सका था। कभी-कभी उसे भी बड़ा दुःख होता था कि आखिर इन्सान पैसे को ही, भरे-पूरेपन और बाहरी दिखावे को ही इतना अधिक महत्व क्यों देता है ?

किसी तरह वह दिन भी बीता, और इसी तरह तीन दिन और बीत गए। ये छः दिन अरुणा ने वहाँ किस तरह बिताए यह वही जानती थी।

जब वे लोग चलने लगे, तो अरुणा के बहुत मना करने पर भी नवनीत ने हर बच्चे के हाथ में दो रुपये का एक एक नोट पकड़ा दिया। सुरेश ने उन्हें बहुत से खिलौने ले दिए, और अरुणा की माँ ने उसे कई जोड़ कपड़े भी दिए। कपड़े लेने से अरुणा आखिर तक इन्कार करती रही, लेकिन उसकी माँ न मानी और उसने गठरी उसके ताँगे में रखवा ही दी।

घर आने पर कई हफ्ते तक अरुणा का मन बड़ा उदास रहा। और यह

कोई नई बात नहीं थी। हर साल ही ऐसा होता था। अब उसके बच्चे भी काफी बड़े हो गए थे और वे भी इन बातों को समझते थे। वे जानते थे कि उनकी माँ की क्या परेशानी है। वे बेचारे बहुत चाहते थे कि वे कुछ ऐसा कर सकें जिससे उनकी माँ खुश हो, जिससे उसके असन्तोष की मात्रा कुछ कम हो जाय। कभी वे लोग अपने भोले दिमाग से इस तरह की कल्पनाएँ भी करते कि जैसे सभी भाई-बहिन कमाने लगे हैं और उनके पिता की भी आय काफ़ी बढ़ गयी है, और उन्होंने रुपये-पैसे का एक बड़ा भारी ढेर अपनी माँ के आगे लगा दिया है। माँ खुश हो गयी है और उसके मुरझाए हुए चेहरे पर आशा और उत्साह की एक चमक आ गयी है। लेकिन अपनी इस कल्पना को साकार करने के साधन उनके पास नहीं थे।

हर साल वे लोग अपने नाना के यहाँ जाते थे, और उनकी माँ के मन की उदासी के साथ-साथ उसका रूखापन बढ़ता जाता था। रमाशंकर के सारे प्रयत्न बेकार होते थे, और अरुणा अपने भाई और बहिनों की सफलता और सम्पन्नता को देखकर अपनी विपन्न और गरीब मध्यवर्गी स्थिति के प्रति असंतुष्ट होती जाती थी।

धीरे-धीरे समय बीतता गया। बच्चे बड़े होने लगे। जिस साल नन्हें पाँच साल का हुआ, उस साल सब लोग जबलपुर में इकट्ठे नहीं हुए। इस पूरे परिवार में एक ऐसी घटना हो गयी थी, जिसने सब लोगों के दिल को बड़ी तकलीफ दी।

हुआ यह था कि लीला का बड़ा लड़का रवीन्द्र अपने पिता के ही एक होटल में कहीं से एक लड़की भगा लाया और उसके साथ दुर्व्यवहार करने के अपराध में गिरफ्तार कर लिया गया। लीला और उसके पति रामलाल के लिए पहले तो इस धक्के को सहना ही असम्भव लगा। उन्होंने अपने आप को कही मुँह दिखाने लायक नहीं समझा। इसलिए अरुणा के पिता ने उस साल अपने यहाँ किसी को नहीं बुलाया और खुद लीला का मन बहलाने के लिए वे उसके यहाँ चले गए।

रवीन्द्र पर बाकायदा मुकदमा चला और उसे डेढ़ साल की सजा हो गई। उसके पिता ने उसका मुँह देखने से इन्कार कर दिया। उन्होंने उससे अपना सारा संम्बंध तोड़ लिया। उसके मुकदमे में भी उन्होंने उसकी कोई मदद नहीं

की । अखबारों में रोज मुकदमे की खबरों में इस मामले के सिलसिले में उनका नाम भी लिया जाता था, क्योंकि रवीन्द्र उनका बेटा था। इस स्थिति में रवीन्द्र के विरुद्ध उनका मन और अधिक फट गया।

जेल से रवीन्द्र अपनी मौसी अरुणा को अक्सर पत्र लिखा करता था। वहाँ के अकेलेपन ने उसका मन दुखी कर दिया था। इसके अलावा उसे अब अपने किए पर पश्चाताप भी हो रहा था। उसने रमाशंकर को एक चिट्ठी में लिखा कि मुझे इस बात का ज्यादा अफसोस नहीं है कि पिता जी ने अपना संबंध मुझसे तोड़ लिया है, बल्कि यह सोच कर मुझे ज्यादा दुःख होता है कि मैंने अपने साथियों के बहकावे में आकर ऐसी गलती कर ली; मैंने अपने और अपने परिवार के नाम को कलंकित कर डाला। जेल से निकलने पर अगर मुझे आप लोगों की सहानुभूति मिली तो संभव है मैं अपनी जिन्दगी नए सिरे से शुरू कर सकूँ।

अरुणा को उसकी चिट्ठी पढ़ कर दया आ गयी। उसने रमाशंकर से कह कर कुछ रुपए भी उसके पास भिजवा दिए। दो बार वह खुद भी रमाशंकर के साथ उससे मिलने गयी थी। उन्होंने उस लड़के को आश्वासन दिया कि वे उसकी मदद करने की कोशिश करेंगे। और सचमुच अपने भरसक वे लोग उसकी मदद करते रहे।

जेल से छूटने पर वह आगरा में ही आकर रहने लगा। उसने रमाशंकर से कुछ रुपया उधार माँगा। रमाशंकर ने दौड़-धूप कर उसके लिए रुपए का इन्तजाम कर दिया। इस रुपए से उसने एक छोटी-सी स्टेशनरी की दूकान खोल ली। किसी तरह ट्यूशन करके वह अपना खर्चा चलाने लगा।

दो साल में उसने रमाशंकर का रुपया लौटा दिया। इसमें सन्देह नहीं था कि वह गम्भीरता से अपने नये जीवन के निर्माण में लगा था। पुरानी आदतें वह बिलकुल छोड़ चुका था और रात-दिन खूब मेहनत करता था। लेकिन उसके पिता उसका नाम तक सुनने को तैयार न थे।

एक के बाद एक साल बीतते जा रहे थे। अब भी अरुणा के दिल से अपने भाई-बहनों की उन्नति और उनकी आर्थिक सफलता देखकर अपनी दरिद्रता के लिए उठने वाला असन्तोष दूर नहीं हुआ था। अब भी उसके लिए अपने पिता के यहाँ जाना और वहाँ सब लोगों के बीच दो-चार दिन बिताना एक कठिन परीक्षा के समान होता था।

उसका भाई नवनीत विदेश घूम आया था और कम्पनी में उसका पद भी बढ़ गया था। अब उसकी आय कुल मिला कर लगभग एक हजार रुपया मासिक थी। अरुणा की भाभी संध्या की उम्र काफी होने आयी थी, लेकिन अब भी वह बनाव-शृंगार के जरिये अपने आप को छोटी दिखाने की कोशिश करती थी। अरुणा को अपनी माँ से पता चला कि उसके भाई का पारिवारिक जीवन सुखी नहीं है। उसकी भाभी एक लेखक के चक्कर में फँसी हुई है, जिसके पास पैसा तो खास कुछ नहीं है, लेकिन स्त्रियों को प्रभावित करने की कला में वह बड़ा निपुण है।

लीला के तो रंग ही निराले थे। उसके पति रामलाल ने अपने होटलों का एक जाल-सा प्रांत के लगभग सभी शहरों में बिछा लिया था। इसके अलावा उसकी एक शाखा बम्बई में भी जल्दी ही खुलने जा रही थी।

रंजना बिलकुल सेठानी ही बनी रहती थी। सुरेश ने इधर कुछ फिल्म कम्पनियों के शेयर खरीद लिए थे। अब वह इस प्रान्त में फिल्म वितरण की एक बड़ी कम्पनी खोलने की तैयारी में था।

और अरुणा और रमाशंकर जिस जगह बरसों पहले थे, वहीं आज भी बने हुए थे। वही रात-दिन पैसे की तंगी, खर्च का बढ़ते जाना। गिरता हुआ मकान और घर में दरिद्रता का निवास। अब बच्चे भी कुछ काम करने लगे थे। लेकिन उससे होता क्या था? इसके अलावा अरुणा तो अपनी तुलना अपने भाई और अपनी बहनों की आर्थिक स्थिति से करती थी, और अपनी इस आदत को छोड़ने का कोई कारण ही नहीं देखती थी।

अब बड़ा लड़का सूरज देहरादून के सैनिक प्रशिक्षण केन्द्र में भर्ती हो गया था। श्यामा ने मुहल्ले के ही एक म्युनिसिपल स्कूल में बच्चों को चित्रकारी सिखाने का काम शुरू कर दिया था। सुरेन्द्र ग्यारहवें दर्जे में पढ़ता था और दो-तीन ट्यूशनें भी करता था। बारह बरस का जगत भी पढ़ने में खूब मन लगाता था और साथ ही लोगों के घर अखबार पहुँचाने का काम भी करता था। रमाशंकर ने अपने सभी बच्चों को अपने पैरों पर खड़ा होना सिखाने की पूरी कोशिश की थी।

इस साल भी जब जबलपुर जाने की बात होने लगी, तो हमेशा की तरह अरुणा का मन उदास रहने लगा। बच्चों ने इस बार अपनी माँ के दिल से इस उदासी को हमेशा के लिए दूर कर देने का निश्चय किया। उन्होंने चुप-

चाप एक योजना बनायी। यहाँ तक कि रमाशंकर को भी उनके निश्चय के बारे में कुछ पता नहीं चल सका।

जब जबलपुर जाने में एक हफ्ता रह गया, तो उन्होंने एक दिन अपने घर को खूब सजाया। सब ने मिल कर सामान इधर-उधर रख दिया और कमरों को इस तरह व्यवस्थित कर दिया, जैसे उनमें बहुत जगह हो। बैठक के कमरे को खास तौर से सजाया गया। अरुणा उनसे बार-बार पूछती थी कि आखिर यह सब बेकार की उठा-पटक क्यों हो रही है, लेकिन सब हँस कर रह जाते थे और उसे कुछ नहीं बताते थे।

शाम को सब बैठक में इकट्ठे हुए। बच्चों ने मिलकर अरुणा को बीच वाली कुर्सी पर बिठाया। अरुणा नन्हें को अपने घुटनों पर लेकर बैठ गयी। उसे आश्चर्य हो रहा था कि आखिर ये क्या करने जा रहे हैं। इतने में सबसे छोटे जगत ने दफ्ती का एक डिब्बा, जो एक खूबसूरत फीते से बँधा था, लाकर उसके हाथों में थमाते हुए कहा—"माँ, यह लो। यह हम लोगों की ओर से आज तुम्हारे जन्म-दिन का उपहार है। आज तुम्हारा जन्म-दिन है न। हमने नाना जी से सब पता लगा लिया था। तुम हमेशा हम लोगों के जन्म-दिन मनाती हो, आज हम लोग तुम्हारा जन्म-दिन मना रहे हैं।"

सब बच्चे अपनी माँ को घेर कर खड़े थे। अरुणा ने एक बार जगत की ओर देखा, फिर दूसरे बच्चों की ओर देखा और उसकी आँखें टेबुल पर रखे हुए उस डिब्बे पर रुक गयीं। और फिर अचानक उसकी आंखों में खुशी के आँसू उमड़ आये। उसका बच्चा उसके लिए कैसी बातें कह रहा था! अपने सब बच्चों के खुशी से चमकते हुए चेहरों को देख कर वाकई उसका दिल भर आया।

तभी उसकी मझली बेटी कंचन उसके गले में हाथ डालते हुए बोली—"हाँ माँ, हम लोग तुम्हें तुम्हारे जन्म-दिन पर आज बधाई देते हैं, क्योंकि, माँ, अगर तुम न होती, तो हम लोग कहाँ से होते और कहाँ हम लोगों के जन्म-दिन मनाये जाते!"

अरुणा के लिए इतनी खुशी बहुत थी। उसके गालों पर से आँसू बहने लगे। उसने नन्हें को अपनी छाती से लगा लिया। फिर उसे गोद से अलग करते हुए और डिब्बा खोलते हुए उसने कहा—"तुम लोगों को भी यह खूब बचपना सूझा! किसने बताया तुम्हें यह सब? देखें, क्या है इस डिब्बे में!"

डिब्बे में अरुणा के लिए एक बढ़िया कीमती साड़ी थी, श्यामा के हाथों सिले हुए दो सुन्दर से ब्लाउज थे, एक छोटी सोने की सस्ती अंगूठी थी। जगत नें अखबार बेच कर जो पैसे बचाये थे उनसे खरीदी हुई एक जोड़ सुन्दर सैंडिलें थी और एक अच्छा-सा कंघा भी था।

बच्चों ने हठ किया कि अरुणा इन चीजों को अभी पहन ले। काँपते हुए हाथों से अरुणा ने साड़ी और ब्लाउज पहना। बच्चे हँस रहे थे और अरुणा भी आँसू-भरी आंखों से हँस रही थी। इस रूप में उसने अपने आप को काफी सुन्दर पाया। सामने शीशे में उनकी झलक पड़ रही थी और वह दबी आँखों से उस ओर देख लेती थी। इतने में तो जगत ने चीख कर कह ही दिया—"अम्मा, जरा शीशे में देखो! देखो, तुम कितनी अच्छी लग रही हो!"

"हाँ, सच तुम कितनी सुन्दर लग रही हो!" रमाशंकर ने भी जगत की बात का समर्थन किया।

"अरे, रहने दो! तुम लोग मेरी गत बना रहे हो!" अरुणा ने शरमाते हुए कहा।

उसी समय किसी ने दरवाजा खटखटाया। कंचन जाकर खोल आयी। अरुणा ने देखा, रवीन्द्र भी बगल में एक पैकेट दबाये चला आ रहा था। उसने आकर पैकेट अरुणा के हाथ में थमाते हुए कहा—"अरुणा मौसी, यह मेरी तरफ से है। इन लोगों ने मुझे बताया कि ये लोग तुम्हारा जन्म-दिन मनाने जा रहे हैं, इसलिए मैं भी इसमें शरीक हो गया। मेरे पास इस समय पैसे ज्यादा नहीं है, तुम्हारे लिए सिर्फ एक पर्स लाया हूँ।" फिर वह रुक कर बोला—"सच मौसी तुम और मौसा जी, दोनों, बहुत बड़े आदमी हो, दोनों महान हो! अगर मैंने भी आप लोगों जैसे माँ-बाप पाये होते, तो कितना अच्छा होता! कम से कम मैं—कम से कम आज मेरी हालत यह न होती, मेरी आदतें खराब न होतीं और मुझे आज ये दिन न देखने पड़ते। कभी-कभी तो मुझे श्यामा और सूरज और इन बच्चों से ईर्ष्या होने लगती है कि इन्होंने तुम्हारे जैसी माँ पायी!"

इतना कहते-कहते रवीन्द्र का गला भर आया और वह बरामदे में भाग गया। अरुणा की आँखों में भी दुबारा आँसू उमड़ आये। उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि क्या कहे और कैसे कहे। खुशी और गर्व से उसकी छाती भर आयी थी।

दूसरे दिन देहरादून से अरुणा को सूरज की एक चिट्ठी मिली। चिट्ठी में लिखा था—

"मेरी अच्छी माँ,

मेरा ख्याल है, नानाजी के यहाँ जाने का समय पास आ रहा है। इन दिनों तुम्हारे मन की क्या स्थिति होगी, इसका मैं आसानी से अन्दाज लगा सकता हूँ। यही वे दिन हैं, जिनसे तुम साल भर डरती रहती हो। लेकिन, माँ, इस सिलसिले में तुम्हारे लिए कुछ बातें जाननी जरूरी हैं और आज मैं उन्हें तुम्हें साफ-साफ लिखना चाहता हूँ।

मैं यह कहना चाहता हूँ कि तुम दुनिया की सब से अच्छी माँ हो। तुम्हारे और बाबूजी के ऐसे माता-पिता संसार में जिसे भी मिलेंगे वह अपने को धन्य मानेगा। मुझे तुम पर गर्व है, माँ—तुम पर और बाबूजी पर भी। तुम दोनों ने हमारे लिए क्या नहीं किया? क्या नहीं सहा? हमें सुखी रखने और हमें अच्छे बनाने के लिए कितना भार सहा तुमने!

और माँ, आज हर आदमी हमारी तारीफ करता है। मुझे यहाँ के अच्छे लड़कों में माना जाता है। अफसर भी मेरा ख्याल रखते हैं, हालाँकि मैं एक गरीब घर का हूँ। मुहल्ले का कौन-सा घर ऐसा होगा, जहाँ तुम्हारी और तुम्हारे बच्चों की तारीफ न होती हो?

मेरे कहन का मतलब है, माँ कि सफलता इसी को कहते हैं। तुम्हारी वर्षों की तपस्या सफल हुई। यह मैं ही नहीं कह रहा हूँ, बल्कि हर वह आदमी कहता है, जो तुम्हें जानता है।

और माँ, मैं यह भी जानता हूँ कि तुम मेरे मामा और दूसरी मौसियों के बारे में क्या सोचती हो। लेकिन मैं यह कहूँगा कि यह तुम्हारा भ्रम है। वे लोग उतने सफल नहीं हैं और न उतने सुखी ही हैं, जितना तुम उन्हें समझी हो। पैसे के आडम्बर के अलावा वहाँ सब कुछ असफल है, खोखला है। मैं चाहता हूँ, माँ, तुम इसे समझो, और अपने दिल से उनकी झूठी सफलता का आतंक निकाल दो। माँ वे लोग तुम्हारी बराबरी नहीं कर सकते, दुनिया की कोई माँ तुम्हारी बराबरी नहीं कर सकती। उनके बाद उनके पैसों को, उनकी दूकानों और उनकी मोटरों को कोई नहीं याद रखेगा—उनके बैंक के खातों को देख कर कोई उन्हें याद नहीं करेगा। लेकिन तुम्हें

और बाबूजी को—हम, तुम्हारे बच्चे, तुम्हारी एक गौरव-भरी याद के रूप में लोगों को याद रहेंगे। तुम अमर रहोगी! लोग तुम्हारा उदाहरण देंगे।

इस तरह, मेरी प्यारी माँ, तुम दुनिया की सबसे धनवान, सबसे सम्पन्न और सबसे अधिक भाग्यशाली महिला हो।—तुम्हारा सूरज।"

सूरज की चिट्ठी क्या थी, अरुणा के जीवन में एक नयी सुबह की शुरूआत थी। सूरज ने ठीक ही कहा था कि उसने सच्चाई को देखने के बजाय व्यर्थ ही अपनी जिन्दगी को इतनी उदासी और निराशा से भर लिया था।

इस बार अपने पिता के यहाँ जब वह हर साल की भाँति गयी, तो सचमुच उसे अपनी जीत का एहसास हुआ। उसे लगा जैसे अपने पूरे कुनबे में सफल वही हुई—उसका साधारण फोटोग्राफर पति और वह। बाकी सब असफल लगे। नवनीत की पत्नी—अरुणा की भाभी—संध्या उस लम्पट लेखक के चक्कर में बुरी तरह फँस चुकी थी। वह उस पर काफी खर्च कर चुकी थी। इधर नवनीत उससे संबंध-विच्छेद की तैयारी कर रहा था। लीला अपने बेटे रवीन्द्र से बिछुड़ कर दुखी थी और उसका पति रामलाल भी सुखी नजर नहीं आ रहा था। अब वह खूब चुरुट पीने लगा था और उसे दिल की बीमारी भी शुरू हो गयी थी। उधर रंजना के पति ने एक और रखैल रख ली थी, जिसे वह माहवारी भत्ता देता था। रंजना अब भी उसके घर की मालिक थी, लेकिन भीतर ही भीतर गल रही थी।—ये थे वे लोग, जिन्हें अरुणा सफल और भाग्यशाली समझे हुए थी!

वह टेबुल के एक किनारे इन लोगों के साथ बैठी थी। लेकिन अब इनकी तड़क-भड़क का उस पर कोई असर नहीं था। उसके पर्स में उसके बेटे सूरज की वह चिट्ठी अब भी मौजूद थी, जिसे वह अपने जीवन का सबसे मूल्यवान उपहार मानती थी। उसने अपने पति रमाशंकर की ओर देखा, और उसकी छाती फूल उठी। अपने पति और उसके फोटोग्राफी के पेशे से वह असन्तुष्ट रही थी, लेकिन आज उसे लग रहा था कि सूरज का कहना सही था, सचमुच उससे अधिक भाग्यशाली और कौन स्त्री होगी! उसकी आँखें गर्व और आत्म-विश्वास से चमक उठीं!

बर्फ

—पं० सुन्दरलाल जैन वैद्य, इटारसी

बर्फ की पैदायश दो तरह से होती है। एक तो वह जो कुदरती बादलों से ओले के रूप में गिरकर एकत्रित होती है, तथा हिमालय आदि पर्वतों पर हवा की सर्दी के कारण उसका जमाव महीनों तक रहता है, और धीरे २ सूर्य की किरणें तेज होने पर धूप की गर्मी से धीरे २ पिघल कर बहती रहती है। दूसरा बर्फ बनावटी होता है जो पानी के द्वारा मशीनों से जमाया जाता है। इसी का उपयोग सर्वत्र बहुत ज्यादह रूप में होता है।

यूनानी हकीमों का मत है कि बर्फ तीसरे दर्जे में सर्द और खुश्क होता है। परन्तु हकीम खुरेशी का मत है कि बर्फ ठंडा होने पर भी दर-असल में गर्म होता है। क्योंकि यह अपनी ठंडक के कारण शरीर की तमाम ठंडक को बाहर निकाल देता है और गर्मी को भड़का देता है। वस्तुतः बर्फ अपनी ठंडक के कारण से ही आमाशय में तकलीफ पैदा करता है, और उसी तकलीफ को दूर करने के लिये तबियत पानी मांगती है, इसी कारण शरीर में गर्मी पैदा हो जाती है।

बर्फ की विशेषताएं—(१) बर्फ शरीर की रक्तवाहिनी शिराओं का संकोचन कर गिरते हुए रक्त को फौरन बंद कर देता है। शरीर के किसी भी अंग से चाहे जैसा खून किसी भी कारण से गिरता हो तथा अन्य औषधियों से उसका प्रवाह बंद न होता हो, तब ऐसी अवस्था में उस जगह बर्फ का टुकड़ा रखने से उसका प्रवाह शीघ्र ही बंद हो जाता है।

(२) डाक्टरों, वैद्यों ने यह भी अनुभव करके सिद्ध किया है कि यदि शरीर का तापक्रम ज्वर या अन्य बीमारी के कारण बहुत बढ़ गया हो तथा अन्य औषधियों से कम न होता हो तब बर्फ को सिर पर रखने से शीघ्र ही तापक्रम कम हो जाता है। परंतु ये तापक्रम स्थायी रूप से कम न होकर अस्थायी रूप से होता है।

(३) गर्मी (पित्तजन्य) बुखार और तर एवं खुश्क खुजली में भी बर्फ फायदा-जनक होता है। यदि किसी कारण से गले में या अन्य स्थान में जौंक चिपट जाय तो बर्फ के द्वारा वह तत्काल निकल जाती है। बर्फ को ललाट पर रखने से नाक से बहने वाला खून तत्काल बंद हो जाता है। बर्फ आमाशय जन्य कीड़ों को नष्ट कर बाहर निकाल देता है। बर्फ की पोटली बांधकर प्लेग की गांठ पर १२ घंटे बराबर रखने से गठान बैठ जाती है। वमन, कय होना, विसूचिका, जी का मिचलाना, आदि विकारों में जब कि प्यास अधिक बढ़ रही हो, तब बर्फ के टुकड़े रखने से प्यास कम होकर शांति मिलती है तथा वमन होना बंद हो जाता है।

आजकल बर्फ का महत्व इतना अधिक बढ़ गया है कि गर्मी के दिनों में तो चौबीस घंटे क्या अमीर और क्या गरीब, शहरों में रहने वाले क्या देहातों में रहने वाले सभी ने इसकी उपयोगिता बहुत ही ऊंचे दर्जे पर पहुंचा दी है। इसी के द्वारा बनने वाली कई अन्य चीजें आइस क्रीम, लस्सी, कुलफी, शर्बत आदि सभी चीजों में इसका उपयोग बहुत ज्यादह बढ़ गया है। इसका उपयोग छोटे २ बच्चों में भी बहुत ज्यादह पाया जाता है। इसके अति उपयोग से होने वाली हानियों का अधिकांश लोगों को पता नहीं है। इसी कारण इसको शादियों में, त्योहारों पर, ठंडाई आदि में या सिर्फ पानी में ही असीमित मात्रा में उपयोग किया जाता है।

इससे होने वाली हानियां—इसका अधिक मात्रा में उपयोग करने से शरीर को बहुत नुक़सान होता है। मानव समाज इसको गर्मी के दिनों में शरीर में ठंढक पहुंचाने के ख्याल से जिससे कि दिन भर शरीर में तरी बनी रहे, इसका सेवन करते हैं, परन्तु यह वास्तव में शरीर में, ठंढक न पहुंचा कर अति खुश्की, गर्मी पैदा कर देता है जो कि शुद्ध जल पीने से भी शांत नहीं होती। तथा यह जुखाम पैदा कर खांसी, सर्दी, और निमोनियां तक का शिकार बना देती है। इससे होने वाली एक और हानि यह है कि यह जठराग्नि को मंद करके अनेक बीमारियों को निमंत्रण देता है। अतएव इसका औषधि के रूप में ही उपयोग करना चाहिये, अन्यथा लाभ के बदले हानि की ही अधिक संभावना है।

सामुद्रिक विज्ञान

—श्री विजयराज पी-एच० डी० (पेरिस)

(मार्च अंक से आगे)

प्रायः आपके सामने ऐसा अवसर आता है कि जिस व्यक्ति से आपको काम लेना है उसका नख वाला भाग न केवल चौड़ा ही है, किन्तु बच्चों की खेलनेवाली गोली के समान गोल और उभरा हुआ भी है। यह भयानक जिद्दी और क्रोधी स्वभाव की सूचना है। ऐसे व्यक्ति एक क्षण में ही क्रोधित हो जाते हैं और ऐसी भी बात कह देते हैं जो दूसरे के मर्म पर आघात करे। ऐसे व्यक्तियों को भड़कते देर नहीं लगती और न वे अपनी जबान पर ही लगाम लगाते हैं—जो मन में आएगा वही वह बकने लग जायंगे। ऐसे व्यक्ति कहीं अधिक अधिकार-युक्त हों, या धनी हों, या युवा हों तो इसका प्रभाव और भी भयंकर होता है। ऐसे व्यक्ति अपने क्षणिक क्रोध में कभी-कभी किसी का वध भी कर सकते हैं क्योंकि उनके मन की पूरी गति का निवास अँगूठे की उसी गोली में छिपा रहता है और ऐसे व्यक्ति कुछ क्षणों के लिए आवेश में ज्ञान लुप्त हो जाया करते हैं। ऐसे व्यक्तियों का सामना करने के लिए यदि आप अपना संतुलन स्वयं बिगाड़ लेंगे तो अपने प्रतिद्वन्द्वी को कैसे पछाड़ेंगे? अतः पहले आप यह देखें कि उसके क्रोध का वेग शान्त हो गया या नहीं, तूफान आकर चला गया या फिर भी लौटकर आ रहा है, ऐसे लोग क्रोध शान्त होने पर मेमने बन जाते हैं। अँगूठे के नख भाग का छोटा होना सदैव इस बात को सूचित करता है कि ऐसा व्यक्ति अन्त में अवश्य पराजित होता है। इस मूलमंत्र को ध्यान में रखने से इस प्रकार के अँगूठे वाले आदमियों से आप कभी पराजित नहीं हो सकेंगे।

प्रत्येक अँगुली के तीन पर्व या भाग होते हैं किन्तु इसके विपरीत अँगूठे में दो ही भाग होते हैं। अभी हम अँगूठे के नख वाले भाग पर ही विचार कर रहे हैं जो कि लम्बा, छोटा, चौड़ा और गोलीदार होता है। साथ ही यह भाग कड़ा, या न मुड़ने वाला और मुड़नेवाला होता है। यदि नखवाला भाग हथेली की ओर न मुड़कर दूसरी ओर अर्थात् बाहर को मुड़ता हो तो ऐसे व्यक्ति उदार प्रकृति के होते हैं और कोई भी व्यक्ति उनकी उदार वृत्ति से विश्वास पूर्वक लाभ उठा सकता है, क्योंकि सहृदयता उनमें कूट-कूटकर भरी होती है और उनका हृदय

करुणा से परिपूर्ण रहता है। ऐसे व्यक्ति से आप अपनी बात अत्यंत बिनीत रूप में कहें। अपनी वाणी में सच्ची पीड़ा की भावना प्रकट करें और इस प्रकार उसके हृदय पर प्रभाव डालकर उसके विचार अपने अनुकूल बनाएँ। यदि यही अँगूठे के नख वाला भाग बहुत अधिक मुड़ा हुआ हो तो आपको ऐसे व्यक्ति का सामना करना है, जो बड़ा ही मुक्तहस्त, और आर्थिक संबंध में उड़ाऊ है, जो अपने अधिकार का भी प्रयोग उसी आसानी से कर सकता है, जिस प्रकार अपने धन का। केवल एक साधारण सा कारण मिलना चाहिए। ऐसे व्यक्ति की उदारता की प्रशंसा करते हुए जितनी आपको आवश्यकता हो, उससे कुछ अधिक ही माँगिए।

अब अँगूठे के बीच वाले पर्व को लीजिए। यदि वह भाग लम्बा व मोटा हो तो आपको एक तार्किक और उचित सूझ-बूझ के आदमी का सामना करना है। अत: ऐसे व्यक्ति से आप अपने विचार स्पष्ट शब्दों में कहें तथा वे ऐसे युक्तिपूर्ण हों कि सहज में ही उनका किसी भी प्रकार खंडन न किया जा सके। स्पष्ट युक्ति से ऐसे व्यक्ति सहज ही प्रभावित होते हैं और उनसे आसानी से अपना कार्य कराया जा सकता है। यही भाग यदि छोटा और पतला तथा नख वाला भाग बहुत लम्बा हो तो ऐसे व्यक्ति की इच्छा-शक्ति अंधकारमय होती है। उसे किसी का उचित निवेदन भी मिथ्या जान पड़ता है। ऐसी स्थिति में आप भी ऊटपटांग बातों से उसका मनोरंजन करें और व्यर्थ की तथा अनुचित बातें विशद रूप में समझाएँ, तो वह व्यक्ति आपका काम विशेष दिलचस्पी से करेगा। और यदि यही भाग डमरू के आकार का हो तो ऐसा व्यक्ति झूठ बोलने में पटु, बात को सुन्दरता से गढ़ कर कहने वाला और प्राय: किसी न किसी दोष में लिप्त रहता है। अत: आप पहले उसके दोष का पता लगाइये, फिर उससे सहयोग कीजिए तथा लाभ में हिस्सा दीजिए। तब वह आपका साथी बनकर सहज ही आपका कार्य कर देगा।

यदि अँगूठा ऊँचा है, तो वह व्यक्ति छोटी तबियत का मनुष्य होगा तथा उसमें समयानुकूल कार्य करने की क्षमता नहीं होगी। यदि अँगूठा और अधिक ऊँचा हो और साथ ही देखने में छोटा, असुन्दर और बेडौल हो तो यह उस व्यक्ति की मूर्खता का द्योतक है। यदि ऊँचाई पहली अँगुली के बहुत पास हो तो धन संबंध में ऐसा व्यक्ति महानीच और महालोभी होगा, कर्म कुकर्म का विचार उसके मन में नहीं रहेगा। उसे केवल धन चाहिए, उसके आने का मार्ग चाहे जैसा भी हो। किन्तु यदि अँगूठा नीचे की ओर है तो

ऐसा व्यक्ति उदार चित्त व बुद्धिमान होता है। यदि अँगूठा अंगुली से अधिक दूर रहता है तो ऐसा व्यक्ति फिजूल खर्च और उड़ाऊ होता है। यदि अंगूठा अधिक मोटा हो तो वह उस व्यक्ति की अशिष्टता को साबित करता है। यद्यपि वह सत्यवादी और ईमानदार होगा किंतु वह भी रूखे ढंग का। अँगूठा यदि पतला होगा तो वह कवित्व शक्ति, प्रतिभा या सुधरे विचारों का प्रमाण देने वाला होता है। बहुत लम्बा अँगूठा वश में न आने योग्य स्वभाव को सूचित करता है। साधारण लम्बा होने से बलवान इच्छा शक्ति प्राप्त होती है। छोटा अँगूठा व्यक्ति को वश में नहीं रहने देता तथा बहुत छोटा होने पर कमजोर इच्छा-शक्ति, मूर्खतापूर्ण जिद, लापरवाही, तथा दुर्भाग्यपूर्ण हीनता का लक्षण है। अँगूठा नुकीला होने पर यदि लम्बा हो तो कलात्मक वृत्ति होती है किन्तु यदि छोटा हो तो आलस्य, काम करने की क्षमता न होना, एकाग्रवृत्ति का न होना तथा किसी काम को दृढ़तापूर्वक न करने की शक्ति का सूचक है। पतला और लम्बा अँगूठा "मखमल के दस्ताने में लोहे का हाथ" वाले व्यक्ति का होता है, वह जिस काम को छेड़ेगा उसे समाप्त ही करेगा। साथ ही उसके सम्पर्क में आने वाला व्यक्ति प्रसन्न भी रहेगा। [क्रमशः]

आप की क्या राय है ?

'आप को कह रहा हूँ, पर आप किसी को न कहें।' ऐसा कहना क्या ठीक है ?

हाँ, नहीं।

नहीं। मनुष्य की प्रकृति ही अजीब है। आप अपनी बात अपने तक तो रख नहीं सकते फिर आप कैसे उम्मीद करते हैं कि दूसरा आदमी आप की बात को हजम कर लेगा ? यदि आपने किसी की शिकायत की है और आपने कहा है—किसी को न कहना—तो विश्वास मानें वह आदमी सीधे सम्बंधित आदमी को जाकर कहेगा। आप को अपने पर विश्वास नहीं फिर दूसरे पर क्यों करते हैं ?

सत्य तो यह है कि ऐसा कहने वाले आदमी का चरित्र ही कमजोर होता है। यदि कोई किसी की शिकायत कर रहा हो तो हमें इसके विरोध में कम से कम चुप रहना ही चाहिए। पीठ पीछे, लोगों को गुणों की बात ही करनी चाहिए। और शिकायत की बात समझाते हुए मुंह पर ही करनी चाहिए।

साहित्य-सत्कार—

अतीत के कम्पन : लेखक—आनंदप्रकाश जैन, प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, पृष्ठ संख्या २३९+१६, मूल्य—तीन रु० ।

'अतीत के कम्पन' सुप्रसिद्ध मासिक 'सरिता' के कहानी लेखक श्री आनंदप्रकाश जैन की ग्यारह ऐतिहासिक कहानियों का संग्रह है। अधिकांश कहानियां पहले 'सरिता' व अन्य पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी हैं ।

हिन्दी में ऐतिहासिक आधार पर लिखा गया कथा-साहित्य बहुत ही कम है, इस दृष्टि से प्रस्तुत कथा-संग्रह के महत्व से इन्कार नहीं किया जा सकता ।

संग्रह की कहानियों के पात्र इतिहास के प्रसिद्ध व्यक्ति हैं और उनके माध्यम से लेखक ने मानव जीवन के विविध पहलुओं को चित्रित करने का प्रयास किया है, जो बहुत कुछ अंशों में सफल हुआ है। प्रस्तुत ऐतिहासिक कहानियों के विषय में किसी अंग्रेज लेखक की उक्ति "इतिहास में नाम व पात्र छोड़कर बाकी सब कल्पना होता है तथा उपन्यास में नाम व पात्र छोड़कर बाकी सब स्वाभाविक होता है' बिल्कुल उचित कही जा सकती है। आनंद जी ने अपनी कल्पना-शक्ति के बल पर इन कहानियों में इतिहास के नीरस पात्रों में भी सरसता लाने की चेष्टा की है। मानव जीवन के विविध रूप-रंगों को उन्होंने अनुभवी एवं कुशल कथाकार की हैसियत से देखा व उतारा है। कुछ कहानियाँ वास्तव में मर्मस्पर्शी हैं, उन्हें पढ़कर सहसा हमारा हृदय सिहर उठता है। ऐसी कहानियों में 'शतरंज के मोहरे' प्रमुख है ।

ज्ञानपीठ अपने प्रकाशनों के लिए काफी प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका है। प्रस्तुत कहानी संग्रह भी उसकी प्रतिष्ठा-परपंरा के अनुकूल है। कवर का चित्र सार्थक है। इतने सुंदर प्रकाशन के लिए ज्ञानपीठ को बधाई ।

पाटल (सन्त साहित्य विशेषांक) : संपादक—रामदयाल पाण्डेय, प्रकाशक—मोहन प्रेस, कदमकुआँ, पटना-३, वार्षिक मूल्य ७), इस अंक का २॥)

'पाटल' का चिरप्रतीक्षित संतसाहित्य-विशेषांक गत मार्च ५५ में प्रकाशित हुआ है। २८० पृष्ठ का यह विशेषांक पृष्ठभूमि, हिन्दी सन्तसाहित्य और हिन्दीतर सन्तसाहित्य शीर्षक तीन खंडों में विभक्त किया गया है। प्रस्तुत विशेषांक में आचार्य हजारी प्रसाद

द्विवेदी, परशुराम चतुर्वेदी, डा० राजबली पाण्डेय, प्रो० हरिमोहन झा, प्रभाकर माचवे, आचार्य क्षितिमोहन सेन आदि अधिकारी विद्वानों के १८ लेख हैं। आचार्य द्विवेदी जी, डा० रामखेलावन पाण्डेय एवं प्रो० रामपूजन तिवारी के लेख विशेष रूप से पठनीय हैं। इनके लिखने में लेखकों ने निश्चय ही परिश्रम किया है। इनसे हिन्दी सन्तसाहित्य संबन्धी कुछ नई एवं महत्वपूर्ण बातों के विषय में जानकारी होती है। यद्यपि प्रस्तुत विशेषांक में सन्त-साहित्य सम्बन्धी सभी विषयों से संबन्धित लेख स्थानाभाव के कारण नहीं दिए जा सके हैं, फिर भी उपरोक्त तीन विषय-खंडों के संबन्ध में जो सामग्री एकत्र की गई है, उससे सम्पादक के परिश्रम का पता चलता है। प्रस्तुत विशेषाँक को पढ़ चुकने के बाद पाठक को अगले परिशिष्टांक की प्रतीक्षा स्वाभाविक रूप से हो उठती है। प्रस्तुत विशेषांक ने 'पाटल' की प्रतिष्ठा वृद्धि में योगदान दिया है, इसमें कोई सन्देह नहीं। 'पाटल' सम्पादक एवं प्रकाशक इसके लिए बधाई के पात्र हैं।

—महेन्द्र राजा

बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी प्रेस, बनारस ५



श्रमण

15-9-55

पर्युषण-अंक

पार्श्वनाथ विद्याश्रम हिन्दू युनिवर्सिटी, बनारस-

पर्युषण-अंक सितम्बर १९५५

इस अंक में—

वार्षिक मूल्य ४) एक प्रति ।=)

सम्पादक एवं प्रकाशक—पं० कृष्णचन्द्राचार्य

अधिष्ठाता, श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, हिन्दू यूनिवर्सिटी बनारस—५

श्रमण

श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, हिन्दू यूनिवर्सिटी, बनारस का मुखपत्र

वर्ष ६ सितम्बर १९५५ अंक ११

पर्युषण पर्व के अवसर पर

खमियव्वं खमावियव्वं उवसमियव्वं उवसमावियव्वं संमुइ-संपुच्छणा बहुलेण होयव्वं ।

जो उवसमइ तस्स अत्थि आराहणा ।
जो न उवसमइ तस्स नत्थि आराहणा ।
तम्हा अप्पणा चेव उवसमियव्वं ।
से किमाहु भंते !
"उवसम-सारं खु सामण्णं ।"

दूसरे की भूलों को अपनी ओर से क्षमा कर दो और अपनी भूलों के लिए दूसरे से क्षमा माँग लो। आपसी द्वेष को दूर करके स्वयं शान्त हो जाओ और दूसरे से शान्त होने की प्रार्थना करो। अपने आप दूसरे के पास जाकर उसके कुशल समाचार पूछो।

जो झगड़े या झगड़े के कारणों को मिटाता है, वह भगवान की आज्ञा का आराधक है।

जो उन्हें नहीं मिटाता, वह आराधक नहीं है।

इसलिए अपनी ओर से ही झगड़ा शान्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

भगवन्! ऐसा क्यों?

"उपशम—शान्ति ही श्रमण धर्म का सार है।"

—कल्पसूत्र

ज्योति के नव-चरण

ज्योति के नव-चरण लो, गगन में बढ़े,
चूम लो यह किरन भोर की, मन खिले!

गत-निशा ग्लानि ले सब गगन से गई,
मुस्करा दिग्वधू नींद से उठ रही,
जागरण का संदेसा पवन कह चला—
हो चली हर दिशा राग से सुरमयी;
प्राण की बाँसुरी फूँक दो, मत रुको—
ज़िन्दगी गीत है, गीत को धुन मिले!
चूम लो यह किरन भोर की, मन खिले!

चला रश्मि-दल ग्रन्थियाँ खोलता सा,
उड़ा बाल-रवि पर बँधे तोलता सा,
महाप्राण कोई चला ज्यों धरणि पर—
सजग चेतना का अमृत ढोलता सा;
करो मुक्त मानस-पटल, अर्चना दो—
विमल भावना शुचि मनस् में पले!
चूम लो यह किरन भोर की, मन खिले!

उनींदे नयन में नशा ढल रहा है,
बहुत मोहमय स्वप्न यह छल रहा है,
मगर स्वप्न का यह अंधेरा जलाने—
उधर काल का नेत्र ज्यों जल रहा है;
कमल खिल रहे हैं, हृदय खोल दो, प्रिय!
निशा के तमस् से ग्रथित तन धुले!
ज्योति के नव-चरण लो, गगन में बढ़े,
चूम लो यह किरन भोर की, मन खिले!

—श्री ज्ञानचन्द्र भारिल्ल, एम०ए०

प्रतिक्रमण

—स्वामी सत्यभक्त जी, सत्याश्रम, वर्धा

किसी भी सच्चे जैन के लिए प्रतिक्रमण नित्य की छः आवश्यक क्रियाओं में से एक प्रमुख कर्तव्य है। इसके बिना उसके व्रत-नियमों की शुद्धि नहीं हो सकती। पूछा भी है—

पडिक्कमणेणं भंते! जीवे किं जणयइ? पडिक्कमणेणं वयछिद्दाणि पिहेइ। पिहिय-वयछिद्दे जीवे निरुद्धासवे असबल-चरित्ते अट्ठसु पवयण-मायासु उवउत्ते अपुहत्ते सुप्पणिहिए विहरइ॥

भगवान्! प्रतिक्रमण के करने से क्या लाभ है? भद्र! प्रतिक्रमण के करने से व्रतों में लगने वाले दोष रुक जाते हैं—मनुष्य भूलों से बच जाता है। फिर शुद्ध व्रतधारी होने से बुरे कर्मों का आस्रव (आगमन) नहीं होता है। चरित्र शुद्ध बनता है। आठ प्रवचन माताओं—पाँच समितियों और तीन गुप्तियों में उपयुक्त—सावधान होता है, शुद्ध चारित्र से अलग न होता हुआ समाधि को प्राप्त कर विचरता है।

स्वामी सत्यभक्त जी ने इसी प्रतिक्रमण पर आज की भाषा में नए रूप में बड़ा अच्छा प्रकाश डाला है। पाठक इस लेख को ध्यान से पढ़ेंगे तो प्रतिक्रमण के महत्व का पता लगेगा। **—सम्पादक**

'प्रतिक्रमण' जैनधर्म का पारिभाषिक शब्द है जिसका सीधा अर्थ तो लौटना है पर उसका प्रयोग होता है पाप से या बुराई से लौटने में। इसलिए यह एक तप माना गया है। जैनधर्म तपस्या के लिए बहुत प्रसिद्ध है पर यह बहुत कम लोग समझते हैं कि जिन तपस्याओं के लिए जैनधर्म और जैनसमाज की प्रसिद्धि है उन तपस्याओं को जैनधर्म ने बाहरी तप माना है। लम्बे-लम्बे उपवास, रूखा-सूखा और अल्प परिमाण में आहार आदि को बाहरी तप ही कहा है। और बाहरी तप का उपयोग भीतरी तपों के लिए ही है। भीतरी तप न हों तो बाहरी तप बेकार है।

प्रतिक्रमण भीतरी तप है। इसका अर्थ है अपनी भूलों को मंजूर करना और उन्हें सुधारना। मैं तो इसे सबसे महत्वपूर्ण तप मानता हूँ। जहां तक विधि-विधान का संबन्ध है जैन समाज ने भी इस तप को काफी महत्व दिया है। जैनों का सबसे बड़ा पर्व सांवत्सरिक प्रतिक्रमण का ही है। इस दिन वे वर्ष भर की भूलों की आलोचना करते हैं, क्षमा मांगते हैं और आगे न करने का संकल्प करते हैं। मैं नहीं समझता कि इससे अच्छा पर्व संसार के किसी दूसरे समाज में भी होगा। जैनधर्म का कहना है कि यदि पाप की वासना साल भर से अधिक ठहर जाय, तो इससे मनुष्य की वह मनोवृत्ति, जिसे कषाय कहते हैं, अनन्तानुबन्धी बन जाती है। मनोवृत्ति के अनन्तानुबन्धी होने पर गार्हस्थ्य धर्म या सम्यक्त्व ही नष्ट हो जाता है, साधुता का तो पता ही नहीं लगता। भले ही बाहर गार्हस्थ्य व्रतों या साधुता के व्रतों का ढांचा खड़ा रहता हो।

इससे समझा जा सकता है कि प्रतिक्रमण कितना महत्वपूर्ण और एक तरह से अनिवार्य तप है। परन्तु खेद इतना ही है कि आज वह केवल एक विधि-विधान बनकर रह गया है। सांवत्सरिक प्रतिक्रमण के दिन जैन लोग इकट्ठे होते हैं और प्रतिक्रमण पाठ पढ़ते हैं। इस प्रतिक्रमण पाठ में संसार के सभी प्राणियों से क्षमा-याचना की गई है। पृथ्वी, आग, पानी, हवा, वनस्पति, कीट, पतंग, पशु, पक्षी, मनुष्य आदि सभी से क्षमा-याचना है। इसमें चौरासी लाख योनियों का विवरण दिया जाता है, और उस जमाने के प्राणिविज्ञान की एक झाँकी दिख जाती है। निःसन्देह इससे सामाजिक जीवन पर विशेष असर नहीं होता, जीवन की गलतियाँ नहीं सुधरतीं, दुश्मनी नहीं मिटती, मन साफ नहीं होते। सामूहिक विधि-विधान से इतनी अधिक आशा करना भी न चाहिए। विधि-विधान से कोई कार्य हो नहीं जाता, सिर्फ उसको करने की प्रेरणा मिलती है, उस पर विचार करने का अवसर मिलता है; और कभी-कभी इस निमित्त से आत्म-शुद्धि का, मनोमालिन्य दूर करने का मौका भी मिल जाता है। इतनी उपयोगिता भी कम नहीं है। इसलिए ऐसे पर्व की जितनी स्तुति की जाय थोड़ी ही है।

परन्तु इस पर्व के निमित्त से प्रतिक्रमण तप पर गहराई से विचार करना, उसे अधिक से अधिक व्यावहारिक बनाना, अन्याय का परिमार्जन करना, सामाजिक और कौटुम्बिक जीवन को व्यवस्थित करना बहुत जरूरी है। इस तपस्या का वास्तविक रूप में व्यापक और सफल प्रसार हो तो जगत

में अन्याय, अत्याचार, असहयोग, मनमुटाव आदि अनेक पापों या दुःखों का जीना मुश्किल हो जाय। इसके लिए यह जरूरी है कि इसका शुद्धीकरण किया जाय और इसे समयानुकूल (अप-टू-डेट) बनाया जाय।

व्रतों के शुद्धीकरण का निर्देश भी जैनशास्त्रों ने बहुत कुछ किया है। वही निर्देश प्रतिक्रमण के काम में भी आ सकता है। वे कहते हैं कि प्रत्येक व्रत निःशल्य होना चाहिए। शल्य यहां पारिभाषिक शब्द है, **जो माया, मिथ्यात्व और निदान** इन तीन भावों के लिए प्रयुक्त होता है। ये तीनों चीजें शल्य अर्थात् शलाका कील या बरछे के समान व्रत को भोंककर निष्प्राण कर देती हैं इसलिए इन्हें शल्य कहते हैं। इसलिए किसी भी व्रत या तप के साथ माया, मिथ्यात्व और निदान न होना चाहिए।

जो व्रत सिर्फ दिखाने के लिए किया जाता हो, दूसरों को धोखा देने के लिए किया जाता हो, इच्छा न होने पर भी दूसरों को रिझाने के लिए किया जाता हो, वह व्रत **माया** होने से व्रतरूप या तपरूप नहीं रहता।

जिसके मूल में **मिथ्यात्व** हो अर्थात् विवेक न हो, सम्यक्त्व न हो, वह भी बेकार या अनर्थकर है। भले ही वह शुभकामना से किया जाता हो। मिथ्यात्व एक बहुत बड़ा पाप है जो शुभकामना के साथ भी रहता है। लोग देवताओं के आगे पशुओं को कत्ल कर डालते हैं, यहां तक कि नरबलि तक होती रही है। इसके मूल में क्रूरता ही होती थी, सो बात नहीं है। भक्ति से गद्गद होकर भी यह कार्य किया जाता है और यह भी समझ लिया जाता है कि इससे बलि दिए गए प्राणी की भी सद्गति होगी, पर ये दोनों मान्यताएँ मिथ्यात्व रूप हैं, झूठ हैं, अनर्थक हैं। अंग्रेजी में जो यह कहावत है कि 'नरक का रास्ता शुभ-कामनाओं से पटा पड़ा है', वह जैनधर्म की इस मान्यता से मेल खाता है। मनुष्य मिथ्यात्व के वश होकर शुभकामना के साथ इस दुनिया को नरक बनाता है, दुःख और अन्याय बढ़ाता है। इसलिए जो भी व्रत, तप या क्रियाकांड किया जाय उसके मूल में विवेक अवश्य होना चाहिए, मिथ्यात्व न होना चाहिए। मतलब यह कि गहराई से उसका निष्पक्ष विचार करना चाहिए कि अमुक क्रिया वास्तव में स्व-पर कल्याणकारी है या नहीं। इतना विवेक न हो तो वह व्रत, तप या क्रिया व्यर्थ जाएगी, बल्कि दुःख बढ़ाएगी।

तीसरा दोष है **निदान**। इसका अर्थ है व्रत के ध्येय की अपेक्षा तुच्छ स्वार्थों की लालसा करना। जैसे आठ-आठ दिन के उपवास का फल यह

चाहना कि मुझे पालकी में बिठलाकर जुलूस निकाला जाए या ब्रह्मचर्य के फल में यह चाह करना कि स्वर्ग में मुझे सुन्दर से सुन्दर अप्सराएँ मिलें—इत्यादि। इस निदान दोष के होने पर भी व्रत, तप आदि नष्ट हो जाते हैं। व्रतों के शुद्धीकरण के लिए जो ये तीन बातें बताई गई हैं वे हमें प्रतिक्रमण में भी लागू करनी चाहिए।

प्रतिक्रमण करने में अर्थात् अपने किए हुए पापों से लौटने का संकल्प करने में, पहली और महत्व की बात **आलोचना** है। आलोचना में छल-कपट न होना चाहिए। साथ ही किस तरह के अपराध में कैसी आलोचना उपयोगी होगी इसका विवेक होना चाहिए। इसमें मिथ्यात्व न आना चाहिए। साथ ही यह आलोचना न्याय के आगे झुककर होना चाहिए। किसी स्वार्थवश न होना चाहिए। अन्यथा निदान दोष हो जायगा। इन बातों को व्यवहार में लाने के लिए हमें पापों, बुराइयों या अपराधों की स्थिति का वर्गीकरण करना पड़ेगा। इनके छह भेद हैं—

१—उभय-स्मत द्वन्द
२—पर-स्मृत द्वंद
३—स्व-स्मृत द्वंद
४—विस्मृत द्वंद
५—आत्मस्थ द्वंद
६—आवश्यक द्वंद

१—उभय-स्मृत द्वंद उसे कहते हैं जिसमें किये हुए अपराध की स्मृति दोनों पक्षों को है और उससे व्यवहार में खराबी आ गई है, मनोमालिन्य हो गया है।

२—पर-स्मृत द्वंद—हम तो भूल गए हैं पर दूसरा उस अपराध की बात को नहीं भूल पाया है।

३—स्व-स्मृत द्वंद—दूसरा अपराध को भूल गया है पर हम नहीं भूल पाए हैं।

४—विस्मृत द्वंद—दोनों पक्ष ही अपराध को भूल गए हैं।

५—आत्मस्थ द्वंद—अपराध ऐसा है जिससे दूसरों का विशेष संबन्ध नहीं हैं; व्यसन आदि में फँस कर हमने अपना ही नुकसान किया है।

६—**आवश्यक द्वंद**—वह है जो जीवन के लिए जरूरी है। जैसे पशुपालन, कृषि आदि में पशुओं का शोषण करना पड़ता है, वह आवश्यक है। चलने-फिरने आदि में जो हिंसा होती है वह भी आवश्यक द्वन्द है। आत्म-रक्षा आदि के लिए जो कृमि आदि का नाश करना पड़ता है वह भी आवश्यक द्वन्द है।

इन छः तरह के अपराधों का प्रतिक्रमण एक ही तरह से नहीं किया जा सकता। किसके लिए कौन सा तरीका आवश्यक है इसका विवेक रखना जरूरी है। प्रतिक्रमण के सात तरीके हैं—

१—क्षतिपूर्त्ति
२—विशेषार्थ विशेषालोचन
३—विशेषार्थ सामान्यालोचन
४—विशेषार्थ संभाव्यालोचन
५—शिष्टाचारालोचन
६—परोक्षालोचन
७—आलोचनपाठ पठन

१—**क्षतिपूर्त्ति**—अपराध में जो अर्थ आदि की क्षति हुई हो उसकी पूर्त्ति करना, या विशेष सेवा विनय आदि के द्वारा वह क्षमा करा लेना और जितनी पूर्त्ति जिस प्रकार सम्भव हो वह पूर्त्ति करना।

२—**विशेषार्थ विशेषालोचन**—जिसका अपराध हुआ हो उसके सामने या पत्रादि लिखकर उस विशेष अपराध को स्वीकार करना और क्षमा मांगना।

३—**विशेषार्थ सामान्यालोचन**—विशेष अपराध का उल्लेख न करके सिर्फ इतना ही कहना कि मैं अपराधी हूँ, मैंने बहुत या बड़े अपराध किए हैं। इस प्रकार अपराध स्वीकार करके क्षमा मांगना।

४—**विशेषार्थ संभाव्यालोचन**—कोई अपराध स्वीकार न करना, सिर्फ यह कहना कि यदि कोई अपराध हुआ हो तो क्षमा करें।

५—**शिष्टाचारालोचन**—विनय प्रगट करने के लिए, अपराध हो या न

हो परन्तु क्षमा मांगना। क्षमावणी आदि अवसरों पर क्षमा मांगने के शिष्टाचार का पालन करना।

६—**परोक्षालोचन**—मन ही मन पश्चात्ताप कर लेना परन्तु जिसका अपराध हुआ हो उस पर प्रगट न करना।

७—**आलोचनपाठ पठन**—आलोचना पाठ, प्रतिक्रमण पाठ आदि के नाम से बने हुए गद्य या पद्य पाठों को पढ़ लेना और थोड़ी बहुत प्रेरणा प्राप्त करना।

इस प्रकार सात तरह का प्रतिक्रमण है जो पहले कहे गए छह तरह के द्वंदों को दूर करने के लिए उपयोगी है। पर कहां किसका उपयोग है इसका विवेक रखना जरूरी है।

उभय-स्मृत द्वंद को दूर करने के लिए आलोचना पाठ-पठन बिलकुल बेकार है। यह कहना कि चौरासी लाख योनि के जीवों से हमने क्षमा मांग ली है इसलिए अमुक व्यक्ति से माफी मांगने की बात भी उसमें आ गई, पूरा मिथ्यात्व है। पाठपठन से क्षमा-याचना होती ही नहीं, भविष्य में उस तरह के अपराधों को न करने की सिर्फ प्रेरणा मिल सकती है। परोक्षालोचन का भी इस जगह कोई उपयोग नहीं है। बाकी पांच प्रकार के प्रतिक्रमण का उपयोग है। पर उसमें द्वंद की मात्रा का विचार करना चाहिए। किसी आदमी के तुम रुपये खा जाओ, फिर शिष्टाचारालोचन या विशेषार्थ संभाव्यालोचन करो तो इसका कोई अर्थ नहीं, वहाँ क्षतिपूर्त्ति और विशेषार्थ विशेषालोचन का ही ठीक उपयोग होगा। चोरी आदि के अपराध में भी क्षतिपूर्त्ति आवश्यक है।

विश्वासघात, घोर अपमान, कृतघ्नता आदि में विशेषार्थ विशेषालोचन जरूरी है।

पर-स्मृत द्वंद में विशेषार्थ संभाव्यालोचन करके निश्छल हृदय से पूछना चाहिए कि आप के मन में मेरी तरफ से जो खेद हो वह प्रगट करें, जिससे मैं उसका प्रतिक्रमण कर सकूं। फिर प्रगट होने पर उसके अनुरूप प्रतिक्रमण करना चाहिए।

स्व-स्मृत द्वंद में प्रारम्भ के छह तरह के प्रतिक्रमण द्वंद के अनुरूप करना चाहिए। इससे स्नेह की मात्रा बढ़ेगी।

विस्मृत द्वंद में प्रारम्भ के दो छोड़कर बाकी का उपयोग करना चाहिए।

आत्मस्थ द्वंद में परोक्षालोचन से काम चल जाता है, पाठ-पठन भी उपयोगी है। किन्तु यदि वह आत्मस्थ द्वंद उस समाज, संस्था या व्यक्ति के नियम या आज्ञा के विरुद्ध गया हो जिससे अपना संबन्ध हो या जिससे हम वचनबद्ध या नियमबद्ध हों तो उसके सामने प्रारम्भ के तीन प्रतिक्रमण और पांचवाँ भी उपयोगी है। उनमें से जो-जो जहां जरूरी हो वहां उसका उपयोग करना चाहिए।

आवश्यक द्वंद में आलोचन पाठ-पठन काफी है। उससे प्रेरणा लेकर उसे जितना मर्यादित किया जा सके करना चाहिए।

इस प्रकार छह तरह के द्वंद और उनका सात तरह का प्रतिक्रमण, इनका विवेक रखना जरूरी है। अगर यह विवेक न हो तो वह एक तरह का मिथ्यात्व हो जायगा और प्रतिक्रमण व्यर्थ जायगा।

इस दृष्टि से प्रतिक्रमण २७ तरह का होता है। जिसका विवेक रखना चाहिए। ध्यान में रहने के लिए उनका संबन्ध स्पष्ट बता दिया जाता है—

१—उभय-स्मृत द्वंद × ५ = १—क्षतिपूर्त्ति
२—विशेषार्थ विशेषालोचन
३—विशेषार्थ सामान्यालोचन
४—विशेषार्थ संभाव्यालोचन
५—शिष्टाचारालोचन

२—पर-स्मृत द्वंद × ५ = उपरोक्त

३—स्व-स्मृत द्वंद × ५ = १—क्षतिपूर्त्ति
२—विशेषार्थ विशेषालोचन
३—विशेषार्थ सामान्यालोचन
५—शिष्टाचारालोचन
६—परोक्षालोचन

४—विस्मृत द्वंद × ५ = ३—विशेषार्थ सामान्यालोचन
४—विशेषार्थ संभाव्यालोचन
५—शिष्टाचारालोचन
६—परोक्षालोचन
७—आलोचनपाठ पठन

५—आत्मस्थ द्वंद × ६ = १–२–३–४–६–७ विशेषार्थ संभाव्यालोचन छोड़कर
६—आवश्यक द्वंद × १ = ७—आलोचन पाठ पठन

विवेकपूर्वक इनका उपयोग करने के साथ दो महान दोषों का बचाव और करना चाहिए। वे हैं माया और निदान।

प्रतिक्रमण की क्रिया पूरी की जाय पर मन में प्रतिक्रमण का भाव न हो, सिर्फ धोखा देने के लिए ही प्रतिक्रमण हो तो प्रतिक्रमण अनर्थकर हो जाता है, वह प्रतिक्रमण रहता ही नहीं। दूसरों को भी आगे पीछे उसका पता लग ही जाता है इसलिए बाह्य दृष्टि से भी प्रतिक्रमण का कुछ अर्थ नहीं रहता। एतदर्थ मायाचार का त्याग ही करना चाहिए।

अन्तिम दोष है निदान। क्षमायाचना आदि तो कर लेना किन्तु आशा यह रखना कि इससे इनाम मिलेगा, नौकरी आदि मिलेगी, आश्रय मिलेगा, पद आदि मिलेंगे, यह निदान है। यह न्याय-विनय नहीं है किन्तु एक तरह की रिश्वत देना है। ऐसे प्रतिक्रमण का भी कोई मूल्य नहीं।

इस प्रकार मिथ्यात्व, माया और निदान इन तीन दोषों से रहित, सच्चे दिल से विवेकपूर्वक समय पर प्रतिक्रमण करना चाहिए। यह एक तप ही नहीं है किन्तु आवश्यक कर्तव्य भी है। इसलिए खास-खास घटनाओं को लेकर इस विषय में कुछ सूचनाएं दी जाती हैं।

१—कभी-कभी बात-बात में इच्छा न रहते हुए भी परस्पर में कुछ कड़वी बातें हो जाया करती हैं। दिन-रात का सम्पर्क होने पर उन्हें भुला देना पड़ता है फिर भी दिल पर उनकी अस्पष्ट-सी, किन्तु पक्की छाप रह जाती है। सांवत्सरिक प्रतिक्रमण या क्षमावणी आदि के दिन जरूर उस पर खेद प्रकट करो। यह मत सोचो कि तुम्हारे साथी को वह बात याद न रही होगी, इसलिए खेद प्रगट करने की क्या जरूरत है। साधारणतः दिल पर लगी चोट आदमी कभी नहीं भूलता, इसलिए उसका परिमार्जन करना जरूरी है।

२—क्षमायाचना के छपे हुए कार्ड भेजने का भी कुछ या कहीं-कहीं काफी उपयोग है। परन्तु साथ में कुछ हस्तलिखित वक्तव्य भी होना चाहिए जिसमें विशेष संबन्ध का परिचय मिलता हो तथा कोई विशेष घटना हुई हो तो उसके बारे में खेद प्रकाशन होना चाहिए।

३—आदरणीय स्नेही जन के पास साल में एक बार जरूर हाजिर होना चाहिए। यदि वे दूर गांव में रहते हों तो उन्हें पत्र भेजकर क्षमायाचना करना चाहिए। और साल भर में कोई मनोमालिन्य संबन्धी घटना हुई हो तो उसका उल्लेख होना चाहिए तथा दूरी आदि के कारण उपस्थित न हो सकने के लिए भी क्षमायाचना करना चाहिए।

४—क्षमायाचना के पत्र यदि छपे हुए हैं तब इतना सन्तोष करना चाहिए कि उसने तुम्हें याद किया। परन्तु यदि हाथ से कुछ खास बात लिखी हो तो उसका प्रत्युत्तर देकर ठीक भाव व्यक्त करना चाहिए।

५—प्रतिक्रमण में विशेष भूलों के लिए क्षमायाचना करना ही जरूरी नहीं है किन्तु आगे ऐसी भूलें कभी न होंगी इस प्रकार का संकल्प करना भी जरूरी है।

६—सामान्य क्षमायाचना का भी कुछ न कुछ असर होता ही है, पर जहां तुम्हारे द्वारा काफी अनुचित कार्य हो चुके हों और उनके कारण संबन्ध टूट चुका हो, निष्प्राण हो चुका हो, या शिथिल हो चुका हो, वहां अपनी प्रत्येक गलती का उल्लेख कर अपनी कुबुद्धि की भर्त्सना करना जरूरी है। यह याद रखना चाहिए कि घमंड से गौरव की रक्षा नहीं होती।

७—दुर्भाग्य से यदि तुम किसी की चोरी कर चुके हो तो जरूरी है कि तुम चोरी का माल हर्जाना सहित वापिस कर दो और क्षमायाचना करो। यदि चोरी का माल वापिस उस समय न कर सकते हो तो धीरे-धीरे कुछ न कुछ वापिस करते रहो और क्षमायाचना करते रहो और भविष्य में ऐसी गलती न करने की प्रतिज्ञा दुहराते रहो।

८—अगर किसी से ऋण लेकर नहीं चुका पाए हो तो इसे अपनी नीचता मान कर पश्चात्ताप प्रगट करते रहो और जितनी भी शक्ति हो चुकाते रहो।

९—गाली-गलौज, अविनीत व्यवहार आदि का उल्लेख करते हुए क्षमा मांगो।

१०—अपराध यदि मारपीट आदि तक पहुंचा हो तो उसके अनुरूप कुछ दंड-स्वरूप भेंट भी भेजो और उसका उल्लेख करते हुए पश्चात्ताप प्रगट करो।

११—अगर तुमने द्वेषपूर्ण व झूठी निन्दा की है तो यह मत समझो कि

इसका उसे पता नहीं है। इस भ्रम को दूर कर स्पष्टता से क्षमायाचना करो। और यदि तुम चाहते हो कि तुम्हारी क्षमायाचना पर विश्वास किया जाय तो बताओ कि तुम अपनी कमजोरी से किस प्रकार भ्रम के शिकार हो गए थे और कब तुमने उसका त्याग कर दिया है। अन्य अपराधों के बारे में भी इस प्रकार का खुलासा करना जरूरी है।

१२—साधारणतः जवानी के प्रारम्भ में अपनी अनुभवहीनता के कारण मनुष्य ज्ञानीजनों के प्रति अनेक अपराध कर जाता है, उनके शब्दों की अवहेलना कर जाता है, बाद में जीवन के कठोर अनुभव उसकी अक्ल ठिकाने ला देते हैं। उस समय अगर तुम ज्ञानीजनों से स्पष्ट रूप में अपनी अनुभवहीनता के लिए पश्चात्ताप करोगे, उनकी शिक्षा पर आगे से विशेष ध्यान देने का विचार प्रगट करोगे तो न केवल उन्हें प्रसन्न करोगे किन्तु साथ ही अच्छा पथ-प्रदर्शक भी पा जाओगे।

१३—अपनी गलती समझकर उससे निवृत्त हो जाना तो जरूरी है ही, पर मन शुद्धि को वचन से प्रगट न करना अपने अहंकार की सूचना देता है। अहंकार से सहयोग नहीं बढ़ पाता इसका ध्यान रखो।

१४—क्षतिपूर्त्ति के अपराधों में क्षतिपूर्त्ति जरूरी है। कोरे शब्दों के बदले में कोरा शिष्टाचार मिलेगा, पर प्रतिक्रमण न होगा।

१५—संवत्सरी आदि के नियत दिन क्षमायाचना करना ठीक ही है, परन्तु इस दिन की बाट न देखकर जब भी कभी गलती समझ में आये तभी उसका परिमार्जन करना कई गुणा असर पैदा करता है।

१६—अगर तुमसे बार-बार अपराध हुआ है, इसलिए क्षमायाचना करने पर भी जरूरी मात्रा में तुम्हें क्षमा नहीं मिल पाई है तो इसे अपना अपमान न समझो। अपने सुधरे हुए जीवन को पेश कर क्षमायाचना की सचाई प्रमाणित करो और शब्दों से प्रतिवर्ष या समय-समय पर क्षमायाचना करते रहो। साधारण कचरा साधारण झाड़ू से झाड़ दिया जाता है पर कीट को तो बार-बार रगड़-रगड़ कर धोना पड़ता है।

ये दिग्दर्शक सूचनाएँ हैं; इस प्रकार की और भी बातों पर विचार कर जीवन को पवित्र, न्याय-विनयी, निश्छल और सहयोगपूर्ण बनाना चाहिए।

सफल-पर्यूषण

[१]

कर आत्मा का सांनिध्य ग्रहण, पर्यूषण पर्व सफल होगा ;
तेरी आन्तरिक साधना का साधक ! निश्चय शुभफल होगा ।
कुछ तत्त्वचिन्तना, पुण्यार्जन, निर्माण राष्ट्र का करना है ;
यह भी तो एक तपस्या है, जो व्रती ! तुझे आचरना है ।।

[२]

काश्मीर समस्या समाधानहित साधक ! तुझे बुलाती है ;
गोरखपुर की वह बाढ़ तुझे कुछ तो कर्तव्य सुझाती है ।
गोआ में तेरी शान्ति साधना, कसी कसौटी पर जाती ;
तू बन्द उपाश्रय में बैठा, वहाँ तेरी लुटती है थाती ।।

[३]

स्वात्मा का कर कल्याण किन्तु 'स्व' की विराट परिभाषा कर ;
आत्मा-आत्मा में समता है, कुछ सोच समझ, जिज्ञासा कर ।
"खामेमि सव्व जीवे" कहता, तब सबसे आत्मिक नाता है ;
संकीर्ण परिधि में मौन बैठना, सखे ! न तुझे सुहाता है ।।

[४]

तू बैठ उपाश्रय में जरूर, चिन्तन की उसे कुटीर बना ;
चिन्तन के पीछे हो लेकिन रचनात्मक विधि की कुछ रचना ।
है एक पार्श्व उज्ज्वल तेरा, है अपर तमस् से घिरा हुआ ;
एकत्व, साम्य का नाद तेरा, है इसीलिए बेसुरा हुआ ।।

[५]

अब नव चिन्तन का संबल ले तू विश्वसिन्धु में यान चला ;
तप, त्याग, दया में विकसित हो तव विश्वप्रेम तव आत्मकला ।
यों सर्व विश्व से मैत्री हो, आत्मा को उच्च महान बना ,
तू विश्वपूज्य बन जाएगा, अर्हन्त बना, भगवान बना ।।

—श्री रामकुमार जैन 'स्नातक'

पर्युषण पर्व की आराधना

—पं० मुनि श्री फूलचन्द्र जी 'श्रमण'

पर्युषण पर्व आ रहा है, जिसके स्वागत के लिए लाखों व्यक्ति उत्साहित हो रहे हैं। दूसरे पर्वों में जहाँ लोग खान-पान, खेल-कूद, आमोद-प्रमोद, भोग-विलास, सैर-सपाटा आदि करते हैं वहां पर्युषण पर्व के दिनों में लोग उक्त क्रियाओं का त्याग करके तप की आराधना में जुट जाते हैं। इस दृष्टि से पर्युषण को पर्वराज कहा जाए तो उचित ही है। पर्युषण का अर्थ है—परि—समंतात्, ओषति—दहति समूलं कर्मजालं यत्, तत्पर्युषणम्; जो सब ओर से मूलसहित कर्म जाल को भस्म कर डाले वह पर्युषण कहलाता है। पर्युषण पर्व में प्रायः जैन समाज का बच्चा २ तप करने के लिए उत्सुक हो जाता है, और यथाशक्ति करता भी है।

तप तीन प्रकार का होता है, जैसे कि तामसिक, राजसिक और सात्त्विक। तामसी तप से अशुभ कर्मों का बन्ध होता है, राजसी तप से पुण्योपार्जन और सात्त्विक तप से कर्मों की निर्जरा होती है।

अर्हन्त भगवान ने उसी तप की अधिक विशेषता बताई है जिससे कर्मों की निर्जरा हो; कहा भी है—'निज्जरट्ठाए तवमहिट्ठिज्जा'। सात्त्विक तप की ओर बढ़ने के लिए जैन धर्म प्रेरित करता है; शेष तामसी और राजसी तप के लिए बिल्कुल आज्ञा नहीं देता। आजकल प्रायः बहुत से मनुष्य इह-लौकिक तथा पर-लौकिक सुख के लिए ही तप का अनुष्ठान करते हैं। यही कारण है कि कठोर तप करने पर भी उसका कोई विशेष प्रभाव अपने पर या दूसरों पर पड़ता हुआ नजर नहीं आता। इसका मुख्य कारण है संयम का अभाव। संयम की परिभाषा है नियंत्रित जीवन अर्थात् सम्—सम्यक् प्रकार से यम—वश में करना। किन को? इन्द्रियों, कषायों और योगों को। शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श इन पांच विषयों से पांच इन्द्रियों को रोकना इन्द्रिय-संयम कहलाता है। कषाय का अर्थ होता है—घनघातिक कर्मों का मूल कारण और जन्म-मरण रूपी संसार की वृद्धि करने वाला।

जैसे त्रिफला कहने से हरड़, बहेड़ा और आँवला का ग्रहण किया जाता है, इसी तरह कषाय कहने से क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार ही ग्रहण किये जाते हैं। जैसे क्रोध, मान, माया और लोभ लिखने का क्रम सूत्रों में मिलता है वैसा ही क्रम इनके क्षय करने का भी है। कषायों को जीतना कषाय-संयम कहलाता है।

मन, वचन और काय में जो परिस्पन्दन (हरक़त) होता है वह शुभ और अशुभ रूप से दो तरह का होता है। उसी को जैन परिभाषा में योग कहते हैं। पहले अशुभयोग को रोकना चाहिए फिर शुभयोग को। अयोगी होने पर ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। यह एक निश्चित सिद्धान्त है। पातञ्जल-योगदर्शन में योग का अर्थ किया है—**"योगश्चित्तवृत्ति-निरोधः"** अर्थात् चित्त-वृत्तियों का निरोध करना (रोकना) ही योग कहलाता है। जैन परिभाषा में योग का अर्थ मन, वचन और काय के व्यापार हैं। उस व्यापार को रोकना योग-संयम कहलाता है।

संयम के बिना कोई भी तप बाल तप (अज्ञान तप) कहलाता है। बाल तप से परलोक का आराधक नहीं बन सकता है। अहिंसा के बिना संयम ऐसा है जैसे नमक के बिना मसालेदार दाल-शाक। अहिंसा का विधि रूप अर्थ है—विश्वप्रेम अथवा विश्वमैत्री। क्षमा, सहिष्णुता, नम्रता, ऋजुता, निर्लोभता, प्रशमता, सहानुभूति आदि सद्गुणों को जीवन में कार्यान्वित करना ही अहिंसा कहलाती है। अहिंसक बनने पर संयमी बनना अनिवार्य हो जाता है, संयमी होने पर तप करना उसके लिए सहज बन जाता है। जैसे रजक (धोबी) पानी से भरे हुए भाजन में पहले मैलकाट मसाला डालकर वस्त्रों को बीच में डुबोता है, रात को भट्टी पर चढ़ाता है, फिर प्रातः जलाशय के तट पर ले जाकर उन्हें धोकर साफ और उजले बनाता है, इसी तरह भगवान महावीर स्वामी ने बताया है कि अहिंसा रूपी जल है, संयम रूपी कर्मकाट मसाला है और तप रूपी प्रचण्ड भट्टी में अपने आप को तपाने से सब कर्म-मैल कट कर अलग हो जाती हैं।

अहिंसापूर्वक संयम और तप से कर्मों की महान् निर्जरा होती है। महानिर्जरा करने वाला ही उन्नति के शिखर पर चढ़कर संसार के सामने आदर्श स्थापन कर सकता है। संसार रूपी गहन अटवी में अज्ञानता के अन्धकार में भटकते हुए प्राणियों को सन्मार्ग पर लाने के लिए वह प्रकाश-स्तम्भ बनता है और अन्त में अमर धाम पाकर दूसरों के लिए मार्ग सुगम बना देता है।

जैसे कि किसान अपने खेतों में धान्य के पौधों की रक्षा के लिए सिंचाई करते हैं, चारों तरफ बाड़ लगाते हैं, गुड़ाई करते हैं; खरतुआ सत्यानाशी वगैरह पौधों को उखाड़ कर दूर फेंकते हैं; उसी प्रकार मुमुक्षुजनों को भी चाहिए कि अपने आपको आध्यात्मिक किसान समझें। अहिंसा के द्वारा सिंचाई करने से आत्मा में अनन्त सद्गुण अंकुरित हो जाते हैं, संयम की बाड़ लगाने से आस्रवरूप पशु बाहर ही रुक जाते हैं। वैर-विरोधरूपी खरतुआ उखाड़ कर दूर फेंक देना चाहिए, तप की खाद डाल देने से सद्गुणों की फसल अनन्तानन्त हो जाने से मोक्ष का अविनाशी सुख प्राप्त होता है। अतः मुमुक्षुजनों को चाहिए कि केवल तप ही नहीं बल्कि यथाशक्ति अहिंसा, संयम और तप इन तीनों की आराधना करें। इन तीनों की आराधना करने वाला भगवान के शब्दों में विश्ववन्द्य हो जाता है।

अहिंसा, संयम और तप ही जिनधर्म है। यही धर्म सर्वोत्तम है और मंगलकारी है। इसी धर्म की शरण लेकर अनन्तप्राणी काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार के मगरमच्छों से बच कर संसार सागर से तैर कर पार हो गए। वर्तमान काल में अनेकों जीव पार हो रहे हैं और अनागत काल में पार होंगे। इसीलिए पर्युषण पर्व की आराधना व साधना की जाती है।

दुनियाँ है दीवानी

भाई बन्धु स्वजनादिक जितने हैं स्वारथ के प्राणी।
कभी वक्त पर काम न आते करते आना-कानी॥
जीवन भर में नाममात्र तकलीफ न जिसने जानी।
अगणित दुःख सह कर मरते हैं वे ही राजा-रानी॥
यहीं धरे रह जायँगे सब राज तथा रजधानी।
अन्त अकेला ही जायगा तज संपूर्ण निशानी॥
सुकृत कार्य कर ले रे मानव ! तू मत हो अभिमानी।
जीवन तेरा बीते पल-पल पा ले मोक्ष सुहानी॥

—डाक्टर संतोषकुमार जैन, ए०एम०एस०,
आयुर्वेदाचार्य

पर्युषण-मीमांसा

पण्डित प्रवर श्री कन्हैया लाल जी म. 'कमल'

श्रुत साहित्य में [1]पज्जुसणा शब्द सर्वत्र श्रमण के जीवन से संबद्ध दृष्टिगोचर होता है। यह शब्द योगरूढ है, इसका अर्थ—एक ही स्थान में वर्षाकाल व्यतीत करना है।

भगवान् पार्श्वनाथ की श्रमण परम्परा के लिए पज्जुसणा का विधान नियत नहीं था, किन्तु भगवान् महावीर ने साधक की वक्रता और जड़ता को ध्यान में रखकर श्रमण संघ के लिए पज्जुसणा का विधान [2]नियत किया।

प्रारंभ में पज्जुसणा शब्द का सामान्यरूप रहा। ज्यों ज्यों भगवान् महावीर का श्रमण-संघ समुन्नत और व्यवस्थित होने लगा, त्यों त्यों पज्जुसणा शब्द भी पल्लवित होने लगा।

१. सर्व प्रथम पज्जुसणा शब्द के साथ 'कप्प' शब्द लगाकर श्रमण-जीवन को सुव्यवस्थित करने वाली एक लंबी नियमावली जोड़ी गई। श्रमण का विहार ९ कल्पों में विभक्त हुआ। जिसमें पज्जुसणा-कप्प भी अन्त में परिगणित है।

२. 'पज्जुसणा' के आठ पर्यायवाची कहे गए हैं—

परियाय-ठवणा १, पज्जोसवणा २, परिवसणा ३, पज्जुसणा ४, वासावास ५, पढम-समोसरण ६, ठवणा ७, जेट्ठोग्गह ८।

श्रमण जिस दिन [3]वर्षावास करता है उसी दिन गत वर्ष के विहार में लगे दोषों की शुद्धि के लिए यथोचित छेद प्रायश्चित्त स्वीकार करके शेष दीक्षा-पर्याय स्थिर करता है; इसलिए "[4]परियाय-ठवणा" कहा जाता है।

---

[1] परि सामस्त्येन एकक्षेत्रे उषणा—वसनं पर्युषणा।

[2] नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा वासावासासु चरित्तए, कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा हेमंत-गिम्हासु चरित्तए। बृह०, प्र०उ०, सू०३६-३७।

[3] वर्षासु आवासोऽवस्थानं वर्षावास:। अभि०, भा०६, पृ० ११०५।

[4] यह कार्य आजकल संवत्सरी के दिन किया जाता है किन्तु ऐसा करना आगम विरुद्ध है।

श्रमण वर्षावास में कषायों के उपशमन की विशिष्ट साधना प्रारंभ करता है; इसलिए "पज्जोसवणा" (पर्युपशमना) कहा जाता है।

श्रमण वर्षाकाल पर्यन्त ग्रामानुग्राम विहार न करके एक क्षेत्र में स्थिति करता है; इसलिए "परिवसणा" कहा जाता है।

इसी अभिप्राय से "पज्जुसणा" भी कहा जाता है।

आगमों में दो प्रकार के 'समोसरण' माने गए हैं; एक वर्षाकालीन समोसरण दुसरा ऋतुबद्ध—शेष कालीन समोसरण। वर्ष का प्रारंभ और प्रथम ऋतु वर्षा होने से वर्षाकालीन समोसरण—पढम-समोसरण कहा जाता है, इसी पढम-समोसरण में श्रमण का श्रावक संघ के साथ वर्षाकाल पर्यन्त संपर्क और धार्मिक क्रियाओं की आराधना के लिए श्रावकों के धर्मस्थान में परस्पर मिलने को भी "पढम-समोसरण" कहा जाता है।

श्रमण वर्षा के कारण एक जगह स्थिर रहता है; इसलिए "ठवणा" कहा जाता है।

श्रमण उत्कृष्ट ६ महीने तक वर्षा के कारण एक क्षेत्र में स्थित रहता है; इसलिए "जेट्ठोग्गह" कहा जाता है।

३. पज्जुसणा कप्प की दो प्रकार की व्याख्याएँ कही गई हैं—निषेधरूपा और विधिरूपा।

वर्षा के प्रारंभ होते ही श्रमण के ग्रामानुग्राम विहार का निषेध, निषेधरूपा व्याख्याओं से किया गया है।

वर्षाकाल पर्यन्त एक क्षेत्र (एक-वसति) में श्रमण के स्थित रहने का विधान तथा [1]अप्रमत्तभाव से कषायों के उपशमन का विधान, विधिरूपा व्याख्याओं से किया गया है।

४. वर्षा का प्रारंभ और अंत किस दिन होगा यह कभी निश्चित नहीं हुआ। इसलिए 'पज्जुसणा के दिनों का परिमाण [2]जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट कहा गया है।

---

[1] परीति सर्वतः क्रोधादिभावेभ्य उपशम्यते यस्यां सा—पर्युपशमना।

[2] इय सत्तरी जहन्ना, चउण्ह मासाण मज्झओ, जति वासति मग्गसिरे, दसराया तिण्णि उक्कोसा। बृह० चू०।

जघन्य वर्षावास—वर्षाऋतु के अंतिम ७० दिन (७० दिन रखने का अभिप्राय यह है कि वर्षाऋतु के प्रारंभ में यदि वर्षा न हो तो मध्यम में वर्षा अवश्य होती ही है। वर्तमान में भी ऐसा ही देखा जाता है); मध्यम वर्षावास—१२० दिन अर्थात् पूरी वर्षाऋतु; उत्कृष्ट वर्षावास—वर्षाऋतु के पहले के ३० दिन, वर्षाऋतु के बाद के ३० दिन और वर्षाऋतु के १२० दिन अर्थात् १८० दिन का उत्कृष्ट वर्षावास कहा गया है।

यहां यह ध्यान में रहे कि ऋतुओं का उल्लेख श्रुतसाहित्य में दो प्रकार से है—सामान्य विवक्षा से और विशेष विवक्षा से।

सामान्य विवक्षा से तीन ऋतुएं कही गई हैं—वर्षा[1], शरद् और ग्रीष्म। [2]विशेष विवक्षा से ६ ऋतुएं कही गई हैं—प्रावृट्, वर्षा, शरद्, हेमन्त, वसन्त और ग्रीष्म।

जंबूद्वीप पन्नत्ति में वर्षाऋतु का प्रारंभ दिन श्रावण कृष्णा प्रतिपदा को माना गया है। और ज्ञात-धर्मकथाङ्ग-सूत्र अध्ययन ९, तथा ठाणांग अध्ययन ५ उद्देशा १ में वर्षाऋतु का प्रारंभ आषाढ़ से माना गया है। अमरकोश कांड १, वर्ग ४ में वर्षाऋतु का प्रारंभ श्रावण से माना गया है। [3]प्रत्येक ऋतु का कालमान दो महीने का है।

श्रुतसाहित्य में प्रथम ऋतु वर्षाऋतु मानी गई है। क्योंकि उत्सर्पिणी के दूसम आरे का आरंभ श्रावण कृष्णा प्रतिपदा को होता है। टीकाकार (जंबू० वक्ष० २) काल के चौदह भेदों का प्रारंभ श्रावण कृष्णा प्रतिपदा से मानते हैं; इसलिए प्रथम ऋतु वर्षा, प्रथम मास श्रावण और वर्ष का प्रथम दिन श्रावण कृष्णा प्रतिपदा है।

आगमों में [4]प्रावृट् और वर्षा दोनों ऋतुओं के चार मास माने गए हैं अर्थात् श्रावण से कार्तिक तक। किन्तु अमरकोश में वर्षा के केवल दो मास श्रावण-भाद्रपद मानकर आश्विन-कार्तिक शरद् ऋतु के दो मास माने गए हैं।

[5]भगवती सूत्र में वर्षा का प्रारंभ समस्त भारत में समान माना है किन्तु

---

[1] बृह० उद्दे० १। [2] सूर्य०, पा० १० का पा० पा० १२।
[3] भग० श० ६ उ० ७ और अनु० सम० ५९। [4] बृह० उद्दे० १।
[5] भग० श० ५

आज के भूगोल का विद्यार्थी यह मानने को तैयार नहीं है क्योंकि एक ही भारत के भिन्न भिन्न क्षेत्रों में वर्षा का प्रारंभ भिन्न भिन्न समय में होता है। इस प्रकार यहां केवल मान्यता भेद दिखाया है। प्रत्यक्ष और आगम पाठ की संगति करना तो बहुश्रुतों का कार्य है।

श्रमण जीवन की साधनाओं में अहिंसा की साधना ही प्रमुख साधना है। पज्जुसणा-कप्प का विधान भी उसी अहिंसा की साधना का एक अंग है। अतएव "पज्जुसणा-कप्प" के संबंध में उत्सर्ग और अपवाद के अनेक सूत्र कहे गए हैं।

प्रथम वर्षा होते ही असंख्य प्रकार के जीव जन्तु पैदा हो जाते हैं। वन्य वनस्पतियों के अंकुर निकल आते हैं। पानी के प्रवाह से मार्ग में खड्डे, कीचड़ और कांटे हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में पंकपूरित पथ में चले या पथ का परित्याग कर चले फिर भी कीचड़ में गिरने का और पैरों में कांटे चुभने का भय सदा बना रहता है साथ ही सूक्ष्म और स्थूल जीवों की हिंसा भी अवश्य होती है। इसी हिंसा से श्रमण का बचाव करने के लिए भगवान महावीर ने [1]वर्षा के प्रारंभ काल में ही ग्रामानुग्राम विहार के दो विशेष निषेधादेश कहे हैं—

(१) वर्षाऋतु के प्रारंभ काल में (आषाढ में) साधु साध्वी को ग्रामानुग्राम विहार करना नहीं कल्पता है।

(२) वर्षावास रहने पर भी साधु साध्वी को ग्रामानुग्राम विहार करना नहीं कल्पता है।

इन दो आदेशों से केवल ग्रामानुग्राम विहार का ही निषेध होता है [2]स्थान परिवर्तन का नहीं। वर्षाऋतु के आरंभ दिन से पचासवें दिन तक वर्षा न हो, या समाधिपूर्वक साधना करने योग्य स्थान प्राप्त न हो तब तक श्रमण स्थान परिवर्तन कर सकता है किन्तु वर्षा हो या न हो, योग्य स्थान मिले या न मिले, किन्तु वर्षाऋतु के पचासवें दिन वर्षाऋतु के शेष ७० दिनों के लिए श्रमण को एक स्थान में स्थिर होना ही चाहिए। यदि योग्य स्थान न मिले तो वृक्ष के नीचे ही वर्षावास करे।

---

[1] ठाणांग अ० ५ उ० २।

[2] इससे प्रतीत होता है कि वर्तमान में महीनों पहले चातुर्मास की स्वीकृति देने की प्रथा दोषपूर्ण और आगम विरुद्ध है।

[१]स्वयं भगवान महावीर भी एक बार योग्य स्थान न मिलने पर वर्षाऋतु के पचासवें दिन स्थिर हुए।

श्रुतसाहित्य के इन निर्दिष्ट पाठों से "पज्जुसणा-कप्प" का विधान केवल श्रमण के लिए है यही सिद्ध होता है।

"पज्जुसणा-कप्प" का वर्तमान रूप।

वर्तमान में पर्युषणा केवल आठ दिनों में रूढ हो गया है और पर्युषण का अंतिम दिन संवत्सरी कहा जाता है। पर पर्युषण चतुर्विध संघ का एक धार्मिक पर्व, तथा पर्युषण के केवल आठ दिन और अंतिम दिन संवत्सरी—यह मान्यता आगम सम्मत नहीं, किन्तु किसी एक युग की देन हैं। यह मानना ही अधिक संगत होगा।

क्योंकि संवत्सरी शब्द ही वर्ष के अंतिम दिन का सूचक है जब वर्ष का प्रारंभ श्रावण कृष्णा प्रतिपदा को मानते हैं तो वर्ष का अंत भाद्रपद शुक्ला पंचमी को कैसे हो सकता है।

समवायांग के ७०वें समवाय से, जंबूद्वीप पन्नत्ति (वक्ष० २) के आरावर्णन में पांच मेघों के दिनों से और निशीथ (उद्दे० १०) के पाठों से वर्तमान के पर्युषण एवं संवत्सरी संबंधी विवाद और मतभेद मिटाने का प्रयत्न वर्षों से चल रहा है किन्तु पर्युषण तथा संवत्सरी के विषय में अब तक सब का एक मत नहीं हुआ। इसका एक मात्र कारण है आगम के स्पष्ट पाठ का अभाव।

जे भिक्खू अपज्जोसवणाए पज्जोसवेइ, पज्जोसवंतं वा साइज्जइ ॥
जे भिक्खू पज्जोसवणाए न पज्जोसवेइ। पज्जोसवंतं वा न साइज्जइ ॥
निशी० उद्दे० १०

इस पाठ से श्रावकों के मन में प्रायश्चित्त का आतंक पैदा करके अपनी अपनी परम्परा के अनुसार पर्युषण तथा संवत्सरी मनवाने का दुराग्रह करने वाले श्रमण इस पाठ के आदि में आए 'जे भिक्खू' तथा अंत में आए 'पज्जोसवेइ' शब्द पर गंभीर चिंतन करेंगे तो अधिक आत्महित व समाजहित होगा।

वास्तव में पर्युषणा शब्द को आठ दिनों में रूढ़ करके और परियायट्ठवणा की विधि को संवत्सरी के दिन करके श्रमण संघ ने ही चतुर्विध संघ में संघर्ष को जन्म दिया है।

आज के श्रमण वर्ग को इस विषय पर गम्भीरता से विचार करना चाहिए।

---

[१] समवायांग सूत्र का ७० वाँ समवाय।

गीत

आओ, पर्वराज पर्यूषण ! शांति मार्ग बतलाने !

आज विश्व में धधक रही–
है महानाश की ज्वाला,
सत्य, क्षमा को स्वार्थ महा-
विष ने कलुषित कर डाला।

मानव चीख रहे, मानवता
थर-थर काँप रही है,
शान्ति क्षणों के जाने की
घड़ियों को नाप रही है।

जोह रहे मानव अदृष्ट की बाट क्रान्ति से बचाने,
आओ पर्वराज पर्यूषण ! शान्ति मार्ग बतलाने !

धिक् विज्ञान, कंपा डाला
जिसने सारी वसुधा को,
मानव के मन में कर डाली
गहरी कटु द्विविधा को।

आज नहीं निष्कपट मनुज का
हृदय, भरोसा किसका !
उससे ही वंचित होता जग
करता आदर जिसका।

निश्छलता का पाठ पढ़ाने, मार्दव भाव सिखाने,
आओ पर्वराज पर्यूषण ! शान्ति मार्ग बतलाने !

आज मनुज की आँखों में
सन्देह भर गया भारी,
श्रद्धा और भक्ति दोनों
ही इसके आगे हारी।

है कृतज्ञता कहाँ? स्वार्थ-
की भेरी बोल रही है,
दुनियाँ रजत खण्ड से
मानवता को तोल रही है।

मानव में भाई-भाई का शुभ सन्देश सुनाने,
आओ पर्वराज पर्यूषण! शान्ति मार्ग बतलाने!

पावें सब सद्भाव, धरणि को
अनुपम स्वर्ग बनावें,
कलुषित दूषित भाव मिटा-
कर प्रिय! अपवर्ग बनावें।

नहीं साधना की रचना हो
छलना मनुज हृदय की,
भय को त्याग साधना कर
लें सब नर सुयश अभय की।

बस यह उज्ज्वल कार्य कराने, मानवता सिखलाने,
आओ पर्वराज पर्यूषण! शान्तिमार्ग बतलाने॥

—श्री 'कोमल' जैन, बीना

महापर्व संवत्सरी

—जैनधर्म दिवाकर प्रधानाचार्य श्री आत्माराम जी महाराज
के सुशिष्य पण्डितरत्न श्री ज्ञानमुनि जी

पर्व और उसके प्रकार

किसी निश्चित काल में मनाए जाने वाले उत्सव या त्योहार को पर्व कहते हैं। पर्व दो तरह के होते हैं—१—लौकिक और लोकोत्तर। जिस पर्व में भौतिकता की प्रधानता रहती है, सांसारिकता का पोषण होता है, नवीन-नवीन वस्त्र सिलाए व पहने जाते हैं, अनेक प्रकार के मिष्टान्न और खाने-पीने के अन्य अनेकविध साधन जुटाए जाते हैं, नूतन-नूतन आभूषणों का निर्माण होता है, उनसे शरीर को विभूषित एवं अलंकृत किया जाता है, नृत्य और संगीत होते हैं, रंगरलियां मनाई जाती हैं, यथेच्छ मनोविनोद चलता है तथा जिसमें जीवन का उपवन रंग-राग के सुगंधित पुष्पों से सुरभित हो उठता है, ऐसे पर्व को लौकिक पर्व कहते हैं। लौकिक पर्व का संबन्ध केवल जीवन के बाह्य वातावरण से होता है, आध्यात्मिक जीवन के उत्थान या कल्याण का उसमें विशेष स्थान नहीं रहता है।

लौकिक पर्व में सांसारिक आमोद-प्रमोदों की वर्षा होती है। किन्तु लोकोत्तर पर्व में इसके सर्वथा विपरीत होता है। वहां आध्यात्मिकता के नेतृत्व में सभी प्रवृत्तियाँ चलती हैं। अन्तरंग जीवन की उन्नति एवं प्रगति उसका प्रमुख उद्देश्य रहता है। अन्याय, अत्याचार एवं अज्ञान के पतझड़ से शुष्क और नीरस जीवन तरु को सत्य अहिंसा के पावन जल से सींचा जाता है। आहारदान, औषधदान, अभयदान और ज्ञानदान जैसे उत्तम दानों से दीन-दुःखी जनों के दुःखों का नाश कर मानवता को पल्लवित करने का सत्प्रयास किया जाता है। तपस्या की भट्ठी में कर्मेन्धन की भस्म बनाई जाती है। सदाचार के सौरभ से जीवनांगण को सुवासित करने एवं जैनेन्द्रवाणी की छत्रछाया तले बैठ कर आत्मज्योति को जगाने के लिए मानसिक दुर्बलता, अज्ञानता, स्वार्थ-परायणता और अस्मिता के दुर्भावों का बहिष्कार करना पड़ता है।

मानव मानवता की पगडंडियों को पार करता हुआ महामानव के समुच्च सिंहासन पर प्रतिष्ठित होता है । **"सत्त्वेषु मैत्रीं, गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपा-परत्वम् । माध्यस्थ्य-भावं विपरीत-वृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव !"** की पावन तथा मधुर झँकार से अन्तर्वीणा झकृत हो उठती है। ऐसी अनेक अन्य विशेषताओं के कारण ही लोकोत्तर पर्व अन्य पर्वों में अपना प्रमुख स्थान रखता है और अपने समुज्ज्वल तेज से लौकिक पर्व को निस्तेज बना डालता है ।

संवत्सरी पर्व के कर्तव्य

संवत्सरी एक लोकोत्तर महापर्व है । यह महापर्व मानव को आत्म-निरीक्षण, आत्मचिन्तन तथा स्व-स्वरूप-रमण की प्रेरणा करता और मानव जाति को सुख-शान्ति का आलोक दिखाता है तथा व्यक्तिगत दोषों, त्रुटियों एवं भूलों पर गंभीर दृष्टिपात करने की पावन प्रेरणा करता है । कड़े से कड़े सामाजिक तथा राष्ट्रीय वैर-विरोध व मतभेद को भूल कर शत्रु तक के साथ सरल हृदय से सप्रेम व्यवहार करना, आपस का मनोमालिन्य हटाकर—

खामेमि सव्वे जीवे सव्वे जीवा खमंतु मे ।
मित्ती मे सव्वभएसु, वेरं मज्झं न केणइ ॥[१]

के मंगल पाठ को जीवनांगी बनाना, तथा दूसरे प्राणियों की भूलों व गलतियों को भी उदार हृदय से क्षमा करके उनसे मैत्रीभाव स्थापित करना आदि इस महापर्व की आदर्श विशेषताएँ हैं । इस महापर्व की छाया तले जीवन का कण-कण अध्यात्मवाद के सुरम्य पुष्पों से सुरभित हो उठता है और मानव बाह्य-जगत की आपात-रमणीय वृत्तियों को छोड़कर अन्तर्जगत की पूर्व-भूमिका पर अवस्थित होकर अपूर्व आनन्द सागर में डुबकियां लगाने लगता है ।

संवत्सरी का असली अर्थ

आप जानना चाहेंगे कि संवत्सरी का शाब्दिक अर्थ क्या है । सुनिए, संवत्सर वर्ष का नाम है । संवत्सर शब्द से पर्व (त्यौहार) अर्थ में संस्कृत

[१] मैं सब जीवों को क्षमा करता हूँ और वे सब जीव भी मुझे क्षमा करें। मेरी सब जीवों के साथ पूर्ण मित्रता है । किसी के साथ भी मेरा वैर-विरोध नहीं है ।

व्याकरण द्वारा अण् [१] प्रत्यय लगाकर सांवत्सर शब्द बनता है। वर्ष के अनन्तर मनाए जाने वाले पर्व को सांवत्सर पर्व कहते हैं। स्त्रीलिंग में यही पर्व संवत्सरी या सांवत्सरी कहलाता है। जैन संसार में यह संवत्सरी के नाम से प्रसिद्ध एवं प्रचलित है। वर्ष भर में मनुष्य से जो भूलें, त्रुटियाँ, अपराध बन गए हैं, उन सबका अन्वेषण तथा चिन्तन करना, उनके लिए पश्चात्ताप करना और अन्त में क्षमायाचना कर अपनी आत्मा को पवित्र एवं शुद्ध बनाना ही इस पर्व का सर्वतोमुखी लक्ष्य है।

जीवन में संवत्सरी की उपयोगिता

संवत्सरी महापर्व के पीछे जैन संस्कृति का करोड़ों वर्षों पूर्व का इतिहास भी जुड़ा हुआ है परन्तु प्रस्तुत लेख में हमें इतने विस्तार में नहीं जाना है। आज तो हमें इतना ही समझना है कि इस महापर्व का हमारे वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन के साथ क्या संबन्ध है। यह महापर्व हमारे इह-लौकिक और पार-लौकिक जीवन के निर्माण में कितना सहायक एवं सहयोगी प्रमाणित होता है।

मनुष्य आखिर मनुष्य है। वह कितना भी संभल कर चले, सतर्क होकर गतिशील होवे, तथापि उसका भटक जाना, पथ-भ्रष्ट हो जाना असंभव नहीं है। जब तक मनुष्य में अपूर्णता है, अल्पज्ञता है, परिपूर्णता नहीं है, तथा सर्वज्ञता का अभाव है तब तक मनुष्य भूलों से बच नहीं सकता। किसी न किसी रूप में उससे भूल व गलती हो ही जाती है। इसी सत्य के आलोक में विश्व-वन्द्य करुणा-सागर भगवान महावीर ने भूलों के प्रवाह में प्रवाहित मानव को बड़े सान्त्वनापूर्ण शब्दों में कहा था—

मानव! तू एक योग्य व्यापारी की भाँति अपने जीवन-खाते की पड़ताल और उसमें होने वाले हानि-लाभ की जाँच प्रतिदिन कर लिया कर। प्रतिक्षण सतर्कता के साथ जीवन के अनमोल क्षणों को व्यतीत करता हुआ भी तू अपने अतीत जीवन की देखरेख में उदासीन मत बन। यदि तू देखता है कि मुझसे अमुक भूल हो गई तो उसको उसी समय सुधार। यदि तू किसी को कोई दुर्वचन कह बैठता है तो उससे क्षमायाचना कर। इस तरह जीवन के खाते को प्रतिपल साफ सुथरा रख, उसमें किसी भी प्रकार की गड़बड़ी न होने दे।

[१] संवत्सरात्पर्वफले।३।१।७७।—इति शाकटायनः।

भगवान महावीर कहते हैं—मानव ! दैनिक भूलों का उसी दिन संशोधन कर लेना चाहिए। यदि तुझसे प्रतिदिन ऐसा न हो सके तो तू १५ दिनों के अनन्तर अपने अन्तःकरण की शुद्धि कर, उसमें अवस्थित, ईर्ष्या-द्वेष, वैर-विरोध के विकारों को नष्ट कर। यदि १५ दिनों के पश्चात् मन की सफाई न कर पाए तो तुझे चार मास के बाद अपने जीवन के आन्तर को परखना चाहिए। यदि तू चार मास के अन्त में भी अपनी मनःकालिमा को दूर नहीं कर पाता तो तुझे एक वर्ष के अनन्तर अपने जीवन का खाता अवश्य देख लेना चाहिए, और विचार लेना चाहिए कि वर्ष भर में मन कहां-कहां भटका है ? किस-किस के हृदय को वाणी के प्रहारों से आहत किया है ? आँखों ने कितनी बार कुदृष्टि से देखा है ? हाथों ने कहां-कहां किस-किस के जीवनधन को लूटा है ? कब-कब मैंने सतियों के सतीत्व पर हाथ डाला है ? धर्म का वेष पहन कर किस-किस के साथ विश्वासघात किया है ? कृतघ्नता तथा मित्र-द्रोह के लिए कहां-कहां पग उठाए हैं ? इस भांति सभी जीवन-विकारों की तालिका बना लेनी चाहिए। भविष्य में इन सब कुवृत्तियों से अपने को सर्वथा अलग-अलग रखने का प्रयास किया जाए, भूलकर भी भविष्य में इन दोषों को जीवन में न लाया जाए। इसके अतिरिक्त जिस-जिस व्यक्ति के मानस को पीड़ित, व्याकुल एवं हताश किया है उन सबसे क्षमा-याचना करना चाहिए। महापर्व संवत्सरी के दिन अपने सम्पर्क में आने वाले सभी व्यक्तियों के मानस को शान्त करना चाहिए, दो हृदयों में बह रही वैर-विरोध की धारा के स्रोत को सदा के लिए समाप्त कर देना चाहिए।

भगवान कहते हैं—मानव ! कितना भी सुन्दर मकान हो, रंग-रोगन से भले ही वह अनुपम दिखाई देता हो, तथापि वर्ष भर यदि उसकी देख-रेख या सफाई नहीं होती तो वह मकान भी खराब हो जाता है, उसमें स्थान-स्थान पर जाले लग जाते है, कूड़े-करकट के ढेर उसमें एकत्रित हो जाते हैं। जब मकान की ऐसी दशा है तो जीवन की देख-रेख किए बिना उस को प्रशस्त, सुन्दर एवं विकारों से उन्मुक्त कैसे रखा जा सकता है ?

संवत्सरी महापर्व भगवान महावीर के आत्म-निरीक्षण, सत्य, अहिंसा आदि के इन्हीं सिद्धान्तों को दुहराने आया है, जीवन के निर्माण एवं कल्याण का सन्देश लाया है और मानव की सोई हुई मानवता को जगाने के लिए यह अलार्म का काम देता है।

आज मानव जगत में मान-प्रतिष्ठा, ईर्ष्या-द्वेष, वैर-विरोध, अशान्ति, कलह, संकीर्णता और असहिष्णुता आदि दुर्भावों की जो आग धधक रही है और वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय शान्ति भंग होती दृष्टिगोचर हो रही है, उसको शान्त करने का सर्वोत्तम साधन यही है कि मानव महापर्व संवत्सरी के उपलक्ष्य में वर्ष भर की बुराइयों का संशोधन करे, सम्पर्क में आने या न आने वाले किसी भी व्यक्ति के साथ जो दुर्व्यवहार किये हैं उनके लिए उससे क्षमा की याचना करे, और भविष्य में बुरे कर्मों से दूर रहने की वह अटल प्रतिज्ञा धारण करे, ऐसा करने से ही वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय उपद्रवों, संघर्षों एवं क्लेशों को समाप्त किया जा सकता है। महापर्व संवत्सरी के महान आदर्श को जीवनांगी बना कर ही समाज एवं राष्ट्र में सर्वत्र सुख-शान्ति का साम्राज्य स्थापित किया जा सकता है। तब इस लोक की सात्विकता से पार-लौकिक जीवन का सुधर जाना, उसका सुखमय बन जाना स्वाभाविक ही है। वास्तव में इस जीवन की पवित्रता ही उज्ज्वल एवं सुखमय भविष्य की पूर्व भूमिका होती है। इस तरह महापर्व संवत्सरी इस लोक और परलोक दोनों को प्रशस्त बनाने में अपना प्रबल, मधुर सहयोग सदा से देता आ रहा है।

महापर्व संवत्सरी केवल जैनों का ही त्यौहार नहीं है। यह पर्व प्रत्येक व्यक्ति का है। प्रत्येक समाज और प्रत्येक राष्ट्र का पर्व है। महापर्व संवत्सरी प्राणी मात्र को आत्म-शुद्धि, सुख-शान्ति और जीवन के कल्याण का सन्देश देता है। यह किसी एक जाति या वर्ग से संबन्धित नहीं है। हां, यह सत्य है कि क्षमायाचना के माध्यम से की जाती इस आत्म-शुद्धि के परम सत्य को एक महापर्व के रूप में उपस्थित करने का श्रेय मात्र परम पूज्य जैनाचार्यों को ही है। सच-मुच जैनाचार्यों ने आत्मदोषों के अन्वेषण, निरीक्षण और तन्निमित्तक क्षमायाचना के पुण्य कर्म को एक महापर्व के रूप में उपस्थित कर मानव जगत पर बड़ा भारी उपकार व अनुग्रह किया है। मानवता सदा के लिए इन महापुरुषों की ऋणी रहेगी।



पर्व-सन्देश

मेटने जगती तल का क्लेश, पर्व यह लाया नव सन्देश !
मधुर मानवता का संचार ,
धर्म की वेदी का उपहार ।
अतुल सुख वैभव का भण्डार ,
तथा मानव जीवन का सार ।
विश्व से हरने को विद्वेष, पर्व यह लाया नव सन्देश !

तजो मद, लोभ, मोह, अरु मान ,
घृणा औ' मत्सरता की बान ,
सदा विषयासक्ति का ध्यान ,
उठो जागो अब हुआ विहान ।
सुनाता हमें यही उपदेश, पर्व यह लाया नव संदेश !

रहे निज आतम का विश्वास ,
तथा मन में हो ज्ञान प्रकाश ।
धर्म पर सर तक दें सोल्लास ,
सभी की हो ऐसी अभिलाष ।
नहीं दें कभी किसी को क्लेश , पर्व यह लाया नव सन्देश !

रहें मेरू सम अटल अडोल ,
नयन अन्तर लें अपने खोल ।
वचन जो कहें प्रथम लें तोल ,
करें यह जन्म सफल अनमोल ।
नहीं हों पाप यहाँ लवलेश , पर्व यह लाया नव सन्देश !

करें जगती में ऊँचे काम ,
बना जाएँ पद चिह्न ललाम ।
सदा जिससे हो 'यश' अभिराम ,
लक्ष्य पर ही लेवें विश्राम ।
देखता रहे विश्व अनिमेष, पर्व यह लाया नव सन्देश !

—मुनि श्री कीर्तिचन्द्र जी 'यश'

संवत्सरी और आचार्य श्री सोहनलाल जी महाराज

—श्री 'विज्ञ'

आचार्य श्री अमरसिंह जी के समय में ही पंजाब सम्प्रदाय में यह प्रश्न उठा था कि जैन शास्त्रों में ज्योतिष के जो सिद्धान्त प्रतिपादित हैं, उनके अनुसार तिथिपत्र या टीप बन सकती है या नहीं ? मुनि श्रीचन्द जी ने इस हेतु से ठाणांग, समवायांग, जम्बूदीप-पण्णत्ति और चन्द्र तथा सूर्य-पण्णत्ति आदि शास्त्रों से मूल मान्यताएँ एकत्रित कीं। उन्हीं के आधार पर अहमदनगर निवासी श्रावक रायचंद जी ने वि० सं० १९६२ (ई० सन् १९०५) में 'जैन ज्योतिष भास्कर अपरनाम जैन पंचांग' प्रकाशित किया। इस पंचांग के बारे में लेखक ने लिखा था कि यह १८५७० वर्ष के लिए था। इस पंचांग के साथ स्व० वाड़ीलाल मोतीलाल शाह का नाम भी सक्रिय रूप से संबन्धित था। परन्तु यह पंचांग कार्यरूप में नहीं आ सकता था, क्योंकि इसका प्रारम्भ प्रत्यक्ष से नहीं मिलता था।

वि० सं० १९३२ में पंजाब के साधुओं के एक सम्मेलन में—जो कि आचार्य अमरसिंह जी की अध्यक्षता में हुआ था, यह प्रस्ताव (बोल) पास हुआ था कि जैन शास्त्रानुसार तिथिपत्र बनाने का प्रयत्न होना चाहिए। जब [1]आचार्य-शिरोमणि श्री सोहनलाल जी महाराज शारीरिक अशक्ति के कारण अमृतसर में स्थिरवास हो गए तो उन्होंने अपना सारा ध्यान इस ओर लगाया। सन् १९१२-१३ में जब स्व० आचार्य अमोलक ऋषि जी की ओर से 'सच्ची संवत्सरी' के बारे में एक पुस्तिका निकली तो उन्हें अपने संशोधन कार्य में विशेष उत्साह प्राप्त हुआ। इसी प्रश्न पर ऋषि जी से वे काफी पत्र व्यवहार भी करते रहे। ऋषि जी के किये शास्त्रों के हिन्दी अनुवाद से भी उन्हें बहुत

[1] सन् १९३३ के अजमेर साधु सम्मेलन में उन्हें इस उपाधि से अलंकृत किया गया था।

लाभ व अनुभव हुआ, क्योंकि उन्हें शास्त्रों के बारे में अपने अर्थों की दूसरों के अर्थों से तुलना करने का अवसर मिला।

आचार्य श्री सोहनलाल जी महाराज वर्षों के अध्ययन और मनन के पश्चात् जिन परिणामों पर पहुँचे वे स्पष्ट रूप से प्रकाशित नहीं हुए हैं। फिर भी उनकी रची हुई वि० सं० १९७२ से २००७ पर्यन्त ३५ सालों की 'जैन ज्योतिष तिथि पत्रिका' में उनका कुछ वर्णन किया गया है। तथा श्वे० स्था० जैन सभा पंजाब द्वारा प्रकाशित 'पत्री निर्णय कमेटी' की रिपोर्ट से भी उन्हें एकत्रित किया जा सकता है।

इस लेख का उद्देश्य उन सब परिणामों या सिद्धान्तों पर प्रकाश डालने का नहीं हैं। इसके लिए समय और विस्तृत स्थान की आवश्यकता है। इस समय हम केवल संवत्सरी के संबन्ध में उनके विचार और उनके आधार पर प्रकाश डालने का प्रयत्न कर रहे हैं।

जैन शास्त्रानुसार संवत्सरी सदैव निम्न दिनमान में आनी चाहिए—

संवत्सरी	दिनमान
युग की पहली	३२ घड़ी — ४८ भाग
,, दूसरी	३३ ,, — ३५ भाग
,, तीसरी	३४ ,, — २२ भाग
,, चौथी	३३ ,, — ११ भाग
,, पाँचवीं	३३ ,, — ३९ भाग

समवायांग सूत्र के ७० वें समवाय के अनुसार संवत्सरी पर्व चातुर्मास प्रारंभ होने के एक मास और २० दिन बाद अर्थात् चान्द्र के पचासवें और चातुर्मासिक विहार से ७० दिन पूर्व मनाना चाहिए।

इस संबन्ध में उन्होंने स्वतन्त्र अभ्यास करने वालों के अनुभवों का उल्लेख भी किया है—

1. "At that time and season the adorable ascetic Mahavira commanded that, reckoning from the full moon of Ashadh a month and twenty days, a period of

rest and fasting should be observed yearly in the four months of the rainy season."

English Kalpa Sutrā by Rev. Stevenson D. D., Bombay. pp. 103.

किं च,

2. "A striking feature of the Jain Religion is the keeping of the season of Religious meditation, reading and fasting called Paryushan or popularly, pajjusan. It corresponds to the Buddhist Wasso, and is divided into two parts, the fifty days, that precede and seventy that succeed the fifth of Bhadra Shukla Paksha."

Ibid. Introduction pp. 22.

और भी—

3. A. "As the venerable ascetic Mahavira commenced the Pajjusan when a month and twenty nights of the rainy season had elapsed, so the Gaṇadharas, commenced the Pajjusan when a month and twenty nights of the rainy season had elapsed."

B. "As the Gaṇadharas have done, so the disciples of Gaṇadharas have done."

C. "As they have done, so the Sthaviras have done."

D. "As they have done, so do the Nirgranthas, Sramanas of the present time."

E. "As they do, so our masters, teachers do."

F. "As they do, so do we commence the Pajjusan after a month and twenty nights of the rainy season have elapsed."

Kalpa Sutra pp. 296. Sacred Books of the East. Dr. Hermann Jacobi.

(१) "उस काल और समय में भगवान श्रमण महावीर ने आज्ञा दी कि आषाढ़ पूर्णिमा से १ मास २० दिन की गणना करके प्रति वर्ष वर्षा ऋतु के चार मास में विश्राम और उपवासादि का समय मनाना चाहिए।"

(२) "जैनधर्म में आत्म-ध्यान, स्वाध्याय और उपवासादि तपस्या करने की ऋतु को मानने का बड़ा महत्व है। उसे पर्युषण या पज्जुसण कहते हैं। वह बौद्धों के वस्सो के सदृश है। उसके दो भाग हैं। अर्थात् भाद्र शुक्ला पंचमी के पूर्व के ५० दिन और उसके बाद के ७० दिन।"

(३) "जैसा कि भगवान श्रमण महावीर ने पज्जुसण वर्षा ऋतु के १ मास और २० रात्रि व्यतीत हो चुकने पर मनाया, वैसे ही गणधरों ने वर्षा ऋतु के १ मास २० रात्रि व्यतीत हो चुकने पर किया।"

"जैसे गणधरों ने किया वैसे ही उनके शिष्यों ने किया।"

"जिस प्रकार कि उन्होंने किया, उसी प्रकार स्थविरों ने किया।"

"जैसे उन्होंने किया, उसी तरह वर्तमान काल के निर्ग्रन्थ श्रमण करते हैं।"

"जैसे वे करते हैं, उसी भांति हमारे आचार्य, उपाध्याय करते हैं।"

"जिस प्रकार वे करते हैं, उसी प्रकार हम वर्षा ऋतु के १ मास २० रात्रि व्यतीत होने पर पज्जुसण करते हैं।"

इसी संबन्ध में संक्षेप में यह भी संकेत करना है कि जैन शास्त्रों में प्रतिपादित ज्योतिष के अनुसार अधिक (मल) मास युग के प्रथम २½ वर्षों के पश्चात् द्वितीय पौष होता है और दूसरा अधिक मास युगान्त पर द्वितीय आषाढ़ होता है। इसलिए वर्षाऋतु के चार मासों में अधिक मास आता ही नहीं है।

आचार्यश्री के संशोधन का एक परिणाम यह भी था कि लौकिक (प्रचलित) आषाढ़ वास्तव में जैन श्रावण हैं। एवं लौकिक श्रावण, जैन भादों है। और मास भी इसी क्रम से समझने चाहिए।

अस्पृश्यता और जैनधर्म

—पण्डित प्रवर श्री बेचरदास जी दोशी

पण्डित प्रवर श्री बेचरदास जी दोशी प्राकृत भाषा और जैनागमों के माने हुए विद्वान हैं। भाषा विज्ञान के आप विशेषज्ञ हैं। प्राकृत भाषा और जैन साहित्य को लेकर आपने आज तक बहुत कुछ लिखा है। जो कुछ लिखा है, वह सचाई और प्रामाणिकता के साथ। इतने बड़े विद्वान होने पर भी आपका हृदय बड़ा सरल और निरभिमान है। विचार बड़े उदार हैं। विद्यार्थी अवस्था से ही आप स्पष्टवक्ता रहे हैं। यही कारण है कि आपको जैन समाज का कोपभाजन भी बनना पड़ा था। आपका कुछ विशद परिचय हम 'श्रमण' के किसी अगले अंक में देना चाहते हैं।

इस लेख में पण्डित जी ने कहा है कि किसी भी अहिंसा प्रेमी के दिल में अपने जैसे मानव के प्रति छुआछूत या ऊँच-नीच की भावना ही कैसे रह सकती है? यदि है तो अहिंसा का पालन नहीं हो सकता। जैनेतर धर्मों के कारण जैन समाज में जो उक्त भावनाएँ घर कर गई हैं, जैन धर्म में उनको कोई स्थान नहीं है। जैन धर्म इस भावना को ही हिंसामय मानता है। आशा है पाठकजन पण्डित जी के स्पष्ट विचारों को पढ़कर जैन धर्म के हृदय को समझ सकेंगे, और जैनत्व का दावा रखने वाले सज्जन पर्युषण पर्व के अवसर पर प्राणी मात्र से क्षमा माँगते हुए अपनी इस भूल को भी स्वीकार करके सच्चे जैनत्व का परिचय देंगे।

—संपादक

प्रत्येक जैन मानता है और अच्छी तरह समझता है कि जैनधर्म में प्रधान आचार अहिंसा है। अन्य सभी आचरण, कर्मकांड तथा क्रियाविधान—सब के सब एक मात्र अहिंसा की ही साधना के लिए हैं। दूसरे धर्मों में जितना निरूपण अहिंसा के विधान या अहिंसा के स्वरूप का है, उससे कई गुना अधिक निरूपण अहिंसा के विधान तथा अहिंसा के स्वरूप का जैन शास्त्रों में है। ऐसा समझ कर तथा मान-मनवा कर प्रत्येक जैन बड़े भारी गौरव का अनुभव करता है और अपने धर्म की प्रशंसा करता हुआ मन में फूला नहीं समाता। यह बात है तो उचित, परन्तु एक बात सभी मुनिजनों एवं

गृहस्थजनों को भलीभाँति समझ लेनी चाहिए कि अहिंसा का जो सूक्ष्म निरूपण व गंभीर चर्चा जैन शास्त्रों में आती है, वह इसलिए नहीं है कि हमारी या हमारे धर्म की सभ्य-समाज तथा दूसरे धर्मों में प्रतिष्ठा बढ़े, अथवा इस बात को लेकर हम गुब्बारे की तरह फूले न समाएँ। यदि हमारे अग्रेसर आचार्य व गृहस्थजन केवल अपनी प्रतिष्ठा के लिए ही उसका उपयोग समझते हों, तो वे निःसंदेह एक प्रामाणिक, उदार एवं सभी के साथ सहानुभूति से बर्ताव करने वाले पिता के दुर्जन, अप्रामाणिक एवं कंजूस व स्वार्थी दिवालिया कुपुत्र के समान ही गिने जाएँगे। गिने क्या जाएँगे? वर्तमान में तो गिने ही जाते हैं। आजकल के जो सभ्य-समाज हैं, वे कुछ यही समझते हैं कि जैन शास्त्रों में वर्णित अहिंसा और वर्तमान के जैनियों के व्यवहार में दिखाई देने वाली अहिंसा—इन दोनों में दिन-रात का अन्तर है। अतः अहिंसा का नाम लेकर हमको फूलने की बजाय शर्माना चाहिए और अन्तर्निरीक्षण कर के हमारे तीर्थंकरों व हमारे पूर्वजों की हँसी न हो, इस हेतु से भी कम से कम हमारे व्यवहार में अहिंसा आनी ही चाहिए।

अस्पृश्यता वृत्ति—छुआछूत की भावना ही हिंसा वृत्ति का एक दूसरा पर्याय व रूपान्तर है। हमारे घरों के आँगन में कुत्ते, गधे, चूहे व बिल्लियाँ तक तो आ पहुँचते हैं, इसका हमें अफ़सोस भी नहीं होता और न तिरस्कार ही अनुभव करते हैं। परन्तु हमारे समान मानव—पूरा मानव कोई हरिजन हमारे आँगन में आ जाए, तो हम आग-बबूला हो उठते हैं। भला, इस प्रकार के प्रकोप, तिरस्कार अथवा द्वेष का कोई कारण है? क्या हरिजन मात्र ने हमारा कोई अपराध किया है? क्या वे हमारी सेवा करके भी कोई अनुचित बर्ताव करते हैं? क्या वे हरिजन होने मात्र से ही हमारे किसी स्वार्थ में बाधक बनते हैं? ये कुछ प्रश्न हैं, जो किसी भी अहिंसावादी जैन से पूछे जा सकते हैं। जो जैन होकर भी किसी हरिजन के साथ बुरा बर्ताव करते हैं, उनसे कोई भी तटस्थजन पूछ सकता है कि—यह तो बताओ कि तुम लोग अहिंसा को परम धर्म मानने वाले, पेड़ पौधों तक पर भी दया रखने वाले—इन बेचारे निरपराधी और तुम्हारी स्वच्छता के लिए ही अपना सारा जीवन न्यौछावर करने वाले हरिजनों पर इतने खफ़ा क्यों हो? भला, इसका कोई हेतु, कोई कारण, कोई प्रयोजन बताओ तो सही! किसी निरपराध का तिरस्कार या अपमान करना और बिना किसी कारण के ऐसा दुर्व्यवहार करना क्या यह अहिंसा के अनुकूल है? क्या यह सरासर भयानक निर्दयता नहीं है?

जब तुम यह कहते हो कि—"मित्ती मे सव्व भूएसु"—सब भूतों—जीवों के साथ मेरी मैत्री—मित्रता है, प्रेम-वृत्ति है, तो क्या यह हरिजन भूतों में नहीं आते ? क्या इनके कोई आत्मा नहीं है ? तुम हर रोज यह भी दुहराते रहते हो कि—'एगिंदिया, बेइंदिया, तेइंदिया, चउरिंदिया, पंचिंदिया अभिहया—' एक इन्द्रिय वाले जीव, दो इन्द्रिय वाले जीव, तीन इन्द्रिय वाले जीव, चार इन्द्रिय वाले जीव और पाँच इन्द्रिय वाले जीव—इन जीवों में से मैंने किसी को भी आघात पहुँचाया हो, तो मिच्छामि दुक्कडं—मेरा यह दुष्कृत—बुरा आचरण या भूल मिथ्या—निष्फल हो। मैं अपनी भूल मानता हूँ। इस पाठ को तुम प्रातः व सायंकाल मन्दिर या उपाश्रय में जाकर अथवा अपने घर में ही हर रोज पढ़ते-सुनते रहते हो, तो क्या इन हरिजनों में प्राण नहीं हैं ? क्या ये एक इन्द्रिय वाले जीवों से भी गए-बीते हैं ? कुछ तो सोचो, तुम हर रोज क्या दुहराते रहते हो और क्या बर्ताव कर रहे हो। जो मानव थोड़ा सा भी अहिंसा को समझता है, वह इतना जरूर समझ लेता है कि मानव के आपसी व्यवहार में अकारण व निरपराध स्थिति में किसी का तिरस्कार या अपमान कैसे हो सकता है। किसी भी मानव के साथ अहेतुक अपमान या तिरस्कार का बर्ताव करना—क्या यह हिंसा नहीं है ? अपने को ऊँचा मानना या उत्तम समझना और हरिजनों को नीचा मानना या अधम समझना, क्या इसका कोई हेतु है ? इस प्रकार के मानने में क्या न्याय-वृत्ति का लोप नहीं होता है ? यदि हम लोग प्रामाणिक, सत्यवादी, अलोभी और अक्रोधी भी हों और हरिजन अप्रामाणिक, असत्यवादी, लोभी और क्रोधी ही हों, तो भी हम इनका तिरस्कार या अपमान नहीं कर सकते। हम हरिजनों को तो प्रामाणिक, सच्चे, संतोषी और क्षमाशील बनाने की कोशिश करते हैं, पर स्वयं अप्रामाणिक, झूठ बोलनें वाले, असंतोषी और क्षमारहित होने पर भी अपने को ऊँचा समझने की धृष्टता करते हैं। तब किस मुँह से हरिजनों का तिरस्कार व अपमान करने का साहस कर सकते हैं। यह एक विचित्र स्थिति है, जो समझ में नहीं आती !

अहिंसा को परम धर्म मानने वाले मेरे जैन बन्धुओ ! यह समझ लो कि किसी भी प्राणी के प्रति दुर्भाव रखना, नफरत बताना, तिरस्कार व अपमान की वृत्ति धारण करना घोर हिंसा है, निरी क्रूरता है। यह बात साधारण बुद्धि वाले की भी समझ में आसानी से आ जानी चाहिए। जब तक द्वेष न हो, तब तक कोई किसी का अपमान या तिरस्कार कभी नहीं कर सकता।

द्वेष हिंसा का ही दूसरा पर्याय है। हम लोग जब तक हरिजन भाइयों से नफरत करते रहेंगे, तब तक अहिसा धर्म हमसे कोसों दूर रहेगा। भले ही हम जबान से अहिंसा रटते रहें, हमारे जीवन में अहिंसा का संबन्ध बैठ ही नहीं सकता।

इसी बात को जैनागम सूयगडसुयं--सूत्र कृताङ्ग सूत्र में बहुत ही स्पष्ट रूप से बताया गया है---

"अहावरे नवमे किरियट्ठाणे माण वत्तिए त्ति आहिज्जइ। से जहा नामए--केइ पुरिसे जाइमएण वा, कुलमएण वा, बलमएण वा, रूवमएण वा, तवमएण वा, सुयमएण वा, लाभमएण वा इस्सरियमएण वा, पन्नामएण वा, अन्नयरेण वा मयट्ठाणेणं मत्ते समाणे परं हीलेइ, निन्देइ, खिसइ, गरहइ, परिभवइ, अवमन्नेइ, इत्तरिए अयं, अहमंसि पुण विसिट्ठ जाइ-कुल-बलाइं-गुणोववेए। एवं अप्पाणं समुक्कस्से, देहच्चुए कम्म-बिइए अवसे पयाइ। तं जहा--- गब्भाओ गब्भं, जम्माओ जम्मं, माराओ मारं, नरगाओ नरगं, चंडे थद्धे लुद्धे चवले माणी या वि भवइ। एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ। नवमे किरियट्ठाणे माण वत्तिए त्ति आहिए।"

—सूत्र कृतांग सूत्र, द्वितीय श्रुतस्कन्ध, द्वितीय क्रियास्थान अध्ययन, नवम क्रियास्थान, सूत्र १०।

उक्त सूत्र पाठ का तात्पर्य यह है कि मान–अहंकार–अहंभाव सावद्य–पापयुक्त क्रियास्थान का हेतु है, अर्थात् मान करने वाला कोई भी क्यों न हो—वह पापी होता है। जो कोई भी अपनी जाति का अहंकार रखता है, अर्थात् यह मानता है कि मैं अमुक जाति का होने से ऊँचा हूँ और दूसरा कोई अमुक जाति का होने से मुझसे नीचा है, तो इस प्रकार की धारणा रखने वाला ही पापी है। इसी प्रकार कोई अपना कुल सबसे ऊँचा बताता है और दूसरे के कुल को नीचा समझता है—यह कुल का मद है। कोई बल का मद करता है, कोई रूप का मद करता है। कोई तपश्चर्या का अभिमान करता है। कोई ज्ञान का यानि शास्त्राभ्यास का मद करता है। कोई लाभ का मद करता है अर्थात् मुझे खूब मिल रहा है, जो चाहिए सो और जब चाहिए तब मिल रहा है और तुझे कभी कुछ मिलता ही नहीं। इससे मैं बड़ा भाग्यशाली हूँ और तू कमनसीब और दया का पात्र है। तथा मैं बड़ी कमाई कर सकता हूँ और खूब लाभ मिलता है, तू तो कुछ भी कमाई नहीं कर सकता। केवल नुकसान ही नुकसान रहता है—ऐसा अभागा है तू। इस प्रकार से कई एक लाभ

का मद करने वाले होते हैं। कई एक ऐश्वर्य का घमंड रखते हैं—अपने वैभव आदि का अहंकार करते हैं। कोई अपनी बुद्धि का—चतुराई का अहंकार करते हैं। इस तरह से जो कोई भी जातिमद, कुलमद, बलमद, रूपमद, तपमद, श्रुतमद, लाभमद, ऐश्वर्य मद, प्रज्ञा मद, तथा ऐसा ही कोई दूसरी तरह का मद करता है अर्थात् किसी भी प्रकार के अहंकार से मत्त—उन्मत्त होकर दूसरे की अवहेलना करता है, निन्दा करता है, घृणा करता है गर्हा करता है, पराभव करता है, अपमान करता है। यह तो हीन जाति का है, हीन कुल का है अतः नीचा है, और मैं विशिष्ट जाति और विशिष्ट कुल का होने से ऊँचा हूँ—ऐसा समझता है। तथा ये लोग मेरे से बल में, रूप में तप में, शास्त्राभ्यास में, लाभ प्राप्ति में, ऐश्वर्य में, बुद्धि में, सौंदर्य में, स्त्री लाभ की दृष्टि से, पुत्र लाभ की दृष्टि से सब तरह से कम हैं, नीच हैं, अधम हैं, अनादर के पात्र हैं और मैं सभी तरह से या किसी एक बात में उनसे ऊँचा हूँ–बढ़कर हूँ, उत्तम हूँ, सम्मान का पात्र हूँ। इस तरह का अभिमान करने वाला, अहंकार रखने वाला घमंडी मनुष्य जो अपने को ही उत्कृष्ट मानता है, वह इसी लोक में अपमान का पात्र बनता है और इस देह से च्युत होने के बाद उस निकृष्ट अहंकार के संस्कारों के साथ दीन बन कर विवशता का अनुभव करता हुआ जन्मांतर को पाता है। तब उसके दूसरे जन्म-जन्मांतरों का कोई ठिकाना नहीं रहता अर्थात् वह संसार चक्र में पड़ कर चौरासी लाख योनियों मे घूमता ही रहता है। भारी वेदना पाता है। दुःखों को भोगता है। एक नरक से दूसरे नरक में जाता रहता है और वह अहंकारी मनुष्य क्रूर बनता रहता है, स्तंभ की तरह अकड़ा हुआ अविनीत ही रहता है। बिना बिचारे कहीं भी कुछ भी कर बैठता है। इस स्थिति में भी उस अभिमानी मनुष्य को अपने घमंड के कारण निरन्तर पापमल लगता ही रहता है।

इसीलिए यह कहना ठीक है कि जातिमद, कुलमद आदि सभी मद भयंकर दुःख के कारण हैं। पाप के उत्पादक हैं और इस लोक में विषमता रूप हिंसा को फैलाने वाले हैं। तथा जन्मान्तर में नरक में पहुँचाने वाले हैं। यह बात स्वयं जैन शास्त्र—जैन आगम स्पष्ट रूप से बताते हैं। तब हम लोग जो कि शास्त्र को प्रमाण मानते हैं, शास्त्र वचन को ही आदेश समझते हैं और शास्त्रों की पूजा करते हैं, किस मुँह से जाति या कुल के कारण किसी मनुष्य का अपमान करने में अथवा तिरस्कार भाव से उसके न छूने में धर्म बना सकते हैं?

[शेष पृष्ठ ४१ पर]

पर्युषण पर्व की कसौटी पर

अपने को परखिए

—मुनि श्री सुरेशचन्द्र जी शास्त्री, साहित्यरत्न

कुछ पर्व घर तक सीमित होते हैं। घर में विशिष्ट भोजन बनने और नूतन परिधान पहनने पर पूछा जाता है—"आज क्या बात है ?" उत्तर मिलता है—"आज घर में अमुक बात थी, अमुक की जन्म-तिथि अथवा वर्ष-गांठ थी। इसलिए आज ऐसा भोजन बना लिया है।" कुछ पर्व जाति-बिरादरी के घेरे तक महदूद रहते हैं। उनके आगमन पर सारी बिरादरी में एक हलचल, धूम-धाम हो जाती है। कुछ पर्व ऐसे होते हैं, जो घर, परिवार, जाति-बिरादरी, की सीमाओं को लांघकर समूचे समाज के जीवन को स्पर्श करते हैं। सारे समाज में इस छोर से उस छोर तक एक नयी भावना, नये उत्साह और नव चेतना की लहर पैदा कर देते हैं।

पर्युषण पर्व एक ऐसा ही सामाजिक पर्व है, वह जैन समाज का—जन-जीवन का पर्व है। वह किसी की बपौती नहीं है, जन-जन को जिसे मनाने का जन्म-जात अधिकार है। जो भी जीवन-निर्माण करने और आत्म-उत्कर्ष करने की भावना में रस लेता है, जो भी जीवन को बनाना व उठाना चाहता है, जो भी जीवन को मांजना चाहता है, जो भी आत्म-स्वरूप की झाँकी देखना चाहता है, वह आए और इस पर्व को मनाए। सबके लिए उसका द्वार खुला है। यह तो वह महातीर्थ है, जहां न ब्राह्मण की पूछ है, न क्षत्रिय की पूछ है, न वैश्य या शूद्र की पूछ है, न किसी सम्प्रदाय अथवा पंथ की पूछ है, न किसी रंग तथा वर्ग की पूछ है। यहाँ पूछ है आत्मा की. जीवन-जागरण की। यह तो गंगा की वह निर्मल धवल धार है, जहाँ कोई रोक नहीं, कोई प्रतिबन्ध नहीं, कोई अड़चन या बाधा नहीं। कोई भी आए, डुबकी लगाए, अपने अन्तर का मैल धोले, पवित्र हो ले। इतनी विराट् एवं उदार भावना के बिना इस महामहिम पर्व्र की ठीक आराधना नहीं हो सकती।

जैन-जगती का यह मंगलमय पर्व आत्म-युद्ध का बिगुल बजाता हुआ उद्घोषण करता है कि "मानव ! तेरे जीवन पर, तेरी आत्मा पर तेरा अधिकार नहीं है। उस पर अधिकार किसी और का है, दूसरों का है, तेरे शत्रुओं का है, विकार-वासनाओं का है। तेरे ऊपर क़ब्ज़ा करने वाले ये क्रोध,

मान, माया, लोभ तेरे मित्र नहीं प्रत्युत अन्तरंग शत्रु हैं। इन अन्तरंग शत्रुओं ने ही तेरी आत्मा को, तेरी इन्द्रियों को, तेरे मन को, तेरे जीवन के कण-कण को चंचल बना रखा है, बेभान किया हुआ है। इन्हीं विकार-वासनाओं के कूड़े-करकट के नीचे तो दबा हुआ है तेरी आत्मा का सच्चा स्वरूप! इन्हीं विकार-वासनाओं ने तो छीन ली है तेरी आत्म-शान्ति तथा ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की आत्म-निधि! इन विकारों के मैल ने ही मैला, विकृत एवं गंदला किया हुआ है तेरे शुद्ध आत्म-स्वरूप को। तेरा मानस-दर्पण धुंधला बना हुआ है इन विकारों की छाया से। यदि तू आत्म-दर्शन करना चाहता है, आत्मा की झाँकी देखना चाहता है, तो उस मानस-दर्पण पर मैल, मिट्टी और धूल को हटा। मैले दर्पण में आत्मा का प्रतिबिंब झलक नहीं सकता। क्या गंदले पानी में जीवन की तस्वीर कभी नजर आ सकती है?

यात्री! तुम अब तक जीवन के हारे हुए खिलाड़ी रहे हो। ये अन्तरंग शत्रु अब तक तुझे पछाड़ते रहे हैं, तुझ पर हावी होते रहे हैं। यदि तू आत्मा के बन्धनों को खोलना चाहता है, स्वतंत्रता के वातावरण में सांस लेना चाहता है, इन शत्रुओं की गुलामी से मुक्त होना चाहता है और माथे पर पड़ी इस मोह-ममता की धूल को उड़ाना चाहता है, तो इन अन्तरंग शत्रुओं से जमकर मोरचा ले। तुझे यह स्वर्ण अवसर मिला, है इस अवसर को चूक मत। अपनी शक्ति की परीक्षा कर इन विकार-वासनाओं से लड़कर।

यदि तेरे अन्दर क्रोध आता है, तो इस अवसर पर उससे लड़। यदि तेरे अन्दर अहंकार का साँप अपना फन उठाता है, तो उसे कुचल डाल! यदि तुझे काम सताता है, तो उससे दो–दो हाथ कर। अगर तेरे अन्दर छल-कपट और दम्भ की दुर्वृत्तियाँ उछल-कूद मचाती हैं, तो उन्हें वहीं धर दबोच। यदि तुझे लोभ तंग करता है, तो उसे धक्का दे कर बाहर निकाल दे। यदि तुझे राग और द्वेष अपनी अकड़ दिखा रहे हैं, तो उन्हें पकड़ कर पछाड़ डाल। तू जीवन समर का वीर सेनानी है और इस धर्म-युद्ध में तुझे अपनी सच्ची वीरता का परिचय देकर विजय पानी है। सामायिक, पौषध, व्रत, क्षमापणा आदि धार्मिक क्रियाएँ ये सब अस्त्र-शस्त्र हैं तेरे—राग, द्वेष, अव्रत, कषाय से लड़ने के लिए। ये शस्त्र काष्ठ के नहीं होने चाहिए। ये शस्त्र भोंठे नहीं होने चाहिए। ये ज्यों-ज्यों शान पर चढ़ें, त्यों-त्यों इनकी धार तेज होनी चाहिए। इनमें भावना की तीव्र धार होनी चाहिए। इन

शस्त्रों को उठाने वाले और अपनी डींग हाँकने वाले तो बहुतेरे मिल जाते हैं, पर विजय का उपहार उन्हें ही मिलता है, जो वीरता के साथ मोरचे पर डट कर लड़ते हैं, जिनकी साधना के शस्त्रों की धार पैनी होती है।

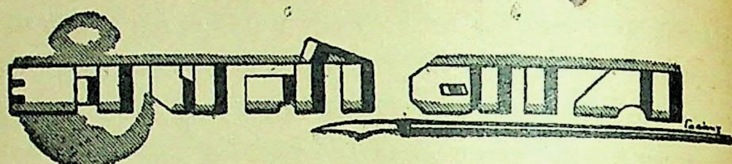
पर्युषण का अन्तिम दिन प्रत्येक सेनानी का परीक्षण-दिवस है। संवत्सरी के दिन देखिए कि क्रोध जिन्दा है या तुम? अहंकार जीवित है या तुम? माया और लोभ जीते हैं या तुम? यदि तुम जिन्दा हो, तो तुम्हारा मनुष्यत्व, श्रावकत्व, साधुत्व जिन्दा है। तुम्हारे जिन्दा रहने का अर्थ है—क्षमा, नम्रता, सरलता, निर्लोभता का जिन्दा रहना। और क्रोध से हटकर क्षमा में रहना, अहंकार से हटकर नम्रता में रहना, माया से हटकर सरलता में रहना, लोभ से हटकर सन्तोष की लहरों में रहना ही परिवसन—पर्युषण है। पर्युषण का अर्थ है—पूर्णतः आत्मा में निवास करना, इधर-उधर के संकल्प-विकल्प, विकार-वासनाओं से हटकर आत्म-स्वरूप में रमण करना, आत्म-गुणों में लीन-तल्लीन होना।

पर्युषण के महामहिम पर्व के क्षणों में अपने-आप को इस कसौटी पर कसकर देखो कि तुम उस पर कहाँ तक खरे उतरते हो? अपने आप को निरखने-परखने में ही पर्युषण पर्व की सार्थकता निहित है।

[पृष्ठ ३८ का शेष]

आजकल पज्जोसवणा का महापर्व है अर्थात् यह पर्व पर्युपशमना का है। शान्ति गुण की—उपशमभाव की वृद्धि के लिए ही इस पर्व की योजना की गई है। ऐसे पवित्र पर्व के शुभावसर पर हम लोग अपने २ अन्तःकरण का निरीक्षण करें और बनावटी घमंड के कारण हमारे मन में जो ऊँच-नीच की तथा स्पृश्य-अस्पृश्य—छुआछूत की भावना घर कर गई है, उसे जड़मूल से उखाड़ फेंकने के लिए प्रबल प्रयत्न करें, तभी पर्युपशमना की सच्ची आराधना हो सकती है। हमारी शास्त्र पूजा, जिन पूजा, गुरु पूजा भी तभी सफल होगी। वरना जैसे सिनेमा या नाटक चलता है और लोग तमाशा देखते हैं, वैसे ही हमारा यह पर्व भी हो जायगा। और हम निरे कोरे ही रहकर अपनी मानवता भी गँवा बैठेंगे। ज्ञानी जन कहते हैं:—

समयं गोयम! मा पमायए—
बार बार नहीं आवे अवसर।



क्षमापना या उपहास !

क्षमा श्रमण-संस्कृति की मूल साधना का प्राण है। श्रमण-संस्कृति के समस्त धार्मिक अनुष्ठान क्षमा को मूलाधार बना कर ही चलते हैं। इस दृष्टि से इस संस्कृति को दूसरे शब्दों में क्षमा-शान्ति की संस्कृति कह दिया जाय, तो कोई अत्युक्ति न होगी।

जैन धर्म का मंगलमय पर्यूषण पर्व भी इसी क्षमा की पवित्र भावना से ओत-प्रोत है। इस पुनीत अवसर पर साधक अपनी पिछली भूलों पर पश्चात्ताप करता है, जीवन की चादर पर लगे कलह-कल्मष के मैल को क्षमा के जल से धोकर साफ़ कर देता है। आस-पास की दुनिया से अपराधों की क्षमापना करके जीवन में एक उजले प्रभात के दर्शन करता है, और नए सिरे से नई ज़िन्दगी प्रारम्भ करता है।

परन्तु, सखेद लिखना पड़ता है कि आज यह पुनीत पर्व भी जैन समाज का एक रीति-रिवाज सा बनता जा रहा है। असली तत्त्व जीवन में से निकलता जा रहा है, केवल पर्व का शरीर हाथ में रह गया है। खमित-खमावणा आज वाणी का एक अलंकार बन गई है अथवा चिट्ठी-पत्रियों की शोभा रह गई है। क्षमा आज भी माँगी जाती है, क्षमापना भी की जाती है; पर उसका वास्तविक मूल्य नहीं चुकाया जाता। क्षमापना के समय शरीर से चेष्टा भी की जाती है, वाणी से उच्चारण भी होता है, हाथ भी जुड़ जाते हैं; किन्तु हाथों के साथ मन नहीं जुड़ता, भावना का मेल नहीं होता। बिना मन के हाथ जुड़ भी गए तो उससे होना-जाना भी क्या है? हाथ तो एक कैदी के भी जुड़ जाते हैं। ऊपर से क्षमापना करके शीतलता प्रदर्शित की जाती है और अन्तर में वही वैर, विरोध, कलह, द्वन्द्व की गरम आंधियाँ चलती रहती हैं। यदि ऐसा न होता, तो क्षमापना करने के बाद भी किसी के साथ चली आती हुई मुकदमेबाजी क्या आगे भी चालू रह सकती है? मन-मुटाव ज्यों का त्यों बना रह सकता है? संघ और शासन में वही

अखाड़ेबाजी का वातावरण मौजूद रह सकता है ? संघ और जात-बिरादरी को छिन्न-भिन्न करने की द्वेषमूलक वृत्ति आगे कैसे चल सकती है ? और यदि यह सब कुछ हो सकता है, यह सभी धांधली चल सकती है, तो इसे क्षमापना कहें या क्षमापना का उपहास !

एक बात और । आज कल के धर्मध्वजी और धर्म के ठेकेदार क्षमा भी माँगते हैं तो किससे ? नारकियों से, देवताओं से, कीड़े-मकोड़े, गधे-घोड़े और कूकर-शूकर से ! कोई उनसे पूछे—नारकियों से कौन सी लड़ाई होती है तुम्हारी ? देवताओं से कौन-सा लेन-देन अथवा वार्ता-व्यवहार है तुम्हारा ? और कीड़े-मकोड़े, गधे-घोड़े से क्षमा माँग लेने में भी कौन बड़ी बात है ? उसमें लगता भी क्या है ? जरा सा स्वार्थ नहीं छोड़ना पड़ता, कुछ त्याग नहीं करना पड़ता, अहंकार के हाथी से नीचे नहीं उतरना पड़ता । केवल वाणी के फूल सजाये जाते हैं । जिनके साथ संघर्ष हुआ है, जिनसे मन-मुटाव चल रहा है, जिनकी तुम से या तुम्हारी जिनसे कुछ क्षति हो गई है, जिनके साथ अन्याय, अनीति का दुर्व्यवहार हो गया है, किसी कारण से जिनके साथ न्यायालय में अभियोग चल रहा है, जात-बिरादरी में जिनसे कलह उत्पन्न हो गया है, विरोधियों और प्रतिद्वन्द्वियों से स्वयं क्षमा माँगने, उन्हें क्षमा देने और सब के क्षमापना करने में ही क्षमा और क्षमापना की महिमा-गरिमा अभिव्यक्त होती है । क्योंकि उनसे हार्दिक क्षमापना करने में अपने-आपको मारना पड़ता है, मान-अभिमान को ठुकराना पड़ता है, लोभ की कड़ी को तोड़ना पड़ता है, अपने स्वार्थों की बलि देनी होती है, अपनी इच्छाओं का दमन करना पड़ता है । इतना मूल्य चुका कर क्षमापना करने से आत्मा क्षमा की प्रसन्न आभा से चमक उठती है, जीवन का कण-कण खिल उठता है, वैर-विरोध की भावना सदा के लिए शान्त हो जाती है ।

और यदि इसके विपरीत किया जाता है, तो वह क्षमापना है या उपहास; इसके लिए प्रत्येक विचारक को आगे-पीछे सोचना पड़ता है । ऐसी क्षमापना जीवन को उठाती नहीं, गिराती है । प्रकाश की ओर नहीं, अन्धकार की ओर ले जाती है ।

—मुनि सुरेशचन्द्र 'शास्त्री'

पर्युषण पर्व और अधिक मास

इस वर्ष चातुर्मास में भाद्रपद अधिक पड़ने के कारण जैन समाज के सामने पर्युषण पर्व के मनाने की समस्या खड़ी हो गई है। कई संप्रदाय ५० दिन की मान्यता को लेकर पहले भाद्रपद (अगस्त) में यह पर्व मना चुके हैं और अधिकतर ७० दिन की मान्यता के कारण दूसरे भाद्रपद (सितंबर) में मनाते जा रहे हैं। 'श्रमण' के इसी अंक में 'पर्युषण–मीमांसा' तथा 'संवत्सरी और आचार्य सोहन लाल जी महाराज'—ये दो लेख ऐसे हैं, जिनके पढ़ने से पाठकों को कुछ विचार सामग्री मिल सकेगी। पर्युषण–मीमांसा में मुनि श्री 'कमल' जी ने आगम पाठों को सामने रखकर महत्व की कई बातों का उल्लेख किया है। वे कहते हैं कि जैनागमों का एक यह भी मत है कि—"वर्षाऋतु का प्रारंभ आषाढ़ से माना गया है।" आगे चल कर इसी लेख में वे फिर लिखते हैं कि—"वर्षाऋतु के प्रारंभ काल में (आषाढ़ में) साधु-साध्वी को ग्रामानुग्राम विहार करना नहीं कल्पता है।"

दूसरे लेख के विद्वान लेखक ने भी कई बातों पर प्रकाश डाला है। और लिखा है कि जैन तिथिपत्र बनाने के लिए पहले भी कई प्रयत्न किये जा चुके हैं। जिनमें स्वर्गीय आचार्य श्री सोहन लाल जी महाराज ने आगमों की मान्यता के आधार पर चातुर्मास आदि की समस्याओं को हल करने का सबसे अधिक प्रयत्न किया था। उनकी ३५ वर्ष के लिए 'जैन ज्योतिष तिथि पत्रिका' भी छपी थी। कई कारणों से जैन समाज ने उस समय उसका स्वागत नहीं किया था। पर आज प्रतीत हो रहा है कि जैन समाज उसको मान लेता तो दो बातें सरलता से हल हुई होतीं।

जैनागमों के अनुसार चातुर्मास में अधिक मास कभी पड़ता ही नहीं। वहां अधिक मास पौष और आषाढ़ ही पड़ सकते हैं। जिससे पर्युषण पर्व आदि के मनाने में मतभेद खड़ा ही नहीं हो सकता। दूसरे लौकिक मासों और जैन मासों में अन्तर चलता है। इस अन्तर का वास्तविक कारण यह मालूम होता है कि जैनागमों की रचना का मूल स्थान वर्तमान बिहार था। जहाँ आज भी वर्षाऋतु पंजाब आदि से लगभग एक मास पूर्व शुरू हो जाती है। वर्तमान चालू परंपरा के अनुसार लौकिक आषाढ़ की पौर्णमासी के दिन चातुर्मास बैठता है। कई बार हम देखते हैं कि तब तक वर्षाऋतु शुरू भी हो चुकती है, साधुओं को फिर भी विहार करना पड़ता है। जिससे चातुर्मास

का असली प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। यह प्रत्यक्ष है कि जीवोत्पत्ति की भरमार तो वास्तव में वर्षा के प्रारंभ में ही होती है। स्वयं साधुओं को इससे कई बार कठिनाई का सामना करना पड़ता है। लौकिक आषाढ़ और जैन श्रावण की मान्यता को अपनाने पर चातुर्मास लौकिक ज्येष्ठ पौर्णमासी वाले दिन प्रारंभ होकर लौकिक आश्विन पौर्णमासी को समाप्त हो सकेगा। इससे दो लाभ होंगे—वर्षारंभ से पहले ही चातुर्मास बैठ जाने से इसका मुख्य प्रयोजन अहिंसा का पालन हो सकेगा। और कई तरह की कठिनाइयां भी हल हो जाएँगी। मुनि श्री 'कमल' जी ने अपने उक्त लेख में पृष्ठ २० के पैराग्राफ ३ में उन कठिनाइयों का अच्छा चित्रण किया है। दूसरे लौकिक कार्तिक–जो कि जैन मार्गशीर्ष होगा, इसमें साधु लोग सुख पूर्वक विहार व धर्म प्रचार कर सकेंगे।

आचार्य श्री सोहनलाल जी महाराज ने अपने वर्षों के अथक प्रयत्न से खोज करके यही परिणाम निकाला था कि जैनागमानुसार चातुर्मास में अधिक मास पड़ना ही नहीं चाहिए और चातुर्मास एक मास पहले से ही शुरू हो जाना चाहिए। जैनागमों की लौकिक आषाढ़ और जैन श्रावण की मान्यता के अनुसार लौकिक ज्येष्ठ जैन आषाढ़ होगा और लौकिक आषाढ़ जैन श्रावण। जिससे चातुर्मास में अधिक मास नहीं पड़ेगा, और वर्षारंभ से पहले ही चातुर्मास प्रारंभ भी हो सकेगा।

क्षमायाचना

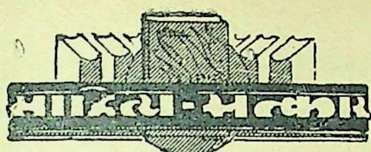
पर्युषण पर्व क्या है, यह किस लिए मनाया जाता है, मानव जाति के लिए इसका उपयोग क्या है, इन बातों पर 'श्रमण' के इसी पर्युषणांक में हमारे विद्वान लेखक व कविगण इतना अधिक प्रकाश डाल चुके हैं कि हमें अब कुछ नहीं कहना है। हमें तो इस शुभावसर पर एक ही बात कहनी है। वह यह कि अपने कृपालु लेखकों, मान्य ग्राहकों व पाठकों से अपनी भूलों व त्रुटियों के लिए हार्दिक क्षमायाचना व पश्चात्ताप करके उनसे नया ताजा संबन्ध बनाना है। हम जानते हैं कि 'श्रमण' पर इसके लेखकों और प्रिय कवियों की बड़ी कृपा है। इस बात का पता हमें इस बार फिर से लगा। पर्युषणांक के लिए बहुत थोड़े दिन पहले ही हमने लेखों के लिए निवेदन किया था। समय कम था, इसलिए पहले तो हमें निराशा सी लगी। पर जब एक

से एक महत्व के लेख व कविताएं ठीक तारीख पर पहुंचने शुरू हुए तो हमारा उत्साह बढ़ा। तब चिन्ता 'श्रमण' के कलेवर की हुई। दो फार्म बढ़ा देने पर भी कई लेख रोक देने ही नहीं, बल्कि कंपोजिंग के बाद स्टेन्डिंग में रखने पड़े हैं। अवश्य ही उन लेखों से हम अपने पाठकों को वंचित नहीं रखेंगे। फिर भी हमारे मान्य लेखकों को कुछ निराशा तो होगी ही। इसके लिए हम अपनी विवशताओं का अनुभव करते हुए भी उनसे हार्दिक क्षमा चाहते हैं। हम जानते हैं कि कई बार हमारी बातों से हमारे लेखकगण असंतुष्ट व निराश हो जाते हैं, फिर भी उनकी कृपा बनी रहे हमारे लिए यह सबसे अधिक संतोष की बात होगी।

'श्रमण' के प्रेमी ग्राहकों व पाठकों से भी हम क्षमाप्रार्थी हैं। कई बार समय पर या किन्हीं कारणों से बिलकुल ही 'श्रमण' के न मिलने से उन्हें कितनी बेचैनी होती है, यह उनके पत्रों से ही पता लगता है। उनके रोष व उलहनों का भी हमें सामना करना पड़ता है। कभी कभी तो हमारे कार्यालय की ओर से भी भयंकर भूलें हो जाती हैं। 'श्रमण' के छः साल के जीवन में अब की एक ऐसी भूल हुई कि जिस पर हमें स्वयं साश्चर्य खेद हुआ। बात यह थी कि कार्यालय से एक वी. पी. भेजी गई थी। वह लौट आई। सूची से ग्राहक का नाम कट गया। इधर मनी आर्डर से रुपये पहले ही जमा हो चुके थे। इसका किसी को ख़याल ही नहीं आया। पता एक साल के बाद हमारे परम स्नेही एक मुनिराज के उपालंभ-पूर्ण पत्र से चला। हमने अपनी भूल मानी। हमारे प्रेमी ग्राहक ने बड़ी उदारता से स्वीकार किया कि गत साल की तजाय अंक अगले साल में पूरे किये जाएँ। यह एक ताजी घटना है। छोटी-मोटी न मालूम कितनी बातें हो जाती होंगी। जिससे ग्राहकों व पाठकों को हमारे कारण कितना कष्ट झेलना पड़ता होगा। वे ही अनुभव करते होंगे।

इन सब बातों के लिए परम पवित्र पर्युषण पर्व के अवसर पर एक बार फिर हम अपने कृपालु लेखकों, ग्राहकों व पाठकों से हार्दिक क्षमायाचना करते हैं। आशा है वे हमारीं त्रुटियों और भूलों को क्षमा करते हुए कृपाभाव बनाए रखेंगे।

—कृष्णचन्द्राचार्य



स्थानांग-समवायांग

संपादक—श्री दलसुख मालवणिया, प्रकाशक—गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद—१४, मूल्य १०) रुपया, पृ० सं० ९८५।

प्रस्तुत ग्रंथ जैन आगम साहित्य के तृतीय और चतुर्थ अंगों का गुजराती भाषांतर है। इसे श्री पूंजाभाई जैन ग्रंथमाला के २३ वें ग्रंथ के रूप में प्रकाशित किया गया है। इसमें ७ खंड हैं, १—मोक्षमार्ग, २—तत्त्वज्ञान, ३—गणितानुयोग (भूगोल), ४—महापुरुष, ५—संघव्यवस्था, ६—पुरुष-परीक्षा, ७—विविध। विभिन्न विषयों का इन खण्डों में विभाजन करके विचार किया गया है। इस प्रकार प्रस्तुत ग्रंथ स्थानांग और समवायांग का मूल क्रम से अक्षरशः अनुवाद न होकर तद्‌गत विषयों का वर्गीकृत रूपांतर है। रूपांतर करने में संपादक को कितना परिश्रम करना पड़ा होगा, यह तो ग्रंथ का कलेवर देखने से ही स्पष्ट प्रतीत होता है। प्रारंभ में ३२ पृष्ठ की संक्षिप्त एवं सारग्राही प्रस्तावना है जिसमें प्रस्तुत ग्रंथ की सामग्री, कर्ता, शैली, विभाजन की प्रणाली, अन्य ग्रंथों के साथ संबन्ध आदि पर प्रमाणपुरःसर प्रकाश डाला गया है। विभिन्न विषयों पर ग्रंथ के भीतर जो पाद-टिप्पणियाँ दी गई हैं उनसे ग्रंथ का गौरव और भी बढ़ गया है। इन टिप्पणियों के अतिरिक्त कुछ महत्त्वपूर्ण विषयों पर विशेष टिप्पण भी दिये गए हैं जो संपादक की तद्‌विषयक विद्वत्ता के मुख्य निर्देशक हैं। उदाहरण के लिए तीर्थंकर विषयक बौद्ध-मान्यता, दिगम्बर मत से माताओं के नाम में मतभेद आदि (पृ० ७३३–७४५), चतुर्विध संघ आदि (पृ० ७८७–८१२) का उल्लेख किया जा सकता है। ग्रंथ के अंत में विस्तृत शब्दसूची जोड़ देने से पाठकों के लिए सामग्री ढूँढ़ने में बहुत सरलता हो गई है। यह सूची लगभग १०० पृष्ठ की है। इस प्रकार के ग्रंथ निर्माण के लिए संपादक जी और ग्रंथ-प्रकाशन के लिए गुजरात विद्यापीठ, बधाई के पात्र हैं। हिन्दी में इस प्रकार के ग्रंथों का बहुत ही अभाव है जो विशेष खटकता है। गुजराती साहित्य इस विषय में हिन्दी से अधिक समृद्ध एवं पूर्ण है।

न्यायविनिश्चय विवरण

(भट्ट अकलंकदेव प्रणीत न्यायविनिश्चय का वादिराजसूरि विरचित विवरण—अनुमान-प्रवचन प्रस्तावात्मक द्वितीय भाग)

सम्पादक—प्रो० महेन्द्रकुमार जैन, न्यायाचार्य, प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, मूल्य—१५) रु० ।

प्रस्तुत ग्रन्थ भारतीय ज्ञानपीठ, काशी द्वारा प्रकाशित ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन-ग्रन्थमाला का बारहवाँ (संस्कृत) ग्रंथ है। ग्रंथ के प्रारम्भ में सम्पादकीय प्रस्तावना है जिसमें ग्रन्थ के विषय का परिचय देते हुए स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, आगम, सर्वज्ञ, तत्त्व, द्रव्य आदि का हिन्दी में विवेचन किया गया है। विवेचन में कहीं कहीं स्वतन्त्र विचारशक्ति का उपयोग भी हुआ है जिसमें सम्पादक जी की बौद्धिक प्रतिभा के दर्शन होते हैं। ग्रंथ के अन्त में कारिकाओं और श्लोकों का अनुक्रम, अवतरण, विशिष्ट शब्द आदि की विस्तृत सूचियाँ दी गई हैं जिनका आधुनिक संपादन-कला की दृष्टि से अति महत्व है। ग्रंथ की छपाई आदि तो सुन्दर है ही।

जीवन की पाँखें

प्रवचनकार—कविरत्न मुनि श्री अमरचन्द्र जी महाराज, सम्पादक—शान्तिस्वरूप गौड़, प्रकाशक—सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामंडी, आगरा, मूल्य—३।।) रु० ।

प्रस्तुत पुस्तक में कवि जी के तेरह प्रवचनों का संग्रह किया गया है। ये प्रवचन जोधपुर में दिये गए थे। कवि जी के प्रवचन सरल एवं सरस होने के साथ ही साथ प्रेरक एवं प्रभावक होते हैं। यही कारण है कि पाठक के मन पर उनकी अनोखी छाप पड़ती है। कवि जी के विचारों में संतुलित सामाजिक क्रांति के भी दर्शन होते हैं। वे इस जर्जरित मानव-समाज में बहुत कुछ परिवर्तन करना चाहते हैं। सन्मति ज्ञानपीठ को इस प्रकाशन के लिए बधाई।

नय-कर्णिका—

कृतिकार—उपाध्याय श्री विनय विजय जी, विवेचनकार—मुनि श्री सुरेशचन्द्र, शास्त्री, साहित्यरत्न, प्रकाशक—उक्त ज्ञानपीठ, मूल्य—६ आना

प्रस्तुत पुस्तिका जैनदर्शन के नयवाद पर एक सुन्दर कृति है। मुनि श्री का विवेचन भी सरल एवं स्पष्ट है। नय का स्वरूप समझने के लिए पुस्तिका अति उपयोगी है।

—मोहनलाल मेहता

शुक्ल जैन रामायण

प्रकाशक—भीमसेन शाह रावलपिंडी वाले, सदर बाजार, दिल्ली,

जैन मुनि श्री पं० शुक्लचंद जी महाराज रचित जैन रामायण का दूसरा संस्करण सन् १९५४ (वीर संवत २४८०) में प्रकाशित हुआ है। प्रस्तुत संस्करण की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें कुछ नवीन प्रकरण जैसे परशुराम संवाद, अहिल्या प्रकरण आदि और आ गए हैं जो पहले संस्करण में नहीं थे।

सम्पूर्ण रामायण दो अलग-अलग भागों में है। पहले भाग में प्रारम्भ से सीता-हरण तक और दूसरे भाग में सीता की अग्नि परीक्षा और वैराग्य तक का वर्णन है। प्रारम्भ में २४ तीर्थङ्कर देव, द्वादश भोगावतार चक्रवर्ती, कर्मावतार नौ वासुदेव—नारायण, कर्मावतार नौ प्रतिवासुदेव—प्रतिनारायण, चौबीस कामदेव, चतुर्दश कुलकर, भविष्य के चौबीस तीर्थङ्कर देव, बालि वंश, इन्द्र वंश, रावण वंश आदि अन्य बहुत सी ऐसी बातों का आवश्यक परिचय भी दे दिया गया है जिनके न होने से पाठकों को रामायण की कथावस्तु समझने में दिक्कत होती।

३० पृष्ठ के लम्बे प्राक्कथन में लेखक ने काल के दो विभाग अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी का विस्तार से वर्णन करते हुए वर्तमान काल के चौबीस धर्मावतारों एवं १२ चक्रवर्तियों का परिचय दिया है। पर परिचय के बाद प्राक्कथन तुरन्त समाप्त हो जाने से पाठक इस भूल-भुलैया में पड़ा रहता है कि आखिर इन सब बातों का रामायण की कथा वस्तु से क्या संबंध है। पूरा का पूरा प्राक्कथन व्यर्थ ही जान पड़ता है। प्राक्कथन का उद्देश्य किसी ग्रंथ विशेष की विषय वस्तु को समझने में सहायक होना है पर मुनि श्री ने अपने प्राक्कथन में ऐसी किसी बात की ओर इंगित तक नहीं किया।

ग्रंथ की न तो भाषा ही प्रवाह-युक्त है और न वर्णन शैली। दोनों भागों में व्याकरण की भूलों के साथ ही काव्य शास्त्र के नियमों का भी उल्लंघन किया गया है। मात्रिक भूलें तो प्रत्येक पृष्ठ में अनेक हैं। दोहा के नाम पर ३२,

३४ और ३६ मात्राओं तक की पंक्तियां दी गई हैं। पूरी पुस्तक में दोहा के अतिरिक्त अन्य किसी छन्द का नाम पढ़ने में नहीं आया। दो-चार जगह 'छन्द' और 'दौड़' नाम भी पढ़ने को मिले पर समझ में नहीं आ सका कि लेखक का इनसे तात्पर्य क्या है।

उपरोक्त बातों को देखते हुए यही कहा जा सकता है कि शिक्षित वर्ग के लिए इसमें आकर्षण की कोई बात न होते हुए भी देहाती क्षेत्र के 'क-ख-ग' से अनभिज्ञ लोगों के लिए इसमें मनोरंजन एवं शिक्षा की बहुत सी बातें हैं पर जो केवल लेखक के मुँह से सुनने पर ही समझ में आ सकती हैं। पुस्तक पढ़ने के लिए नहीं, सुनने के लिए है। सुनाने के लिए भी नहीं क्योंकि प्रत्येक पृष्ठ में इतना अधिक छन्द-भंग है कि कोई अपरिचित व्यक्ति इसे ठीक-ठीक पढ़कर सुना नहीं सकता, जब तक कि वह स्वयं लेखक के मुँह से दो-चार बार ठीक से सुन न ले।

करीब एक हजार पृष्ठ के दोनों भागों का मूल्य मात्र ७) निश्चय ही कम है। कागज भी अच्छा है।

—महेन्द्र राजा एम० ए०

पुराण सार संग्रह (भाग २)

कर्ता—आचार्य दामनन्दी, अनुवादक—श्री गुलाबचन्द्र चौधरी एम० ए०, प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुंड, बनारस, मूल्य २)

यह संस्कृत पुराण चरित का हिन्दी अनुवाद है, इसमें तीर्थंकर नेमि, पार्श्व और महावीर के संक्षिप्त जीवन का वर्णन है। जैन पुराण कवियों ने तीर्थंकरों और दूसरे महापुरुषों के जो विशेष शैली में चरित लिखे हैं, संक्षेप में उनकी शैली और विषय से परिचित होने के लिए यह पुस्तक बहुत ही उपादेय है। इसमें धर्म और काव्य दोनों हैं। अनुवाद भी मूल काव्य की शैली की तरह सरल और चुस्त हुआ है। अतः अनुवाद में मूल का रस भरकर चौधरी जी ने भाषा का आवरण हटा दिया है और हम अनुवाद से ही 'मूल' का आनन्द पा सकते हैं। इसके लिए चौधरी जी साधुवाद के अधिकारी हैं। ज्ञानपीठ को भी चाहिए कि वह उनकी इस कला का अधिक से अधिक प्राचीन संस्कृत पुस्तकों के हिन्दीकरण में उपयोग करे, यह प्रकाशन ज्ञानपीठ की साख के अनुरूप ही है।

—देवेन्द्र कुमार एम० ए०

उपासक आनन्द

प्रकाशक—सन्मति ज्ञानपीठ लोहामंडी, आगरा; प्रवचनकार—कविरत्न श्री अमर मुनि जी, पृ० २८५, मू० ३) रु०

आनन्द भगवान महावीर का मुख्य उपासक था। वैभव-विलास के सब साधन रहते हुए भी वह त्यागमार्ग की ओर कैसे बढ़ा और अन्त में किस उत्कर्ष पर पहुँचा, यह सब पढ़ने-सुनने की चीज है। उपासक आनन्द का जीवन घर में रहते हुए लोगों के लिए भी एक आदर्श था और रसमय भी। आगम में यह सब विस्तार से दिया गया है। इधर कविरत्न श्री अमरचन्द्र जी महाराज के ब्यावर के चातुर्मास में जो प्रवचन हुए और उन्होंने अपनी सुललित प्रवाहमयी वाणी में आनन्द के जीवन पर जो प्रकाश डाला, वही 'उपासक आनन्द' के रूप में हमारे सामने है। सन्मति ज्ञानपीठ का यह प्रकाशन भी अनुपम और बहुमूल्य है। जो लोग यह शिकायत करते रहते हैं कि सरल-सरस जैन साहित्य पढ़ने को नहीं मिलता, वे एक बार उक्त ज्ञानपीठ के प्रकाशनों को मँगवा कर पढ़ें। सन्मति ज्ञानपीठ की तरह भारतीय ज्ञानपीठ काशी और जैन संस्कृति संशोधन मंडल, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी के प्रकाशन भी युग के अनुरूप रहते हैं।

श्री भगवतीसूत्र के थोकड़ों का प्रथम भाग

प्रकाशक—श्री अगरचन्द भैरोदान सेठिया जैन पारमार्थिक संस्था, बीकानेर, मूल्य ।।)

जैनागमों की गहन बातों को थोड़े में ऐसे ढंग से रखना कि वे सरलता से कण्ठस्थ हो जाएँ और समझ में आ जाएँ, लोग उसे 'थोकड़ा' कहते हैं। शास्त्रीय ज्ञान की बातों को सीखने के लिए यह ढंग बड़ा ही उपयोगी है। कुछ समय पहले जैन समाज में थोकड़ों के सीखने-सिखाने का बड़ा प्रचार था। बहुत से जैन बहन-भाई छोटे-बड़े सैकड़ों थोकड़े कण्ठस्थ कर लिया करते थे। आज यह पद्धति हटती सी जा रही है। पर जो लोग थोकड़ों की कीमत समझते हैं, वे आज भी प्रयत्नशील हैं। जैन समाज के वयोवृद्ध सेठ भैरोदान जी सेठिया और उनकी संस्था इस कार्य में बहुत रस लेते रहते हैं। वे पहले भी बहुत बड़ा साहित्य प्रकाश में ला चुके हैं। उनका यह प्रयत्न बड़ा सराहनीय है। यह पुस्तक भी उन्हीं की लगन का फल है। इस प्रथम भाग

में बीसियों तरह के थोकड़े अथवा बोल दिये गए हैं। जिसमें कई जगह बड़ी रसमयी जानने योग्य बातें आ गई हैं। जैसे कि—"अहो भगवन्! क्या ज्ञान इहभविक (इस भवमें) है, या परभविक (पर भव में) है या तदुभय-भविक (दोनों भवों में) है? हं गौतम! ज्ञान इहभविक भी है, पर-भविक भी है और तदुभयभविक भी है।"

इसी तरह से चारित्र आदि के बारे में भी प्रश्न और उत्तर हैं। जैनागमों में प्रवेश करने के लिए इस तरह की पुस्तकें बहुत उपयोगी रहती हैं।

—कृष्णचन्द्राचार्य

भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड, बनारस के चार प्रकाशन

ध्वनि और संगीत : प्रो० ललितकिशोर सिंह, पृ० ३०९, मूल्य—४)

पहला कहानीकार : श्री रावी; पृ० १९८, मूल्य—२॥)

चौलुक्य कुमारपाल : श्री लक्ष्मीशंकर व्यास, पृ० २८७, मूल्य—४)

कालिदास का भारत भाग १ : श्री भगवतशरण उपाध्याय, पृ० ३४४, मूल्य—४)

सभी पुस्तकों की छपाई-सफाई उत्कृष्ट एवं सुन्दर पक्की जिल्द।

संगीत संबंधी स्टेन्डर्ड एवं प्रामाणिक ग्रंथों का हिन्दी में अभाव है। इस दृष्टि से काशी विश्वविद्यालय के प्रोफेसर ललितकिशोर सिंह जी का 'ध्वनि और संगीत' इस अभाव की पूर्ति का एक लघु-प्रयत्न कहा जा सकता है। भारतीय संगीत पर अनुसंधानात्मक सामग्री होने के कारण इस ग्रंथ का महत्व और भी बढ़ जाता है, क्योंकि हिन्दी में अभी तक इस क्षेत्र में बहुत ही कम—नाममात्र का ही काम हुआ है। एक समय था जब भारतीय संगीत अपनी उन्नत-अवस्था में था पर आज बिरले ही उसके जानकार रह गए हैं। अतः जनसाधारण को संगीत और विशेषकर भारतीय संगीत से परिचित कराने के लिए प्रस्तुत ग्रंथ हिंदी में अपने विषय का पहला सुप्रयत्न कहा जा सकता है। यद्यपि इसके पहले भी हिन्दी में संगीत संबंधी कुछ पुस्तकें निकली हैं पर कुछ तो प्राचीन भारतीय अथवा अंग्रेजी ग्रंथों के अनुवाद मात्र हैं और कुछमें वषय को नाम मात्र के लिए ही दृष्टि में रखकर चलता कर दिया गया है।

'ध्वनि और संगीत' में लेखक ने पहले ध्वनि-विज्ञान के विषय में आवश्यक जानकारी देकर बाद में भारतीय संगीत की पाश्चात्य संगीत से तुलना करते

हुए उसकी श्रेष्ठता, मौलिकता एवं वैज्ञानिकता सिद्ध की है। ध्वनि विज्ञान के संबंध में जो कुछ भी लिखा गया है उससे पता चलता है कि लेखक ने कपोलकल्पित ही नहीं लिखा, बल्कि तत्संबंधी अनेक ग्रंथों का अध्ययन करने के पश्चात ही वह किसी निष्कर्ष पर पहुँचा है। इस दृष्टि से लेखक का यह प्रयत्न तथ्यपूर्ण एवं प्रामाणिक है।

संगीत संबंधी पुस्तकों की खपत हिन्दी में बहुत ही कम है और इसका प्रधान कारण सस्ते फिल्म-संगीत की ओर लोक रुचि का झुकाव ही है। यह जानते हुए भी भारतीय ज्ञानपीठ ने यह ग्रंथ प्रकाशित किया, इसके लिए उसका यह प्रयास स्तुत्य ही कहा जाना चाहिए।

श्री रावी का '**पहला कहानीकार**' छोटी-छोटी कहानियों का एक सुन्दर संग्रह है। लघुकथा लेखक के रूप में रावी जी बहुत पहले से ही हिन्दी साहित्याकाश में छाये हुए हैं। उनकी अपनी एक विशिष्ट शैली तो है ही, भाषा को भी वे अपने साँचे में ढालकर लिखते हैं और यही कारण है कि उनकी कथाएँ पाठकों को सहज ही बोधगम्य हो जाती हैं। उनकी कथाओं में जो चिन्तन और दर्शन छिपा रहता है वह गम्भीर होते हुए भी पाठक उसे जल्दी समझ जाता है, श्री रावी की सफलता की यही कुंजी है।

'पहला कहानीकार' में रावी जी की कुछ 'बड़ी' कहानियाँ संगृहीत की गई हैं। बड़ी इस माने में कि अभी तक पत्र-पत्रिकाओं में उनकी एक-दो पेज तक की ही कथाएँ देखने में आई हैं, पर इस संग्रह की कथाएँ पांच से दस पृष्ठ तक की हैं। 'वैवाहिक विधान' शीर्षक कहानी तो १८ पृष्ठ की है।

इन कहानियों में जीवन और संस्कृति का जो चित्रण हुआ है वह रावी जी के महत्व को बढ़ाता ही है। वे जो कुछ भी कहना चाहते हैं थोड़े से शब्दों में इतनी कुशलता से कहते हैं कि विस्तार की अपेक्षा नहीं रह जाती। संग्रह की पहली कहानी के नाम पर ही पुस्तक का नामकरण हुआ है। सभी कहानियों में मानव जीवन की एक न एक समस्या उपस्थित की गई है। वर्णन का ढंग बड़ा ही सुन्दर है एवं भाषा में प्रवाह रहने से पाठक की रुचि बराबर बनी रहती है।

'**चौलुक्य कुमारपाल**' एक ऐतिहासिक अनुसंधानात्मक ग्रंथ है। इसका नाम भले ही किसी एक सम्राट् विशेष को लेकर रखा गया है, पर इसमें गुजरात के प्राचीन 'स्वर्णयुग'—सोलंकी राजाओं के समय की सामाजिक, सांस्कृतिक

एवं राजनीतिक स्थिति का जितनी विशदता से वर्णन किया गया है; हिन्दी में किसी एक ही अन्य ग्रंथ में वह मिलना मुश्किल है। अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथों के आधार पर लेखक ने जो तथ्य उपस्थित किये हैं, वे इतिहासकारों के लिए कुछ विचारणीय सामग्री उपस्थित करते हैं। तत्कालीन इतिहास संबंधी कुछ प्रश्नों को व्यास जी ने अपने इस ग्रंथ में सुलझाने की चेष्टा भी की है, जिनकी ओर भी इतिहासकारों का ध्यान आकर्षित होना आवश्यक है। लेखक ने उपलब्ध सामग्री के आधार पर अपने ग्रंथ को प्रामाणिक बनाने की चेष्टा की है। चौलुक्यों की उत्पत्ति, विकास तथा उन के धार्मिक संबंधों पर लेखक ने जो विचार उपस्थित किये हैं, वे विचारणीय हैं।

कालिदास की प्रमुखतम सात कृतियों के आधार पर उपाध्याय जी ने परिश्रम कर **'कालिदास का भारत'** नामक ग्रंथरत्न हिन्दी जगत को दिया है। कालिदास कालीन भारत के संबंध में इस ग्रंथ में सभी प्रकार की इतनी अधिक एवं प्रामाणिक जानकारी दी गई है कि हिन्दी में अन्य किसी एक ग्रंथ में वह सुलभ नहीं है। ऐतिहासिक विषय वस्तु से संबन्धित होने पर भी ग्रन्थ में लेखक की अपनी मौलिकता स्पष्ट है। पूरी पुस्तक (१) भौगोलिक सामग्री (२) राजनीति और शासन तथा (३) सामाजिक जीवन नामक इन तीन खंडों में विभाजित की गई है। लेखक की सजगता के फलस्वरूप किसी भी खंड में विषय की सीमा के अनुरूप कोई भी आवश्यक अंश नहीं छूट पाया है। छोटी से छोटी बात तक के विषय में लेखक ने अधिक से अधिक जानकारी देने की चेष्टा की है। ग्रंथ के प्रणयन में लेखक ने जो परिश्रम किया है, वह स्तुत्य है। साहित्य प्रेमियों के साथ ही इतिहास प्रेमियों के लिए भी यह ग्रंथ समान रूप से महत्वपूर्ण है। —**महेन्द्र राजा एम० ए०**

पं० श्री सुखलाल जी का सम्मान-समारम्भ

भारतीय दर्शनों के, खासकर जैनदर्शन के अद्वितीय विद्वान् प्रज्ञाचक्षु पंडित श्री सुखलाल जी की विविध क्षेत्रों में जो सेवाएँ हैं उनसे हमारा समाज गौरवान्वित हुआ है। एक युग था जब धार्मिक मन्तव्यों के खण्डन-मण्डन में पंडित समाज व्यस्त था। उस समय श्री पंडित सुखलाल जी ने अपनी समदृष्टि से सर्वधर्मसमन्वय का मार्ग दिखाया है। जैन दर्शन के अध्ययन-अध्यापन की परंपरा जो लुप्त-प्राय हो गई थी उसे पुनर्जीवन प्रदान करके पंडित जी ने जैन दर्शन ही नहीं किन्तु समग्र भारतीय दर्शन की अद्वितीय सेवा की है। दार्शनिक ग्रन्थों के सम्पादन के क्षेत्र में सन्मतितर्क का तुलनात्मक टिप्पणों के साथ संपादन करके एक नया युग ही पंडित जी ने स्थापित किया है। धार्मिक क्रियाकाण्ड की रूढ़ मान्यताओं पर विवेकपूर्ण और तर्कसंगत प्रहार करके नई पीढ़ी की लुप्त होती हुई धार्मिक श्रद्धा को दृढ़मूल किया है। बचपन से ही बाह्य चक्षु के चले जाने पर भी अपने कठोर परिश्रम और धैर्य से विद्या के क्षेत्र में जो सिद्धि पंडित जी ने प्राप्त की है वह हीनांगों को सदैव अग्रसर होने की प्रेरणा देती रहेगी। उनका विशुद्ध चरित्र और अप्रमादी निःस्पृह जीवन साधु पुरुषों के लिए भी अनुकरणीय है। उनकी अपरिग्रह-वृत्ति और स्वाभिमानी नम्रता उनकी निर्भयता को ही पुष्ट नहीं करती बल्कि उनके संसर्ग में आनेवालों को भी निर्भय बनने का पाठ देती है। वृद्धावस्था में युवकों को भी लज्जित करने वाली उनकी नियमितता और नित्य नूतन जिज्ञासा छात्रों को अपूर्व प्रोत्साहन और वृद्धों को नया बल प्रदान करने में समर्थ हुई है। राष्ट्र-प्रेम और राष्ट्रभाषा-प्रेम के कारण गुजराती होकर भी अपना साहित्यिक कार्य अधिकांश राष्ट्रभाषा हिन्दी में ही लिखकर प्रान्तीयता से ऊपर उठने का संदेश साहित्यिकों को वे चालीस वर्ष से देते आ रहे हैं। ऐसे प्रज्ञाचक्षु श्री पं० सुखलाल जी आगामी दिसम्बर में पचहत्तर वर्ष की निरंतर अप्रमत्त सेवापूर्ण दीर्घ आयु पूर्ण करेंगे। उसकी खुशी में उनके मित्रों और प्रशंसकों ने उनका सम्मान करने की जो योजना बनाई है उसमें हमारी समिति भी अपना पूर्ण सहयोग देने के लिए सहर्ष प्रस्तुत है। समिति द्वारा संचालित पार्श्वनाथ विद्याश्रम आदि प्रवृत्तियों के पथप्रदर्शक और मुख्य सलाहकार श्री

पंडित जी ही रहे हैं और उन्हीं के निर्देश के अनुसार समिति अपना कार्य सफल कर सकी है। इसी प्रकार समाज की अन्य कई संस्थाओं को उनका अमूल्य निर्देश मिलता रहा है। अतएव अन्य जैन जैनेतर संस्थाओं से भी अनुरोध है कि वे भी इसमें पूर्ण सहयोग देकर पण्डित जी के सम्मान को बढ़ाकर उनके प्रिय कार्य को उत्तेजना देने में सहायक हों।

योजना यह है कि आगामी दिसम्बर के बाद ही बंबई में एक सम्मान-समारंभ किया जाए और उस अवसर पर श्री पंडित जी का अभिनन्दन करने के बाद उनको एक थैली समर्पित की जाए। यह तो निश्चय ही है कि उस थैली का उपयोग श्री पंडित जी अपने व्यक्तिगत खर्च के लिए तो करेंगे ही नहीं। अतएव उसका उपयोग उनके प्रिय कार्य जैन दर्शन को केन्द्र में रखकर भारतीय दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन जैसे कार्यों में उनकी इच्छा के अनुसार होगा।

सम्मान-समारंभ में अर्पित होने वाली थैली के संग्रह के लिए बंबई और अहमदाबाद में स्थानीय समितियाँ बन गई हैं। उसी प्रकार अन्यत्र भी इसी पुण्य कार्य के लिए उत्साही सज्जनों द्वारा समितियाँ स्थापित की जा सकती हैं और हमारा अनुरोध है कि जहाँ भी श्री पंडित जी के प्रशंसकों का वर्ग हो—और हम समझते हैं कि ऐसा वर्ग समग्र भारत के कोने कोने में है—समितियाँ स्थापित की जायँ। और उसकी सूचना केन्द्रीय कार्यालय में—मंत्री, श्री पं० सुखलाल जी सम्मान-समारंभ समिति, गुजरात विद्यासभा, अहमदाबाद (गुजरात) इस पते से देने की कृपा करें।

श्री सोहनलाल जैनधर्म प्रचारक समिति अमृतसर ने उपर्युक्त थैली में ५००) रुपया समर्पित करने का निर्णय किया है और वह अन्य संस्थाओं से और श्री पंडित जी के प्रेमी सज्जनों से पुनः अनुरोध करती है कि वे भी यथाशक्ति अपना चन्दा उक्त थैली के लिए देने दिलाने की कृपा करें।

निवेदक—

१. **त्रिभुवननाथ जैन, फतेह बाजार, कपूरथला** (प्रधान)
२. **हरजसराय जैन, गुरुबाजार, अमृतसर** (मंत्री)
३. **कृष्णचन्द्राचार्य, जैनाश्रम, हिन्दू यूनिवर्सिटी, बनारस—५** (संपादक, श्रमण)

नोट—कृपया भेंट उक्त किसी भी पते पर भेज सकते हैं।

विद्याश्रम-समाचार

समिति की बैठकें

इसी २१ अगस्त को अमृतसर में श्री सोहनलाल जैनधर्म प्रचारक समिति की प्रबन्धकारिणी और वार्षिक साधारण सभा की दो बैठकें ला० त्रिभुवननाथ जी की अध्यक्षता में हुईं। जिनमें श्री हरजसराय जी (मंत्री) खजांची श्री मुनिलाल जी, श्री शोरीलाल जी, श्री हंसराज जी, श्री पन्नालालजी, श्री भूपेन्द्रनाथ जी के आदि सदस्यों के अतिरिक्त श्री सुरेन्द्रनाथ जी, ला० मोतीलाल जी आदि भी उपस्थित थे। सबसे पहले श्री शोरीलालजी के भाई श्री अजितप्रकाश के देहावसान पर शोक प्रकाशित करने के बाद निम्न बातें नोट की गईं—

बैंक में समिति का जो हिसाब और सरकारी नोट्स व्यक्तिगत नामों पर थे, वे सब समिति के नाम कर दिए गए हैं। सभी सरकारी नोट्स आदि दूसरे दस्तावेजों की तरह बैंक की सेफ कस्टडी में रख दिये गए हैं। ३ एकड़, ७८ डिसिमल जमीन जो सरकार द्वारा समिति के लिए ले ली गई है, उसकी सूचना तहसीलदार द्वारा सबको दी गई है। जैन साहित्य निर्माण योजना उपसमिति की सूचनानुसार 'जैन साहित्य का इतिहास' के कार्य की प्रगति और नियत समय तक उसके तैयार हो जाने की आशा की गई है।

१. उक्त प्राथमिक कार्यवाही के बाद मन्त्री जी ने सन् १६५४ के कार्य की रिपोर्ट और आडिट किया हुआ हिसाब तथा सन् १६५५ का बजट आदि उपस्थित किये और पास किये गए।

२. श्री गुलाबचन्द्र जी चौधरी को पी-एच. डी. की डिग्री के मिलने पर और श्री मोहनलाल जी मेहता की थीसिस पी-एच. डी. के लिए स्वीकृत होने पर दोनों को बधाई दी गई। और इन दोनों के निबन्धों को पुस्तक के रूप में प्रकाशित करने की अनुमति भी दी गई।

३. पं० श्री सुखलाल जी के सम्मान-समारंभ के लिए समिति की ओर से ५००) रु० भेंट करने और श्रमण में एक अपील निकालने का निश्चय किया गया।

४. श्रमण तथा अन्य जैन पत्रों में जैन समाज के नाम एक अपील निकालने का निश्चय हुआ कि साधु वर्ग और गृहस्थजनों का इस ओर ध्यान खींचा जाए कि वे तैयारशुदा विद्वानों और उनके द्वारा लिखित साहित्य की भी चिन्ता करें एवं समिति की जो पांच लाख रुपये की अपील है, उसकी पूर्ति के लिए प्रयत्नशील बनें।

५. आंखों की तकलीफ के कारण पण्डित बेचरदास जी 'जैन साहित्य का इतिहास' के अन्तर्गत आगम-विभाग का इतिहास नहीं लिख सकेंगे। यह जानकर सबको खेद हुआ। इसी संबन्ध में मंत्री जी द्वारा पं० सुखलालजी से जो अनुरोध किया गया था, उसका सारा खर्च उठाने की स्वीकृति दी गई।

६. डॉ० हीरालाल जी से समिति के सम्मान्य सदस्य बनने का अनुरोध किया जाए।

७. ला० हंसराज जी अपनी ओर से पूज्य काशीराम स्मारक फन्ड के कुछ विद्यार्थियों को जो प्रतिवर्ष उदारतापूर्वक छात्रवृत्तियां देते रहते हैं, इसके लिए उनको धन्यवाद दिया गया।

प्रबन्धकारिणी की बैठक के बाद ही समिति की वार्षिक साधारण सभा का अधिवेशन हुआ। जिसमें गत बैठकों की सब कार्यवाही स्वीकृति की गई और सन् १६५४ की रिपोर्ट व आडिट किया हुआ हिसाब तथा सन् १६५५ के लिए बजट आदि स्वीकृत किये गए और आडिटर की नियुक्ति की गई।

इसके बाद प्रबन्धकारिणी के निम्न सदस्य चुने गए—

आजीवन सदस्यों में से—

१. सर्वश्री त्रिभुवन नाथ जैन कपूरथला, २. बंसीलाल जी होशियारपुर, ३. लच्छमीचन्द जी अम्बाला, ४. रतनलाल जी पारख दिल्ली, ५. रामजीदास जी जिन्दल नई दिल्ली, ६. टेकचन्द जी दिल्ली, ७. हीरालाल जैन एडवोकेट लुधियाना, ८. श्री हंसराज जैन गुरुबाजार, ६. मुनिलाल जैनी १०. प्रो०मस्तराम जैन, ११. शादीलाल जैन बी. काम., १२. पन्नालाल जैन, १३. हंसराज जैन बी. ए., १४. हरजस राय जैन—अमृतसर।

साधारण सदस्यों में से—

१५. सर्वश्री राजकुमार जैन जालन्धर, १६. चौधरी प्यारेलाल पटियाला, १७. हंसराज जैन बी. ए. मालेरकोटला, १८. रतनचन्द जैन एम.ए. लुधियाना, १६.शोरीलाल जैन कपूरथला, २०. ला० मेहर चन्द जी रोपड़, २१. रूड़ामल बनारसी दास बलाचौर, २२, धीरज लाल चूनी लाल बोरा राजकोट।

गत वर्ष की प्रबन्धकारिणी और सब कार्यकर्ताओं का धन्यवाद और सभापति जी का आभार प्रदर्शित करके बैठक समाप्त हुई।

अन्त में यह भी निश्चय हुआ कि इसी चातुर्मास में समिति का एक डेपुटेशन पंजाब का दौरा लगाए। जिसमें निम्न स्थानों को भी शामिल किया जाए—फरीदकोट, गीदड़बाहा मण्डी, बठिन्डा, मोगा, संगरूर आदि।

निवेदक :

मंत्री, श्री सोहनलाल जैनधर्म प्रचारक समिति, अमृतसर

बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी प्रेस, बनारस—५



श्रमण

सम्पादक
पं कृष्णचन्द्राचार्य

अंक

पार्श्वनाथ विद्याश्रम हिन्दू यूनिवर्सिटी बनारस

इस अंक में

इस सूचना को अवश्य पढ़िए

नीचे लिखी ग्राहक संख्या वाले कृपालु ग्राहकों का चन्दा श्रमण के छठे वर्ष के इसी अक्टूबर अंक के साथ पूरा हो रहा है। कृपया आगामी वर्ष के लिए ४) रु० चन्दा मनीआर्डर से भेज देवें। वरना ता० १-२ नवम्बर को वी. पी. भेजने पर अवश्य छुड़ाने का ध्यान रखें। यदि किसी कारण से ग्राहक रहना इष्ट न हो तो ता० २५ अक्टूबर से पहले सूचना देने की कृपा करें ताकि श्रमण को वी. पी. भेजने का व्यर्थ नुकसान न उठाना पड़े।

१ ५३ ९२ १४६ १९२ ३६३ ४५१ ४५९ ४६७ ५०३ ५११ ५२२
२ ५८ ९३ १४७ २३१ ३६७ ४५२ ४६० ४६८ ५०४ ५१२ ५२३
८ ६० ११३ १४९ २६२ ३७२ ४५३ ४६१ ४६९ ५०५ ५१३ ५२५
१८ ६१ ११७ १६५ २६९ ३९८ ४५४ ४६२ ४७० ५०६ ५१४
२१ ६४ १२६ १७७ २७२ ४४७ ४५५ ४६३ ४७२ ५०७ ५१५
२४ ६९ १२८ १८५ ३११ ४४८ ४५६ ४६४ ४७३ ५०८ ११६
३१ ८१ १२९ १८९ ३३२ ४४९ ४५७ ४६५ ४७४ ५०९ ५१७
५२ ८५ १३५ १९१ ३२७ ४५० ४५८ ४६६ ४७९ ५१० ५१८

निवेदक
व्यवस्थापक—'श्रमण'
जैनाश्रम, हिन्दू यूनिवर्सिटी, बनारस-५

वार्षिक मूल्य ४) एक प्रति ।=)
सम्पादक एवं प्रकाशक—पं० कृष्णचन्द्राचार्य

श्रमण

श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, हिन्दू यूनिवर्सिटी, बनारस का मुखपत्र

वर्ष ६ अक्टूबर १९५५ अंक १२

उसे सौ-सौ बार है मेरी सलामी !

एक स्वर बोला कि जग में सांस डोली
हृदय में जो लगी थी वह गांठ खोली
आज हमसे दूर गांधी जा चुका है
जा चुकी वह देह जो थी कभी बोली

जिन्दगी का राज वह बतला गया है
'जियो, जीने दो' हमें सिखला गया है
हमें भोले मानवों को सत्य, शिव औ'
सुन्दरम् का पाठ वह सिखला गया है

एक गांधी था कि जिसने जगत जाना
सभी को ही सगा अपना बंधु माना
जूझता जो रहा मरते दम तलक था—
देश के हित, नहीं सीखा पग हटाना

वह गया पर दिलों में सबके समाया
आज हमने है उसे दिल से भुलाया
था जो कि मानव नहीं अब रहा मानव
आज वह इस जगत का ईश्वर कहाया

दूर कर दी देश की जिसने गुलामी
उस सरीखा जगत में कोई न नामी
आज के दिन था लिया अवतार उसने
उसे सौ सौ बार है मेरी सलामी !

—महेन्द्र 'राजा'

कल्पसूत्र का हिन्दी पद्यानुवाद

—श्री अगरचंद नाहटा

कल्पसूत्र, दशाश्रुत स्कंध के आठवें अध्ययन के रूप में प्रसिद्ध है। पर्युषण के दिनों में जब से वह संघ समक्ष बोला जाने लगा, तब से उसकी प्रसिद्धि स्वतन्त्र ग्रंथ के रूप में दिनों-दिन बढ़ती गई। इस सूत्र पर जितनी संस्कृत व लोक भाषाओं की टीकाएँ हैं, अन्य किसी भी जैनग्रंथ पर नहीं हैं। मैंने इन टीकाओं की खोज कर कई वर्ष पूर्व 'जैन' के पर्युषणांक में प्रकाश डाला था। उन टीकाओं की संख्या ६० से भी अधिक होगी। यद्यपि उनमें मौलिकता बहुत कम है, अधिकांश एक दूसरे के अनुकरण में रची गई हैं, फिर भी इतनी अधिक संख्या में पाया जाना इस ग्रंथ की लोकप्रियता का बहुत बड़ा प्रमाण है।

कल्पसूत्र का श्वेताम्बर जैन समाज में बहुत आदर है। पर्युषण में प्रतिवर्ष पहले पांच-छः दिनों तक टीका के साथ और संवत्सरी के दिन मूल रूप से भी यह सूत्र समस्त संघ को सुनाया जाता है। बांचने से पूर्व श्रावक लोग कल्पसूत्र की प्रति अपने घर पर ले जाते हैं, रात्रि जागरण करते हैं, और दूसरे दिन बड़े समारोह के साथ नगर में उसका जुलूस निकाल कर गुरु महाराज को उसे दिया जाता है। बीकानेर में तो राजकीय साज-बाज के साथ हाथी के हौदे पर 'पोथा जी' को रखकर बड़ी भक्ति के साथ गवाड़ों में घूमता हुआ जुलूस बड़े उपाश्रय में पहुंचता था। साथ में राज्य की ओर से रथादि भी रहा करते थे।

कल्पसूत्र के निमित्त से लेखन कला और चित्र कला को भी बहुत अधिक प्रोत्साहन मिला। तेरहवीं, चौदहवीं शताब्दी से इसकी ताड़पत्रीय सचित्र प्रतियां और पन्द्रहवीं से कागज पर सुंदर अक्षरों में लिखी हुई सचित्र स्वर्णाक्षरी एवं रौप्याक्षरी प्रतियां मिलने लगती हैं। इतनी अधिक अन्य किसी भी ग्रंथ की सचित्र एवं स्वर्णाक्षरी और रौप्याक्षरी प्रतियां नहीं लिखी गई। सचित्र प्रतियां तो सैकड़ों हैं पर स्वर्णाक्षरी प्रतियां भी पच्चीस से अधिक ही होंगी।

रौप्याक्षरी प्रतियां तो पांच-चार ही मिलती हैं। कुछ प्रतियों में एक पंक्ति स्वर्णाक्षरी और एक पंक्ति रौप्याक्षरी ऐसा गंगा-जमुनी रूप भी मिलता है। चित्रित प्रतियों में कई तो बहुत ही सुंदर हैं। कुछ में बोर्डर भी चित्रित हैं। इनमें से अहमदाबाद के विमल-भण्डार का प्रति का मूल्य तो लक्षाधिक आंका जाता है। मूल सूत्र को संघ के समक्ष पढ़े जाने के कारण इसकी प्रतियों के अक्षर बहुत बड़े २ और सुंदर लिखे गये हैं। संक्षेप में, इस सूत्र का माहात्म्य सर्वाधिक है।

गद्यमयी—संस्कृत और लोक भाषाओं की टीकाओं के अतिरिक्त गुजराती और हिन्दी में इसके पद्यानुवाद भी हुए हैं। गुजराती पद्यानुवाद, संक्षिप्त में आठ सज्झायों के रूप में ज्ञानविमल सूरि ने किया और उस पर विस्तृत बालावबोध उदयसागर सूरि ने बनाया, जो जैन विद्याशाला अहमदाबाद से 'पर्युषण माहात्म्य' के नाम से प्रकाशित हो चुका है। उसकी द्वितीयावृत्ति सं० १९५४ में छपी हुई मेरे संग्रह में है। यह पूरा पद्यानुवाद तो नहीं पर कल्पसूत्र का साररूपेण किया गया स्वतन्त्र ढालें रूप सार है। इसमें साधु समाचारी का प्रसंग सर्वथा छोड़ दिया गया है। तपागच्छ में आज भी उसे कम ही सुनाया जाता है। और स्थविरावली को न देकर अपनी गुरु परम्परा की लम्बी प्रशस्ति पट्टावली के रूप में दे दी है। पर इससे हिन्दी पद्यानुवाद अधिक सुंदर हुआ है, उसी का परिचय प्रस्तुत लेख में कराया जा रहा है।

कल्पसूत्र में तीन अधिकार हैं— (१) जिन चरित्र (२) स्थविरावली और (३) साधु समाचारी। विद्वानों के मत से साधु समाचारी व जिन चरित्र इसका प्राचीन अंश होना चाहिए। स्थविरावली तो स्पष्टतया पीछे से संमिलित की गई है क्योंकि ग्रंथकर्ता आद्य आचार्य भद्रबाहु माने जाते हैं और स्थविरावली में तो देवर्द्धिगणि तक के स्थविरों का विस्तृत विवरण है। जो भी हो इस एक ही ग्रंथ के द्वारा चार तीर्थंकरों का जीवन परिचय, अन्य तीर्थंकरों का केवल अन्तरफल और स्थविरावली के रूप में भगवान् महावीर से लेकर ९८० वर्ष तक के आचार्यों की परम्परा और साथ ही मुनियों के आचार का ज्ञान एक साथ हो जाता है। परवर्ती टीकाकारों ने तो इस ग्रंथ को एक बृहद् ज्ञान-कोष बनाने का प्रयत्न किया है, क्योंकि जो लोग वर्ष भर में कभी भी उपाश्रय का मुँह तक नहीं देखते वे भी पर्युषण के दिनों में संस्कार और प्रेरणावश व्याख्यान सुनने के लिए गुरु के पास आते हैं। तो टीकाकारों ने,

उनको इन आठ दिनों में ही जैनधर्म और जीवनोपयोगी अनेक बातों की अच्छी जानकारी हो जाय इसलिए अपनी सारी जानकारी को, जितनी भी इस ग्रंथ के साथ संबंधित की जा सकती थी, टीकाओं में समावेश कर दिया; बीच बीच में रोचक कथा प्रसंग भी इतने जोड़ दिये गये कि लम्बे समय तक सुनते रहने पर भी आकर्षण बना रहे। जरा भी कोई प्रसंग उनके हाथ आया कि उसको विस्तृत करने में कमी नहीं रखी। ज्योतिष का कोई प्रसंग आया तो ग्रहों के संबंध की चर्चा छेड़ दी; स्वप्नों का तो मूल सूत्र में विस्तृत वर्णन है ही, टीकाकारों ने भी स्वप्न-विज्ञान की और अपनी जानकारी भर दी। त्रिशला माता के गर्भ संरक्षण के प्रसंग से गर्भ के पालन संबंधी स्त्रियों के उपयोगी आयुर्वेदिक ज्ञान का भण्डार खोल दिया। नेमिनाथ के जन्म आदि के प्रसंग से महाभारत की कथा का विस्तार कर दिया गया। इस तरह इस ग्रंथ को बहुत अधिक उपयोगी और ज्ञानवर्द्धक बनाने में उन्होंने कोई कसर नहीं रक्खी। यद्यपि जैनों के लिए ही इस सूत्र की अधिक उपयोगिता है पर टीकाकारों ने लोक कथाओं और पौराणिक आख्यानों को भी प्रचुर परिमाण में संग्रहीत कर जैनेतरों के लिए भी रोचक व आकर्षक सामग्री उपस्थित कर दी है। इनमें बहुत सी सामग्री आज के युग में अनावश्यक विस्तार रूप लगने लगी है और दो-ढाई घंटे तक के लम्बे २ व्याख्यान प्रातः और मध्याह्न में—दोनों समय—सुनते २ नव शिक्षित अब ऊबने भी लगे हैं। पर टीकाकारों ने जिस समय टीकाएँ बनाईं, उनका वह ज्ञानवर्द्धन का उद्देश्य बहुत सफल रहा।

परिवर्तन विश्व का स्वाभाविक नियम है। मनुष्य की रुचि में भी परिवर्तन होता रहता है। एक युग में जो चीज बहुत आकर्षक लगती है, कुछ समय पश्चात् उसका रस फीका पड़ने लग जाता है। अतः युगानुकूल लोक-रुचि को देखते हुए साहित्य निर्माण होते रहना परमावश्यक है। कल्पसूत्र की पुरानी टीकाएं अपने समय में चाहे जितनी उपयोगी रही हों पर आज के मानस को वे पूर्णरूपेण संतोष नहीं दे सकतीं। उनमें कुछ बातें संशोधनीय भी हैं। विशेषतः कुछ अलौकिक घटनाएं और ऐतिहासिक तथ्य। अलौकिक घटनाओं को आज का लोक मानस अश्रद्धा की दृष्टि से देखता है। अतः वह उन असम्भव सी बातों को मानने को तैयार नहीं। उनका समाधान व उनमें युगानुकूल परिवर्तन करना आवश्यक है। कई बातें जो अन्य प्रमाणों व इतिहास से बाधित होती हैं, उनका परिमार्जन भी अत्यावश्यक है। संक्षेप

में नये युग की नई टीका प्रकाश में आनी चाहिए, जिससे ग्रंथ के प्रति आकर्षण घटे नहीं और साथ ही ज्ञानवर्द्धन भी होता रहे। प्रसंगवश एक आवश्यकता की ओर समाज के विद्वानों और मुनियों का ध्यान आकर्षित कर, अब मैं मूल विषय पर आता हूं।

हिन्दी भाषा का प्रचार गत चार-पांच सौ वर्षों से निरंतर बढ़ रहा है। मूलतः वह मध्य (उत्तर) प्रदेश व पूर्व प्रदेश की भाषा है पर दूसरे प्रान्तों में भी उसका प्रभाव क्रमशः बढ़ता गया। ८ वीं शती से दिगम्बर विद्वान् अपभ्रंश में रचना करते रहे और श्वेताम्बर विद्वान् जिन प्रांतों में उनका अधिक विहार होता रहा, उन प्रान्तों की लोक भाषा-राजस्थानी और गुजराती, में अपनी रचनाएं करते रहे। सोलहवीं शताब्दी तक लगभग यही स्थिति रही। पर सत्रहवीं शताब्दी में हिन्दी का प्रभाव बहुत व्यापक हो गया। फलतः १६ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से ही हम हिन्दी की जैन रचनाएं पाने लगते हैं। पहले कुछ दिगम्बर कवियों की रचानाएं मिलती हैं फिर श्वेताम्बर कवियों ने भी हिन्दी अपना ली। श्वेताम्बर कवियों में संभवतः मालदेव ऐसा सर्व प्रथम कवि है जिसने हिन्दी प्रभावित राजस्थानी में रचनाएं की। अर्थात् इनकी राजस्थानी रचनाओं में हिन्दी का बहुत प्रभाव पद-पद पर देखने को मिलता है। इनका रचना काल सं० १६१२ के लगभग का है। भटनेर-सरसा आदि पंजाब से संलग्न स्थानों में रहने के कारण संभव है मालदेव पर यह प्रभाव पड़ा हो। फिर समयसुंदर आदि कवि सम्राट् अकबर की सभा में लाहौर तक पहुंचते हैं और हिन्दी के प्रभाव में आए नजर आते हैं। १८ वीं शताब्दी में ही हिन्दी में अनेक ग्रंथ लिखे गये। विशेषतः पंजाब और सिन्ध के संपर्क में आनेवाले श्वेताम्बर कवियों ने वैद्यक संबंधी कई बड़े बड़े ग्रंथ लिखे हैं। इसी समय राजस्थान के राजाओं में भी हिन्दी के प्रति प्रेम व आकर्षण बढ़ा। फलतः उनके सम्पर्क में आने वाले यतियों ने भी कुछ शृंगारिक, ऐतिहासिक एवं अन्य विषयों की रचनाएं की।

अठारहवीं शताब्दी में भी बंगाल के मुर्शिदाबाद प्रदेश में जैन श्रावकों का प्रभाव जमा, जिनमें जगत सेठ का घराना बहुत प्रसिद्ध है। उनके पूर्वज राजस्थान से गये थे, अतः उनके प्रभाव विस्तार से आकर्षित होकर बहुत से कुटुम्ब वहां जा पहुँचे। अतः उनको धर्म कृत्य कराने और धर्मोपदेश सुनाने के लिए जैन यतियों का भी वहां पहुंचना स्वाभाविक था।

अठारहवीं के अन्त और १९ वीं के प्रारंभ से जैन यतियों का मुर्शिदाबाद जाना निरन्तर पाते हैं। बंगाल प्रान्त होने पर भी मुसलमानी शासन के प्रभाव से हो या उत्तर प्रदेश से विशेष सम्पर्क रहने से हो, वहाँ हिन्दी भाषा का प्रभाव हम अधिक रूप में पाते हैं। फलतः वहां जाने वाले जैन यतियों ने हिन्दी में बहुत सी रचनाएं कीं। राजा डालचंद मुर्शिदाबाद में रहे थे फिर बनारस में रहने लगे। उनके गुरु यति रायचंद जी रचित "भाषा कल्पसूत्र" का परिचय प्रस्तुत लेख में दिया जा रहा है।

यह ग्रंथ राजा शिवप्रसाद सितारे-हिन्द के पूर्वज राजा डालचंद की आज्ञानुसार बनाया गया था। इसकी एक हस्तलिखित प्रति करीब २० वर्ष पूर्व बीकानेर के खरतर आचार्य शाखा भण्डार में हमारे अवलोकन में आई। हमें यह रचना बहुत उपयोगी प्रतीत हुई। इसलिए इसकी नकल करवाना प्रारंभ किया। पर २२८ पद्यों की नकल हो जाने के बाद स्थानीय महावीर मण्डल पुस्तकालय की सूची देखते हुए अचानक विदित हुआ कि यह ग्रंथ छप भी चुका है। राजा डालचंद के प्रपौत्र राजा शिवप्रसाद सितारे-हिन्द की आज्ञानुसार सन् १८८० में नवलकिशोर प्रेस लखनऊ से 'कल्प-भाष्य' अर्थात् भाषा कल्पसूत्र के नाम से १२२ पृष्ठों में यह ग्रंथ छपा था। इसकी प्रस्तावना में राजा शिवप्रसाद ने "कुल बयान अपने खानदान का और कारण इस ग्रंथ के छपने का" दिया था। उसके अनुसार राजा डालचंद अनेक विद्याओं और कला-कौशल में कुशल थे। वे संस्कृत, फारसी, अरबी, बंगाली, ब्रजभाषा के भी अच्छे जानकार थ। लिखा गया है कि "ज्योतिष और वैद्यक में भी निपुण थे। उन्होंने बहुतेरे ग्रंथ नए रचे और बहुतेरों का भाषान्तर किया। राजा शिवप्रसाद ने अपने दोनों पुत्र कुंवर सच्चित्प्रसाद और आनंद प्रसाद की बहुएँ और अपनी बहिन बीबी गोविंद कुंवर के खातिर, जो जैन धर्म की निरंतर अवलम्बी है, इस ग्रंथ को जब से राजा डालचंद ने भाषा में बनवाया, एक ही प्रति घर में रही थी, उद्धार करके अर्थात् छपवा कर अमर किया है, यह जो पढ़े सुने दया करके अशीष दें कि धर्म में रति रहे, परलोक सुधरे और कुबुद्धि कभी पास न फटकने पावे।" यह पूरी प्रस्तावना हमने सन् ३७ में 'ओसवाल नवयुवक' के महासम्मेलन अंक में राजा शिवप्रसाद सितारे-हिन्द का परिचय देते हुए उद्धृत की थी।

इस ग्रंथ के रचयिता कवि 'रायचंद' एक विद्वान् यति थे। उनके द्वारा रचित 'अवपदी सुकनावली' की प्रति हमारे संग्रह में है। जो सं० १८१७ द्वितीय

जेठ वदी ५ को नागपुर में हिन्दी गद्य में लिखी गई थी। इनका दूसरा ग्रंथ राजा डालचंद के लिए 'चित्र विचित्र–मालिका' नामक मिलता है। यह 'ब्रज-विलास' नामक प्रसिद्ध हिन्दी ग्रंथ का सार है। सं० १८३४ में लिखित इसकी प्रति पं० रघुनाथराम बनारस के संग्रह में है। सन् १९०९ से १३ की हिन्दी ग्रंथों की खोज-रिपोर्ट में इसका विवरण प्रकाशित है।

कवि रामचंद की तीसरी रचना उपर्युक्त भाषा कल्पसूत्र है जो सं० १८३८ चैत्र सुदी ९ बनारस में पूर्ण हुआ। इसका परिमाण करीब २५०० श्लोकों का है।

जैसा कि पहले लिखा गया है कि कल्पसूत्र की ५०-६० टीकाएं लिखी गईं व उनका अनुवाद किया गया पर उनमें प्रस्तुत 'भाषा कल्पसूत्र' का अपना विशिष्ट स्थान है। यह पद्यानुवाद सरल हिन्दी में बहुत सार-गर्भित हुआ है। दोहा और चौपाई इसके प्रधान छन्द हैं। कल्पसूत्र की अन्य प्रसिद्ध टीकाओं की भाँति इसमें न अति विस्तार है और न कोई ज्ञातव्य बात छूटने ही पाई है। प्रथम ११५ पद्यों में पीठिका समाप्त होती है; उसमें पहले पर्युषण का प्रसंग बतलाकर अट्ठम तप माहात्म्य पर नागकेतु की कथा दी है। फिर यह संवत्सरी पर्व पुराणों में ऋषि पंचमी के नाम से प्रसिद्ध होने के कारण ऋषि पंचमी की पौराणिक कथा दे दी है। तदनन्तर यह कल्पसूत्र तीसरे वैद्य की औषधि के समान लाभदायक होने का एक दृष्टांत देते हुए दस प्रकार के कल्पों का विवरण देकर सरल, मूढ़, ऋजु-प्राज्ञ व जज-वक्र दृष्टांत दे दिये हैं। १११ पद्यों में यह वर्णन करने के बाद मूलसूत्र की अनुक्रमणिका देकर पीठिका समाप्त की गई है।

ग्रंथानुक्रमणिका—सोरठा छन्द

प्रथम मन्त्र **नवकार**, अर्थ सहित या ग्रंथ में।
ता पाछें अधिकार, **महावीर कल्याण** को ॥११२॥
पुनि श्री **पारसनाथ, नेमनाथ** अधिकर अरु।
कीधौ ग्रंथ सनाथ, **आदिनाथ** अधिकार कही ॥११३॥
अंतराल विस्तार, ता पाछें **थविरावली**।
कही जैन मत सार, **साथ समाचारी** बहुर ॥११४॥
कल्पसूत्र सिद्धान्त, ताकी ह्यां लौ पीठिका।
करण बखाण नितान्त, अब निज ग्रंथारंभ भनि ॥११५॥

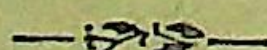
इति पीठिका समाप्त।

अथ ग्रंथारम्भः। तत्रादौ नवकार मंत्रो लिख्यतै।

फिर छः आरों का स्वरूप ७१ पद्यों तक देकर कल्याणक—इन्द्रवैभव, कार्तिक सेठ की कथा तथा मेघकुमार की कथा देकर दस अच्छेरों (आश्चर्यों) का वर्णन किया है। अर्थात् कल्पसूत्र की बड़ी टीकाएं जो ७०००-७५०० हजार श्लोक-परिमाण की हैं, उनका सार इस २५०० श्लोक परिमाण वाले हिन्दी पद्यानुवाद में बड़े ही सुंदर ढंग से सरल भाषा में कवि रायचंद ने खींच दिया है। कविता में भाषा का प्रवाह भी अच्छा है। इसलिए पढ़ने में रुचिकर है।

६८ वर्ष पूर्व प्रकाशित इस ग्रंथ का प्रचार बहुत ही कम हो पाया है। महावीर मण्डल की जो प्रति मैंने देखी थी वह भी अब गायब हो गई है। अन्य किसी पुराने पुस्तकालय में ही इसकी कोई प्रति मिल सकती है। संभव है राजा शिवप्रसाद सितारे-हिन्द के पौत्रों के पास कुछ प्रतियां हों।

राष्ट्र भाषा हिन्दी का प्रचार दिनों दिन बढ़ रहा है। अतः प्रस्तुत हिन्दी पद्यानुवाद का नया संस्करण प्रकाशित हो तो उसका प्रचार अवश्य होना चाहिए। बहुत से ऐसे स्थानों में जहां जैन साधु व यति नहीं पहुँच पाते, कल्पसूत्र को सुनने की लोगों की बड़ी उत्कण्ठा रहती ही है। कई लोग जो गुजराती और हिन्दी के अनुवाद जो आधुनिक प्रकाशित हुए हैं, उन्हीं को पढ़ कर काम चलाते हैं। वहाँ यह बड़े चाव से पढ़ा जायगा। समझने में चाहे गद्यानुवाद अधिक सरल लगे पर काव्य का जो रस निकलता है और उससे जो रोचकता और आकर्षण होता है वह गद्य में संभव नहीं। इसलिए इस ग्रंथ के पुनः प्रकाशन की नितान्त आवश्यकता है। इस ग्रंथ के आदि, अंत और मध्य के कुछ सुंदर पद्यों को देने का विचार था पर लेख विस्तार के भय से उस इच्छा को संवलित करना पड़ा। मैं तो चाहूंगा कि ऐसे ही हमारे अन्य सूत्रों व नित्योपयोगी सूत्र पाठों का भी हिन्दी पद्यानुवाद हो जिससे सुगमता से हर व्यक्ति उनका रसास्वादन कर सके। दिगम्बर विद्वान इस पद्धति को अपना कर बड़े सफल रहे।



मातृत्व की मर्यादा

—प्रो० प्रेमस्वरूप श्रीवास्तव एम०ए०एल०टी०

देवासुर-संग्राम में देवता विजयी हुए। देवलोक की राज्य-श्री मुस्करा उठी, वायुमण्डल नन्दन वन की पराग-धूलि से सुरभित हो उठा। वातायनों से निकलने वाली अगरु-धूम्र-गंध अलकापुरी के कण-कण में व्याप्त हो गई, विजय-नाद से दिशाएँ कम्पायमान हो गईं। देवलोक विधाता की सृष्टि का सर्वप्रिय अंश था।

विशाल कल्पवृक्ष की शीतल छाया में देवगणों की वृहत् सभा एकत्र हुई थी। विषय था—देवलोक की राज्य-व्यवस्था को अब आगे कौन-सा रूप दिया जाए कि वहाँ असुरों की छाया तक न दिखलाई पड़े। सभापति थे देवगुरु आचार्य वृहस्पति।

प्रमुख वक्ता सुराधिपति इन्द्र अपनी वाणी से व्योम-सदृश नील-वर्ण सभा-मण्डप को विकम्पित करने के लिए खड़े ही हुए थे कि उनकी दृष्टि एक आम्र-वृक्ष के कोटर पर अटक गई। वहाँ एक असुर-पुत्र छिपा हुआ बैठा था। महान् अनर्थ! देवपति की भृकुटियाँ चढ़ गईं। देवगणों को भी वस्तु-स्थिति का ज्ञान होते देर नहीं लगी। आचार्य अपने आसन पर खड़े शान्ति बनाए रखने के लिए चिल्लाते रहे, किन्तु व्यर्थ। तीव्र कोलाहल होने लगा।

विचित्र दृश्य था—

आगे-आगे एक असुर-बालक भय से कम्पित गात लिए भाग रहा था और पीछे थी शस्त्रास्त्रों से युक्त क्रुद्ध देवों की अपार भीड़। बालक अपनी पूरी शक्ति लगाकर दौड़ रहा था, मृत्यु-भय की विभीषिका प्रतिपल उसके नेत्रों में प्रगाढ़ अन्धकार भर रही थी, श्वासों के साथ ही जैसे उसका हृदय भी बाहर निकला पड़ रहा था। और पीछे थे देवगण, उसकी छाया तक को नष्ट कर देने के लिए तत्पर।

नगर-पथ पर कोलाहल सुनकर उत्सुकता-निवारणार्थ एक देवपत्नी अपने गृह का द्वार खोलकर बाहर निकली। वह ठीक से खड़ी भी नहीं हो पाई थी कि बधिकों के जाल से जीवन-दान पाए कुरंग की भाँति एक जीव उसकी गोद से आकर लग गया। उसने चौंककर सिर नीचा किया—आँचल से

अपने को छिपाता चला जा रहा वह जीव था असुर-बालक। हिंसाकुल देवों की अपार भीड़ अपनी वस्तु वापस लेने के लिए देवपत्नी के चतुर्दिक् उमड़ पड़ी।

देवपत्नी को स्थिति का ज्ञान होते देर नहीं लगी। असुर? कि जिनके साथ संग्राम करने में उसका पति बुरी तरह आहत हुआ, कि जिनके आतंक से सुरबालाओं का गृह से बाहर पग रखना भी असंभव हो गया था, कि जो देवलोक की प्रिय शांति को नष्ट कर देने के एक मात्र कारण बन गए थे! उन्हीं का बालक—घिनौना असुर-पुत्र—उसकी गोद में। छिः! घृणा से वह काँप उठी। उसे अपने से दूर करने के लिए देवपत्नी ने हाथ बढ़ाए, किन्तु वह था कि सिमटता ही जा रहा था। देवपत्नी ने सारी शक्ति लगाकर उसे अपने से विलग किया। अब वह उसके हाथों में था और अपने अधिकार में उसे लेने के लिए दो-चार देवगण आगे बढ़ रहे थे।

जिन क्षणों में देवपत्नी उस घिनौने जीव को क्रुद्ध देवों के हाथों में सौंप रही थी, उसके नेत्र उस जीव के नेत्रों से मिले—और मिले क्या कि देवपत्नी एड़ी से चोटी तक काँप गई। मौन वेदना और करुणा की भीख का जो अगाध संगम लहरा रहा था उन नेत्रों में, उस संगम के जल का शीतल स्पर्श पा देवपत्नी का अचेतन मातृत्व जाग पड़ा। उसने चपल गति से असुर-बालक को अपनी ओर खींचा और आँचल की छाया में कर लिया। देवपत्नी को लगा कि जैसे उसके स्तनों में से दुग्ध-धार बह निकलना चाहती है। उसने असुर-पुत्र के तीसी-पुष्प जैसे नील-वर्ण, कोमल और भोले मुख को चूम लिया।

देवगणों की भीड़ चोट खाए सर्प की भाँति क्रुद्ध होकर उसे छीनने के लिए आगे बढ़ी। देवपत्नी एक-एक पग पीछे हटने लगी। दुर्घटना की संभावना देख भीड़ में से एक तीव्र कण्ठ-स्वर गूँजा—"जिस शक्ति की सहायता पाकर देवासुर-संग्राम में तुम लोगों ने विजयमाल धारण की थी, असुर-पुत्र आज उसी का शरणागत है।" यह उस कार्य से संतुष्ट प्रतीत हो रहे आचार्य वृहस्पति की वाणी थी।

और, उस दिन देवता भी उस शक्ति के आगे नतमस्तक हो गए जिसकी मर्यादा इस विशाल जीव-सृष्टि के कण-कण में, त्रिकाल में, सदैव ही एक-रस रहती है।

एकान्त पाप और एकान्त पुण्य

—प्रो० दलसुख भाई मालवणिया

जीवन एक ऐसी गहन वस्तु है जिसमें लौकिक और आध्यात्मिक जीवन की सीमा निर्धारित करना अत्यंत कठिन है। जीवन में सामाजिकता इतनी अधिक व्याप्त है कि कहां जाकर हमारा लौकिक जीवन समाप्त होता है और कहां से आध्यात्मिक अथवा अलौकिक जीवन का प्रारंभ होता है, यह कहना कठिन है। जिसे हम आध्यात्मिक जीवन कहते हैं, उसमें लौकिक अथवा सामाजिक जीवन का कब सर्वथा लोप होता है, इसका सूक्ष्मता से विचार करने पर मालूम होता है कि जीवन की अंतिम घड़ी तक जिसे हम तीर्थंकर जैसे परम अध्यात्म पुरुष गिनते हैं वे भी सामाजिक जीवन का त्याग न कर सके तो फिर अन्य आध्यात्मिक पुरुषों की तो बात ही क्या। ऐसी स्थिति में लौकिक धर्म और आध्यात्मिक धर्म इस प्रकार परस्पर अत्यंत व्यावृत्त धर्मों की कल्पना करना और उसके आधार पर पाप-पुण्य की व्यवस्था करना अथवा धर्माधर्म की व्यवस्था करना, यह गम्भीरतापूर्वक विचारने जैसी बात है। किसी भी अनुष्ठान को सहसा लौकिक गिनकर उसमें पाप और दूसरे किसी अनुष्ठान को अलौकिक अथवा आध्यात्मिक मानकर उसमें धर्म की कल्पना करना, यह जरा मनमानी सी बात है। मनुष्य संस्कारों का पुतला है, ऐसा कहा जाय तो असत्य नहीं। किसी भी समय वह अपने पूर्व संस्कारों से सर्वथा मुक्त हो सकता है तो वह वीतरागावस्था में, किन्तु उसके पूर्व की सूक्ष्म संपराय तक की अवस्थाओं में उसके अपने पूर्व संस्कारों के परिणाम स्वरूप अध्यवसाय होते हैं। अतः उसके वे अध्यवसाय मात्र पुण्यजनक अथवा मात्र पापजनक हों अथवा मात्र निर्जराजनक हों यह संभव नहीं। संभव है केवल प्राधान्य का। ऐसे अध्यवसाय संभव हैं जिनमें पुण्य का प्राधान्य हो। तथा ऐसे भी अध्यवसाय हो सकते हैं जिनमें निर्जरा का प्राधान्य हो। यह जैन दर्शन के कर्मशास्त्र की दृष्टि है। इसके आधार पर यों कह सकते है कि वीतरागावस्था के पूर्व जीवन का ऐसा एक भी क्षण संभव नहीं कि जिसमें व्यक्ति केवल पाप ही करे अथवा केवल पुण्य ही करे अथवा केवल निर्जरा ही करे, इसलिए ऐसा कह सकते हैं कि अवीतरागी जीवन का प्रत्येक क्षण ऐसा होता है जिसमें

वह पाप और पुण्य दोनों का चयन अर्थात संग्रह करता है किन्तु यदि पाप चयन का बाहुल्य हो तो कहा जाता है कि उसका वह कार्य पाप है और यदि पुण्य का बाहुल्य हो तो उसका वह कार्य पुण्य है। सकषाय जीवन एक और अखंड है। उसमे ऐसे अंशों की कल्पना नहीं कर सकते कि अमुक अंश सर्वथा अधार्मिक ही होता है। जहां तक व्यक्ति वीतराग नहीं हो जाता वहां तक उसके जीवन का, प्रत्येक क्षण मिश्रित है। वीतरागावस्था में वह केवल धार्मिक बनता है अथवा अध्यात्मिक बनता है, उसके पूर्व के क्षणों में वह कषाय का पुतला होता है और उसका एक भी क्षण ऐसा नहीं होता जिसमें उसके कषाय का सूक्ष्म अंश, एक भी अंश काम न करता हो। ऐसी स्थिति में केवल निर्जरा अथवा केवल पुण्य कमाने की बात शास्त्र में लिखी हो तौ भी उसके विशेष अर्थ का अनुसंधान पूर्वापर सिद्धान्तों के साथ सुसंगति बैठाकर ही करना चाहिए। अन्यथा जैनों के समग्र कर्मशास्त्र के आधार पर स्थापित की हुई गुणस्थानों की व्यवस्था, जो तर्कयुक्त है, छोड़ देनी होगी।

दया, दान के तेरापंथ विषयक समस्त विचारों में यदि कोई भी दोष है तो वह यह कि वे सकषाय जीवन में भी ऐसे क्षणों की कल्पना करते हैं जो केवल पापजनक अथवा केवल पुण्यजनक अथवा केवल निर्जराजनक हैं। आगमों के अमुक पाठ इसके समर्थन में मिलते हैं, यह सच है किन्तु आगम के प्रत्येक वाक्य का अर्थ करने में केवल शब्दार्थ ही लिया जाय तो बहुत ही अनर्थ होना संभव है। समस्त रूप से, जैन दृष्टि क्या है, इसके प्रकाश में ही आगम वाक्य का अर्थ करना आवश्यक है। जैन धर्म आध्यात्मिक धर्म है किन्तु उसे समाज के बीच में और वह भी विरोधी समाज के बीच में रहना पड़ा है। ऐसी दशा में आगम में इस प्रकार के अनेक उदाहरण मिल जाते हैं जिनका उसकी आध्यात्मिकता के साथ कोई मेल नहीं बैठ सकता। एक ओर यदि हम गृहस्थलिंगी अथवा अन्यलिंगी के सिद्ध होने की योग्यता मानते हैं और दूसरी ओर असंयती को दान देने में पाप मानते हैं तो यह सोचना चाहिए कि संयती किसे माना जाए। क्या जिसने लिंग धारण किया है उसे? यहीं व्यवहार आकर खड़ा होता है कि जिसने जैन लिंग धारण किया हो, उसे संयती मानना चाहिए। जैन लिंग धारण करते हुए भी वस्तुतः कोई असंयती हो तो उसे दान देने में पाप होता है कि पुण्य? और गृहस्थ लिंगी होते हुए भी यदि वह वस्तुतः संयती हो और हमने उसे दान न दिया तो क्या यह उचित है या अनुचित? संयम आध्यात्मिक वस्तु है। उसका बाह्यवेश के साथ बहुत कम संबंध है। इसलिए

वेश के आधार पर किसी के संयम का निर्णय नहीं किया जा सकता। तो क्या जहाँ तक संशय हो वहाँ तक दान की प्रवृत्ति से विरत रहना चाहिए ? हमारा यदि यही आग्रह रहे कि संयती को देने से पुण्य होता है और असंयती को देने से पाप, तो हमें देने से पहिले इस बात का निर्णय करना चाहिए कि यह संयती है अथवा असंयती। किन्तु हम छद्मस्थ हैं। ऐसी अवस्था में क्या कभी सही निर्णय कर सकेंगे ? क्या हमेशा संशय नहीं रहेगा कि यह मेरा दान अपात्र में तो नहीं गया। इसलिए वस्तु स्थिति यह होनी चाहिए कि दान देना ही नहीं चाहिए। यदि ऐसी बात हो तो संयम मार्ग कितने दिन तक टिक सकेगा ? इसका सीधा और स्पष्ट मार्ग यही है कि दान का फल मुख्य रूप से दाता की भावना पर है, देने वाले के अध्यवसाय पर है, लेने वाले की योग्यता और अयोग्यता पर नहीं। यह सिद्धान्त की बात हुई। इस सिद्धान्त को सामने रखकर शास्त्र के वचनों का अर्थ करना चाहिए। मुख्य गौण भाव से विचार करने पर कोई न कोई मार्ग निकल आएगा। अन्यथा अदान ही श्रेष्ठ है। और ऐसा हो तो भिक्षुओं के लिए यही श्रेष्ठ मार्ग है कि उन्हें भिक्षाजीवी न होकर कुछ कमाना चाहिए। संयती को देने का अर्थ यह करना कि जैन संयती को देना और जैन संयती में भी अमुक पंथ के लोग ही सच्चे संयती हैं इसलिए उन्हें देना, यह व्यवहार की व्यवस्था है। किन्तु इसमें तो केवल बाह्य-वेश की ही मुख्यता होती है। यदि इस प्रकार की बाह्याचार की व्यवस्था को सनातन सत्य माना जाय और उसके आधार पर धर्माधर्म का निर्णय किया जाय तो आध्यात्मिक धर्म का पोषण नहीं हो सकता। 'इसने तो जैन धर्म का लिंग धारण नहीं किया है, इसलिए इसमें संयम नहीं हो सकता' ऐसा मानकर यदि दान से विरति ले ली जाय तो आध्यात्मिक धर्म की पुष्टि नहीं हो सकती। अथवा जैन लिंग को बिल्कुल ही महत्व न दिया जाय तो भी जैन धर्म का जो विशेष प्रचार आवश्यक था, वह संभव न होता। इसलिए व्यवहार में जैन लिंग को संयम का ही चिह्न मानकर दान देने की व्यवस्था किए बिना अन्य मार्ग न था। इसी प्रकार अजैन लिंगधारी को व्यवहार में असंयती मानकर उसकी सहायता में उपेक्षा करना भी व्यवहारिक व्यवस्था ही है। इस व्यवस्था से यदि हम यह निष्कर्ष निकालें कि असंयती को देने से पाप और वह भी एकान्त पाप होता है तो देने वाले की भावना व दाता के अध्यवसाय का कोई महत्व नहीं रह जाता है। मानिए कि संयमी है, ऐसा सोचकर दिया किन्तु वह असंयमी हो तो क्या

होगा ? पाप ही होगा, ऐसा मानना पड़ेगा । क्योंकि पाप-पुण्य का अंतिम निर्णय देनेवाले की आत्मा पर नहीं रहा किन्तु लेनेवाले की आत्मा पर रहा और लेनेवाले की आत्मा का साक्षात्कार पूर्व कथनानुसार असंभव है । इसलिए यही सिद्धान्त है कि शुभ भावना से देना श्रेयस्कर है । लेने वाला भले ही महापापी हो । कर्मशास्त्र का तो यही मार्ग है ।

दान के लिए ही क्यों, हिंसा के लिए भी यही बात है । साधु संपूर्ण अहिंसा का व्रत लेता है फिर भी क्या यह संभव है कि उसके निमित्त से जीवों की मृत्यु न हो । साधु भले ही कहे कि हम तो किसी जीव की हिंसा नहीं करते हैं किन्तु वस्तुतः क्या वह हिंसा से बच सकता है ? साधु-जीवन में अप्रमाद होता है इसलिए क्या सूक्ष्म जीवन की मृत्यु होने से बच सकती है ? कभी नहीं । यह हिंसा तो होती है । तो क्या इस प्रकार की हिंसा से बचा जा सकता है ? कभी नहीं । इसलिए अंत में मान लिया गया कि अप्रमादी को हिंसा से पापबंध नहीं होता । तात्पर्य यह है कि इस प्रकार की हिंसा रुक नहीं सकती । हमारी अहिंसा की भावना होते हुए भी यह हिंसा होती ही है । इसलिए अनिवार्य रूप से मानना पड़ा कि बाह्य जीव की हिंसा हो अथवा न हो, प्रमाद पापजनक है और अप्रमाद पापजनक नहीं है । अप्रमादी का जीवन हिंसक होते हुए भी पापजनक न होने से अहिंसा है और प्रमादी बाह्य हिंसा न करते हुए भी अपने राग द्वेष के कारण सदैव हिंसक है और पापजन्य बंध करता है । इस प्रकार यदि हिंसा-अहिंसा के विचार में बाह्य हिंसा को छोड़ कर भाव हिंसा अर्थात् आत्मा के दुष्ट परिणामों के आधार पर यदि हिंसा की पापजनकता का निर्णय किया गया है तो इसी न्याय के आधार पर दान में भी अंतिम मार्ग यही हो सकता है कि दान का पात्र कोई भी हो, अंततोगत्वा अध्यवसायों के आधार पर ही दान की पापजनकता या पुण्यजनकता का निर्णय करना चाहिए ।

भगवान बुद्ध जैसे की मृत्यु अन्तिम भिक्षा में प्राप्त मांस के दोष के कारण हुई तो क्या उसके दाता को बुद्धघातक मानना चाहिए ? स्वयं बुद्ध ने दाता को इस दोष से मुक्त किया है । इसका कारण अन्य कोई नहीं, दाता के शुभ अध्यवसाय ही हैं । इसलिए प्रदत्त दान का अंतिम परिणाम क्या होगा इसका पहले से ही विशेष रूप से निर्णय नहीं किया जा सकता है । सामान्यतया यह कहा जा सकता है कि संयमी को देने से इसका उपयोग ठीक होगा ।

किन्तु संयमी को ही देने से पुण्य होता है इस प्रकार की मान्यता के फलस्वरूप ऐसा भी होता है कि संयमी को आवश्यकता से भी अधिक मिल जाय और उसका परिणाम यह हो कि उससे संयम का घात हो। ऐसी स्थिति में दाता को पुण्य मानना चाहिए अथवा पाप, यह प्रश्न उपस्थित होता है। संयमी को देने से तो पुण्य ही होता है, ऐसा माना जाय तो यह मानना पड़ेगा कि यह दान संयमी को दिया गया, अतः उचित ही किया। किन्तु संयमी को इसका फल कुछ भी मिले इस पर हमें ध्यान नहीं देना चाहिए। अपने स्वयं के अध्यवसाय ऐसे थे कि मेरे इस दान से उसके संयम की वृद्धि हो। फिर भले ही उसने दान प्राप्त करके अपने संयम का घात किया हो। इसका दायित्व दाता का नहीं। इसी प्रकार असंयमी के विषय में भी क्यों न सोचा जाय कि भूखा व्यक्ति क्या-क्या पाप नहीं कर सकता? इसलिए उसका पेट भर जाय यह उसके संयम का प्रथम सोपान है। पेट भरा होगा तो अनेक पापों से निवृत्त होकर सन्मार्ग में प्रवृत्ति करेगा। ऐसा समझ कर कोई दान दे तो उसे क्योंकर पुण्य न हो? दान का फल लेने वाले के असंयम में अथवा संयम में परिणत हो सकता है किंतु दाता उसका निर्णय पहले से ही नहीं कर सकता। उसकी भावना यह जरूर है कि मेरे इस दान का सदुपयोग हो। इस स्थिति में प्रथम दृष्टान्त में संयम का घात होते हुए भी यदि वह पुण्यजनक हो सकता है तो यहाँ पर असंयम की वृद्धि होते हुए भी क्योंकर पुण्य न हो? दोनों जगह अंतिम नियामक दाता की भावना ही है। भावना के मूल में विवेक आवश्यक है। किन्तु इस विवेक का क्षेत्र पहले से ही निर्णीत कर लिया जाय कि संयमी को दान देने में विवेक का उपयोग करना चाहिए और असंयमी तो पात्र की कोटि में ही नहीं आता। तो इस प्रकार के विवेक के क्षेत्र की मर्यादा संकुचित ही है।

मुनि श्री नथमल जी ने "जैनभारती" (वर्ष ३ अंक ८) में दान विषयक सुन्दर शास्त्रीय निरूपण किया है। किन्तु इस संपूर्ण विवेचनमें दृष्टि आचार्य भीखण जी की है। इसलिए विवेचन एकांगी हो गया है। अंत में जो उन्होंने लिखा है कि कम पाप और अधिक पुण्य की क्रिया को ठीक माना जाय तो याज्ञिक हिंसा का विरोध करने को कोई आधार नहीं रहता। उनका यह वक्तव्य मानव जीवन में अहिंसा और हिंसा कितनी गुंथी हुई है और व्यक्ति दावा भले ही करे किन्तु मोक्ष के बिना सर्वथा बाह्य बंध से नहीं बचा जा सकता है—इस तथ्य के अज्ञान का सूचक है और इसीलिए हिंसा से बचने के जो क्रमिक सोपान हैं, उनके अज्ञान का भी सूचन

करता है। उनके कथन का तात्पर्य यह मालूम होता है कि मनुष्य या तो हिंसक है या अहिंसक। उनके मत से बीच का कोई मार्ग नहीं हो सकता। उनका यह तात्त्विक मन्तव्य शास्त्र से तो विरुद्ध है ही, लोक व्यवहार से भी विरुद्ध है। मनुष्य यदि संपूर्ण अहिंसा की बात करे और बीच के मार्ग को मार्ग ही न माने तो जीवन विकास के जो क्रमिक सोपान हैं, उनका कोई अर्थ नहीं रहता। इसका अर्थ यह हुआ कि सांस्कृतिक प्रचार अथवा प्रचार के साधन जुटाने का भी कोई अर्थ नहीं। मनुष्य के लिए धर्म का समझना अर्थात् जंगल में जाकर जीवन का अंत कर देना यही एक मार्ग शेष रह जाता है। किन्तु इस प्रकार के मार्ग को किसी भी धर्म संघ ने नहीं अपनाया। अपनाया हो तो अधिक समय तक पकड़ नहीं रखा। इससे मालूम होता है कि साधना काल में, वह साधु की साधना हो अथवा श्रावक की, जीवन में मिश्रण ही है, अहिंसा और हिंसा मिश्रित ही है। ऐसी स्थिति में एकान्त पुण्य और एकान्त पाप जैसी वस्तु को जीवन में स्थान मिल ही नहीं सकता। बड़ी हिंसा छोड़कर छोटी हिंसा करना और उसे भी उत्तरोत्तर कम करते जाना यही साधना मार्ग हो सकता है। और साधना में पाप भी होता है और पुण्य भी।

'प्रबुद्ध जीवन'] [अनु०—श्री० मोहन लाल मेहता]

कला की शक्ति

कलाकार जब अपनी समाधि में जाता है तब उसके सामने बहुत-सी कल्पनाएँ एक साथ खड़ी हो जाती हैं। राम, रावण, बन्दर, सुन्दरियाँ, पेड़, पौधे, समुद्र, पहाड़ ये सभी चित्र जब मन के सामने आते हैं तो प्रत्यक्ष ही उनमें पारस्परिक विरोध भी होते हैं। किन्तु, कला को जहाँ उसका सच्चा रूप या आकार मिल जाता है, वहाँ ये विरोध आप से आप नष्ट हो जाते हैं और सब के सब एक ही लक्ष्य की पूर्ति करने लगते हैं। कला के रूप की लपेट में पड़ने पर असुन्दर भी सुन्दर बन जाता है।

—न्यू रिव्यू

ज़िन्दगी किसे कहते हैं ?

—प्रिंस क्रोपाटकिन

"अगर तुम्हें अपने भीतर जवानी की ताक़त महसूस होती है, अगर तुम जीते रहना चाहते हो, अगर तुम निर्दोष, सर्वाङ्गपूर्ण और उभरती हुई जिन्दगी का आनन्द लेना चाहते हो—यानी, अगर तुम उन सर्वोच्च आनन्दों को जानना चाहते हो, जिनकी कोई भी जीवित प्राणी आकांक्षा कर सकता है—तो मज़बूत बनो, महान् बनो और जो कुछ भी तुम करो, उसमें दृढ़ता से काम लो।

अपने चारों तरफ जीवन के बीज बोओ ! ख़बरदार ! अगर तुम धोखा दोगे, झूठ बोलोगे, षड्यंत्र रचोगे, चरका दोगे तो तुम खुद अपने आपको पतित करोगे, अपने आपको छोटा बनाओगे, पहले से अपनी कमज़ोरियाँ क़बूल करोगे और तुम्हारी हालत जनानखाने के उस गुलाम की तरह होगी, जो हमेशा अपने को अपने मालिक से छोटा समझता है। अगर तुम्हें यही बातें भाती हैं तो इन्हीं को करो; लेकिन उस हालत में लोग तुम्हें नाचीज़, घृणास्पद और कमजोर समझेंगे और तुम्हारे साथ वैसा ही बर्ताव करेंगे। तुम्हारी ताक़त का कोई सबूत न होने के मानी यह होंगे कि जनता तुम्हें करुणा का पात्र समझेगी—केवल करुणा का पात्र, बस !

जब तुम खुद अपने आप अपनी शक्तियों को पंगु बनाते हो तो दुनिया को दोष मत दो। इसके ख़िलाफ अपने को शक्तिशाली बनाओ और अगर कहीं तुम्हें कोई अन्याय दिखाई दे और तुम उसे अन्याय या अधर्म मानते हो—चाहे वह जीवन का कोई अन्याय हो, विज्ञान का कोई झूठ हो, या किसी पर किसी का किया जुल्म हो तो तुम उस अन्याय, उस झूठ या उस जुल्म के ख़िलाफ उठ कर बग़ावत कर दो।

संघर्ष करो ; संघर्ष के मानी जिन्दगी हैं और जितना ही घोर संघर्ष होगा, उतना ही जीवन परिपूर्ण तथा गम्भीर बनेगा। तब तुम दरअसल जिन्दा बनोगे और इस तरह की ज़िन्दगी के चन्द घंटे घास-फूस की तरह नीरस जीवन के वर्षों से ज्यादा गौरवयुक्त हैं।

संघर्ष करो, ताकि सारी दुनिया यह उभरता हुआ और भरा-पूरा जीवन बिता सके। विश्वास रखो कि इस संघर्ष में तुम्हें वह आनन्द मिलेगा जो और कोई चीज नहीं दे सकती।"

नमस्कार मंत्र का मौलिक परम अर्थ

—पं० सूरजचंद सत्यप्रेमी (डाँगी जी)

श्रमण-संस्कृति के निर्ग्रन्थ-धर्म में परमात्मा से कुछ माँगना ठीक नहीं समझा जाता, इसी कारण मूल मंत्र में पंच परमेष्ठी के प्रति केवल नमस्कार किया गया है और इस नमस्कार का हेतु यही है कि हम अपने देव और गुरु के सद्गुणों में अपनी आत्मा को झुकाना चाहते हैं। चरणों में सिर झुकाने का परम अर्थ भी यही है कि हमारी बुद्धि आचरण की ओर झुके।

'अमुक व्यक्ति का सिर ख़राब हो गया है' या 'अमुक व्यक्ति के चरण उल्टे पड़ रहे हैं' इन वाक्यों में 'सिर' और 'चरण' का प्रयोजन 'मस्तिष्क' और 'व्यवहार' से ही है।

वैदिक संस्कृति की वेद-माता गायत्री में बुद्धि की शुद्धि के लिए प्रेरणा माँगी गई है और श्रमण-संस्कृति की प्रवचन-माता 'समिति गुप्ति' में आचरण-शुद्धि का संदेश है। नमस्कार-मंत्र का नमन भी आचरण शुद्धि का ही साधन है।

हम जिसको नमन करेंगे उसी तरफ़ हमारे जीवन की प्रवृति होगी। पैसा चाहने वाला सेठों को नमन करेगा, अधिकार चाहने वाला अधिकारियों के पास चक्कर लगायेगा परन्तु शान्ति चाहने वालों का कर्तव्य है कि वे परम शांत, परम इष्ट पंच परमेष्ठी को नमन करें। वे पंच परमेष्ठी कौन हैं? जरा हम मौलिक नवीन पद्धति से इनका परिचय प्राप्त करें जो आज के जीवन को शांति के पथ पर ले जा सके।

पहला पद है—अरिहंत 'अर्हत्'। 'अर्हत्' शब्द का अर्थ है 'सेवा करते हुए'। जो सब जीवों की समान भाव से सर्वतोमुखी सेवा करे वही 'अर्हत्' है। जो सेवा करता है, वही सेवक है। जो पूजा करता है, वही पूज्य है। जो श्रद्धा करता है, वही श्रद्धेय है।

"अमानी मानदो मान्यः"—जो स्वयं अमानी है,दूसरों को मान देता है वही मान्य है। जो सब प्राणियों को सम्पूर्ण रीति से मानता है, उनके प्राणों को

मान देता है इसलिए उन्हें तनिक भी कष्ट नहीं पहुँचाता, वही मान्य होता है। और इसीलिए अर्हंत प्रभु सबके लिए मान्य हैं। जो उनका उपासक है, उनको नमन करता है उसे अपनी सेवा का क्षेत्र अधिक से अधिक बढ़ाते जाना चाहिए।

जो सेवा नहीं करता, सेवा के मार्ग में प्रगति नहीं करता वह 'अर्हत्' का उपासक ही नहीं है। श्रावक का अर्थ ही यह है कि वह सुन कर सेवा करे। पिता ने कहा—'बच्चा मेरी नहीं सुनता'। 'नहीं सुनता' इसका परम अर्थ यही है कि सुनकर तदनुसार आचरण नहीं करता। 'अर्हत्' के उपासक श्रमण का भी यही अर्थ है कि वह कल्याण मार्ग में निरन्तर आजीवन श्रम करे। जो श्रम से दूर भागे वह कैसा श्रमण ? इस प्रकार 'अर्हत्' शब्द का परम अर्थ हुआ—सबकी समान रूप से सेवा करता हुआ और 'अर्हत्' के उपासकों का अर्थ हुआ—सेवा के मार्ग में श्रम करने के लिए निरंतर प्रगति करता रहे।

दूसरा पद है—'सिद्ध'। जिसकी साधना संपूर्ण रूप से संपन्न हो जाए वह सिद्ध है। जिसकी आत्मा ऐसी स्थिति पर पहुँच जाए कि फिर लौटे नहीं वही सिद्ध है। सिद्ध को शरीर नहीं होता। सिद्धांतों को कोई आकार नहीं होता। 'अर्हत्' जिन सिद्धांतों के आधार पर सेवा करते हैं वे सिद्ध हैं।

जिस प्रकार भारतीय जनता पहले गाँधी जी की जय बोलती है फिर 'अहिंसा' की; उसी प्रकार हम पहले 'अर्हत्' को नमन करते हैं फिर सिद्ध को। यदि पहले जलाशय के पास नहीं जाएँगे तो जल कैसे मिलेगा ?

गोस्वामी तुलसीदास ने 'राम' की अपेक्षा राम के सेवकों का अधिक महत्व बतलाया है। इसका मर्म भी यही है कि सिद्धान्तों की अपेक्षा सिद्धांतों का व्यवहार करने वालों का पहला स्थान है। यही कारण है कि उत्तम सेवा के व्यवहार का आदर्श उपस्थित करने वाले अर्हत् को भी सिद्धों की अपेक्षा प्रथम नमन प्रचलित है। "सागर वर गंभीरा सिद्धा"—सिद्ध भगवान् सागर वर गंभीर हैं परंतु बादल नहीं हों तो हमें पानी कौन पहुँचाए। इसीलिए सागर की अपेक्षा बादलों का स्थान ऊपर है उसी प्रकार सिद्ध की अपेक्षा अर्हत् का स्थान पहला माना गया है।

जैन शास्त्रों में 'अर्हत्' की योग्यता यानी उत्कृष्ट सेवा की योग्यता तभी स्वीकार की गई है जब उसका ज्ञान-दर्शनावरण नष्ट हो जाए, मोह और

अंतराय निर्मूल हो जाए। परम अर्थ यही है कि जिसको पद-पद पर विघ्नों का भय हो, जिसके हृदय में किसी भी प्रकार का तनिक भी मोह हो और जिसे सेवा के शुद्ध तरीकों का संपूर्ण ज्ञान और दर्शन ही प्रत्यक्ष स्पष्ट नहीं हो उसकी सेवा क्या सफल होगी ? अर्थात् उसे पूर्ण स्वतंत्रता या मोक्ष की प्राप्ति कैसे होगी ? पूर्ण स्वतंत्रता या मोक्ष की प्राप्ति का पुंजीभूत रूप ही सिद्ध शब्द का परमार्थ है।

तीसरा पद है 'आचार्य' और चौथा है 'उपाध्याय'। इसका परम अर्थ यही है कि आचरण पूर्वक स्वाध्याय की ओर बढ़ें तभी पंचम पद की सर्व साधनाएँ सम्यक् होंगी।

आचरण करते-करते ही ज्ञान होता है। उपाध्याय महान् ज्ञानी माने जाते हैं परन्तु आचरण पर नियमन रखने वाले आचार्य को प्रथम स्थान दिया गया है। महाभारतकार ने भी कहा है—

सर्वागमानामाचारः प्रथमं परिकल्प्यते।
आचार-प्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युतः॥

सब आगमों में आचरण ही प्रथम माना गया है। धर्म आचरण से ही आया है और जो धर्म का स्वामी होता है वह कभी च्युत नहीं होता।

इस प्रकार आचरण पूर्वक स्वाध्याय करके जो अपने आपको समझता है वही आचार्य और उपाध्याय पद प्राप्त कर सकता है।

हाँ, पहले उसे सब प्रकार की साधना करके पंचम पद प्राप्त करना पड़ता है।

पंचम पद है लोक में सब प्रकार की साधना करने वाले साधकों—साधुओं का।

उन्हें पंच महाव्रतों का आदर्श सर्वथा प्रकार से पालन करना पड़ता है। वे अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के अनुकरणीय मूर्तिमंत स्वरूप होते हैं। उनको नमन करने से ही संपूर्ण पापों का नाश और मंगल होता है, ऐसा कहा गया है। इसका परम अर्थ यही है कि हम अपनी आत्मा को इन स्वरूपों की ओर झुका दें।

क्टूबर
विघ्नों
ी और
नहीं
क्ष को
रूप ही
ं यही
घनाएँ
मानें
दिया
ण से
।
ता है
ा है।
कों—
ा है।
तिमंत
मंगल
अपनी

कहानी—

यमराज का अतिथि

—डॉ० इन्द्रचंद्र शास्त्री एम० ए०, पी० एच-डी०

"पिता जी ! आप मुझे किसको देंगे ?" बालक ने सरल एवं श्रद्धापूर्ण हृदय से पूछा।

"मृत्यु को," पिता ने क्रोध में भरकर उत्तर दिया।

बहुत पहले की बात है। ऋषि वाजश्रवस ने स्वर्ग की कामना से विश्वजित प्रारम्भ किया। सर्वस्व-दक्षिण याग होने के कारण उनके मन में विचार आया—'यदि सब कुछ दक्षिणा में दे दूँगा, तो पुत्र का निर्वाह कैसे होगा ?'

आजकल की तरह उन दिनों सोने चाँदी या कागज का सिक्का नहीं था। गौएँ ही एक मात्र सम्पत्ति गिनी जाती थीं। उन्हीं से परस्पर विनियम होता था। ऋषि ने उन्हें दो भागों में बांट दिया। दूध देने वाली अच्छी गौएं पुत्र को दे दीं और जीर्ण-शीर्ण अपने पास रख लीं।

पूर्णाहुति के पश्चात् जब दक्षिणा का अवसर आया, तो उसने ऋत्विजों को ऐसी गौएँ देनी प्रारम्भ कीं, जो जीवन की अन्तिम घड़ी में पहुँची हुई थीं।

ऋषि के पुत्र का नाम था नचिकेता। हृदय का सरल किंतु बुद्धि का तीव्र। उसके मन में आया—पिता जी मेरे मोह में पड़कर अपने कर्तव्य को भूल रहे हैं। जब दान देना है, तो सच्चे हृदय से देना चाहिए।

वृद्ध ऋषि मानते थे कि यज्ञ केवल कर्मकांड है। निश्चित विधि-विधान पूरा होते ही उसका प्रयोजन सिद्ध हो जाता है। दक्षिणा-दान भी उसी विधि-विधान का एक अंग है।

बालक सोच रहा था—केवल विधि-विधान से धर्म नहीं होता। उसके साथ हृदय भी चाहिए। यदि दाता का मन देने का नहीं है, तो उसे दान नहीं कहा जा सकता। निकम्मी गौएँ देने का अर्थ है कि दाता का मन दान से दूर है। इस प्रकार महाविधि कैसे पूरी होगी ?

उसने पिता की विपरीत धारणा को ठीक करने का निश्चय किया। सोचा—मुझ पर पिता जी का अधिकार है। मैं भी उनकी सम्पत्ति हूँ।

क्यों न मैं भी दक्षिणा के रूप में चला जाऊँ? पिता के मोह को दूर करने के लिए उसने उपाय ढूँढ लिया।

वह नम्र शब्दों में बोला—"पिता जी! आप मुझे किसको देंगे?"

ऋषि ने प्रश्न पर कोई ध्यान नहीं दिया। दुबारा पूछा, फिर कोई उत्तर नहीं मिला। जब तीसरी बार पूछा, तो ऋषि को क्रोध आ गया। उन्होंने कहा—'मृत्यु को!'

जो क्रांतिकारी रूढ़िवाद से आक्रांत निर्जीव धर्म में प्राण डालना चाहता है, उसे मृत्यु का आलिंगन करने के लिए तत्पर रहना पड़ता है। नचिकेता मृत्यु के पास जाने को तैयार हो गया। ऋषि व्याकुल हो उठे। क्रोध में आकर कह तो दिया था, किंतु अपनी ही बात को सफल होते देखकर घबरा उठे। उन्होंने पुत्र को रोकना चाहा।

नचिकेता बोला—"पिताजी! हमारे वंश में आज तक किसी की वाणी मिथ्या नहीं हुई है। उस उदात्त परम्परा की रक्षा करना हमारा कर्तव्य है। देही तो शस्य के समान पकता है, और झड़ जाता है और फिर उत्पन्न हो जाता है। इसकी चिंता नहीं करनी चाहिए।"

नचिकेता यमलोक में पहुँचा, तो यम वहाँ नहीं थे। प्रतीक्षा में तीन दिन तक भूखा प्यासा बैठा रहा।

नचिकेता सत्य का पथिक था। वह वाणी एवं व्यवहार, क्रिया एवं हृदय के अन्तर को दूर कर देना चाहता था। उसकी मान्यता थी कि हमारे कहने का अर्थ करना होना चाहिए। जिस कहने के पीछे करना नहीं है, वह कहना आत्मा को पतन की ओर ले जाता है। इसी प्रकार करने के पीछे हृदय की अनुभूति भी होनी चाहिए। हमारी क्रिया के साथ-साथ हृदय का स्पन्दन भी होना चाहिए। हृदय के बिना क्रिया जड़ है, निर्जीव है। धर्म तथा समाज के जीवन में इस सामंजस्य को अवतरित करने के लिए ही वह मृत्यु के द्वार पर पहुँचा था। उसके तीन दिन के अनशन का समाचार सुनकर मृत्यु के देवता यमराज भी काँप उठे। उन्होंने यथाविधि अतिथि की पूजा की और नम्र शब्दों में कहा—"हे अतिथि! तुम मेरे वन्दनीय हो। मेरे घर में तुम्हें तीन दिन तक भूखे रहना पड़ा। मुझे पातक लगा है। उससे मुक्त होने के लिए मैं तुम्हें तीन वर देता हूँ। कृपा करके मेरे कल्याण के लिए इन्हें स्वीकार करो।"

नचिकेता ने कहा—"सबसे पहला वर मैं यह माँगता हूँ कि वापस लौटने पर पिता जी मुझे प्रसन्नचित्त से स्वीकार करें। उनके मन में किसी प्रकार का क्रोध या दौर्मनस्य न रहे।"

यम ने स्वीकार करते हुए कहा—"जब तुम लौटेगे, तो पिता तुम्हें हृष्ट मन से स्वीकार करेंगे। तुम्हें प्राप्त करके उनका मन स्वस्थ हो जायगा और वे सुख की नींद सोएँगे।"

"यमराज! मैं अग्निविद्या का रहस्य जानना चाहता हूँ। यह मेरा दूसरा वर है।" नचिकेता ने कहा।

यमराज ने यज्ञ-याग आदि का सारा रहस्य उसे समझा दिया। अन्त में नचिकेता से पूछा—"समझ गये?" नचिकेता ने सारा का सारा ज्यों का त्यों सुना दिया। यमराज ने प्रसन्न होकर उसी दिन से 'यज्ञीय अग्नि' का नाम 'नाचिकेतस्' रख दिया।

अब वह तीसरा वर माँगने लगा—"यमराज! मनुष्य जब मर जाता है, तो कुछ लोग कहते हैं—वह आत्मा के रूप में रहता है, कुछ कहते हैं—नहीं रहता। क्या आप बताएँगे कि वास्तविकता क्या है?"

यमराज ठिठक गये। अब तक जो उसके पास आते थे कोई धन मांगता था, कोई संतान माँगता था, कोई प्रभुता मांगता था और कोई लम्बी आयु माँगता था। नचिकेता ही पहला व्यक्ति था जिसने आत्म-विद्या का वर मांगा।

यम ने कहा—"नचिकेता! आत्मा को जानना सरल नहीं है। देवता भी इस विषय में अनभिज्ञ हैं। कोई दूसरा वर लो। आत्मज्ञान के आग्रह को छोड़ दो।"

"यमराज! आप कह रहे हैं यह देवताओं के लिए भी दुर्ज्ञेय है। किंतु इस प्रश्न की व्याख्या 'आपत' सरीखा दूसरा न मिलेगा। इसलिए मैं दूसरा वर नहीं मांगता।"

"दीर्घजीवी पुत्र-पौत्रों को माँग लो। हाथी, घोड़े तथा पशु-धन माँग लो, सोना-चाँदी माँग लो, विशाल साम्राज्य माँग लो, जितने दिन जीना चाहो उतना लम्बा जीवन माँग लो। संसार में जितने भोग हैं, सब तुम्हें देने के लिए तैयार हूँ। मृत्यु लोक में जो-जो दुर्लभ वस्तुएँ हैं, खुले दिल से माँग लो। ये सुन्दरियाँ, ये रथ, ये बाजे मनुष्यों को नहीं मिल सकते।

इन सबको लेकर सुखपूर्वक रहो। मृत्यु के पश्चात् क्या होगा, यह मत पूछो।" यमराज ने सारे प्रलोभन उसके सामने रख दिए।

"भोग विलास आज हैं, कल नहीं रहेंगे। ये इन्द्रियों के तेज को क्षीण कर देते हैं। जीवन कितना ही लम्बा मिल जाय, फिर भी वह नश्वर है। इसलिए नाच-गान और हाथी-घोड़े सब अपने ही पास रखिए। मनुष्य की तृप्ति धन से नहीं, सन्तोष से होती है। आपके दर्शन होने पर धन तो मिल ही जायेगा। जब तक आपका शासन है, हमें मारने वाला भी कौन है? किन्तु वर तो मेरा वही है। ऐसा कौन मूर्ख होगा जो आत्मा की अमरता को समझ कर भी विविध काम-भोगों में लिप्त होकर मर्त्यलोक में पड़ा रहे।"

यमराज ने जब देखा कि नचिकेता अपने निश्चय पर दृढ़ है, तो उन्होंने आत्मविद्या का उपदेश प्रारम्भ किया —

"संसार में दो मार्ग हैं। एक रुचिकर दूसरा हितकर। पहले को प्रेम कहा जाता है दूसरे को श्रेय। दोनों भिन्न-भिन्न लक्ष्यों की ओर ले जाते हैं। जो श्रेय को अपनाता है उसका कल्याण होता है। जो प्रेम को अपनाता है वह अपने लक्ष्य से भ्रष्ट हो जाता है। इन दोनों मार्गों के उपस्थित होने पर बुद्धिमान विवेक करता है और प्रेम को छोड़कर श्रेय को अंगीकार करता है। किंतु मूर्ख बाह्य लाभों को देखकर प्रेम की ओर झुक जाते हैं।

"नचिकेता! तुमने प्रिय तथा मोहक आकृतियों का वास्तविक रूप समझ कर उन्हें छोड़ दिया। तुम धन के जंजाल में नहीं फंसे, जिसमें सभी लोग डूब जाते हैं।

"दोनों मार्ग एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न हैं। एक विद्या है, दूसरा अविद्या। तुम कामभोगों से आकृष्ट नहीं हुए, तुम वस्तुतः विद्या के अभिलाषी हो।

"बहुत से लोग अविद्या से घिरे होने पर भी अपने को बुद्धिमान तथा पण्डित मानते हैं। वे अन्धे को लाठी पकड़ा कर चलने वाले अन्धों के समान सदा विपरीत मार्ग में चक्कर काटते रहते हैं।

"सारे वेद जिसका सच्चरण करते हैं। सारे जप-तप जिसको अपना लक्ष्य मानते हैं। जिसकी प्राप्ति के लिए लोग ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, वह पद मैं तुम्हें संक्षेप में सुनाता हूं। वह है—ॐ

"यही अक्षर अपर ब्रह्म रूप आलम्बन है, यही अक्षर परब्रह्म रूप आलम्बन है। इस आलम्बन को जानकर व्यक्ति ब्रह्म लोक में पूजा जाता है।

"चेतन आत्मा न उत्पन्न होता है, न मरता है। न यह किसी अन्य वस्तु से बना, न कोई वस्तु इससे बनती है। यह अजन्मा है, नित्य है, शाश्वत है, अनादि है। शरीर के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता।

"यदि मारने वाला यह समझता है कि मैंने मारा और मरने वाला यह समझता है कि मैं मर गया तो दोनों गलत हैं। वे दोनों नहीं जानते। न तो कोई किसी को मारता है और न कोई मारा जाता है।

"वह बैठा हुआ है, फिर भी दूर तक पहुँच जाता है। सोया हुआ है, फिर भी सब जगह चला जाता है। आनन्दस्वरूप है और नहीं भी है। उसको मेरे अतिरिक्त कौन जान सकता है? इन सब जड़ शरीरों में वही एक स्थिर है, महान् है, सब जगह व्याप्त है। उसे जान लेने के पश्चात् कोई शोक नहीं रहता।

"यह आत्मा न तो बाह्य वस्तुओं के ज्ञान से प्राप्त होता है, न कर्मानुष्ठान से और न विविध शास्त्रों के अध्ययन से। जिसको यह स्वयं वरता है वही इसको प्राप्त कर सकता है, उसी के सामने यह आत्मा अपने स्वरूप का उद्घाटन करता है।

"जो व्यक्ति दुराचार में फंसा हुआ है, जो अशांत है, जो असमाहित है, जिसका मन अस्थिर है वह ज्ञान के द्वारा भी इसे प्राप्त नहीं कर सकता।

"जिस आत्मा के ब्राह्मण और क्षत्रिय भोजन हैं, मृत्यु जिसका नमक-मिर्च है, उसके अस्तित्व को इस प्रकार कौन जान सकता है?

"यह शरीर रथ के समान है। आत्मा इसका स्वामी है बुद्धि सारथी है। मन लगाम है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं, सांसारिक विषय सड़कें हैं।

"जिसका सारथी समझदार है, लगाम वश में है वही रास्ता पार कर सकता है। वह उच्चतम लक्ष्य पर पहुँच सकता है।

"यह आत्मा सभी प्राणियों में छुपा हुआ है। सूक्ष्मदर्शी लोग अपनी सूक्ष्म और निर्मल बुद्धि से ही उसे देख पाते हैं।

"उस आत्मा को किसी शब्द से नहीं प्रगट किया जा सकता। उसमें न स्पर्श है, न रूप है, न रस है, न गन्ध है। वह अनादि है और अनन्त है। बुद्धि से भी परे है। उसे जानकर मनुष्य मृत्यु के मुख से छूट जाता है।"

एक प्रवचन

भारतीय संस्कृति का प्रहरी

—कविरत्न श्री अमरमुनि जी म०

भारत की संस्कृति भारत के जन-जन के मन-मन की विराट भावनाओं की महान् प्रतीक है, संकेत है। यह संस्कृति संगम की संस्कृति है, मिलन-सम्मिलन की संस्कृति है और मेल-मिलाप की संस्कृति है। संस्कृति का अर्थ मात्र इतना ही न समझें। संगीत, नृत्य व चित्रकला यह सब होकर भी यदि जन-जीवन में सादगी, सद्भाव और परस्पर सहयोग-दान की सहकारी भावना नहीं है तो भारतीय चिन्तन में व भारतीय विचार-मन्थन में उसे संस्कृति कहना एक गुरुतर अपराध होगा। भारत की संस्कृति उस कूप के समान नहीं है, जो अपने आप में बन्द पड़ा रहता है, बल्कि वह गंगा के उस सदावाही विशाल प्रवाह के तुल्य है जो अपने दाएँ-बाएँ सरसता व मधुरता का अक्षय भंडार बिखेरता चलता है व अपनी महान् निधि को मुक्त हाथों लुटाता चलता है, और साथ ही वह इधर-उधर से आ मिलने वाले लघु-लघु-जल-प्रवाहों को अपना विराट रूप भी देता चलता है। भारत की संस्कृति का यह एक महान् संलक्ष्य रहा है कि वह बहुत्व में एकत्व का अधिष्ठान बने, भेद में अभेद का महास्वर झंकृत करे और विरोध में भी विनोद का सुमधुर संगीत अलाप सके।

भारत की पुण्य भूमि पर नए-नए दर्शन आए, नए-नए धर्म आए और नए-नए पन्थ आए; कुछ काल तक उन्होंने अपने अस्तित्व को अलग-अलग रखा किन्तु अन्त में वे सब सह अस्तित्व के वेगवान महा-प्रवाह में विलीन हो गए, एकमेक हो गए—उन सब का एक संगम बन गया—और यही भारतीय संस्कृति है।

भारत की संस्कृति का सजग प्रहरी है—सन्त, मननशील मुनि और श्रम-शील श्रमण। महावीर व बुद्ध के भी पूर्व काल से प्रकाशमान भारतीय संस्कृति का देदीप्यमान नन्दादीप काल की प्रलम्बता के झोंकों से धूमिल भले ही पड़ता रहा हो परन्तु परम्परा से चलती आने वाली सन्तों की विचार-ज्योति से वह उद्दीप्त होता रहा है और उसकी अजस्र प्रकाशधारा आज भी संसार को स्तम्भित व चकित कर रही है। वस्तुतः भारत की संस्कृति का सच्चा स्वरूप सन्त-परम्परा में ही सुरक्षित व सुस्थिर रहा है। भारत का सन्त भले ही

वह किसी भी पन्थ का, किसी भी सम्प्रदाय का और किसी भी परम्परा का क्यों न रहा हो—उसके विचार में, उसकी वाणी में तथा उसके वर्तन में भारतीय संस्कृति का सुस्वर झंकृत होता रहा है। भारत का विचारशील सन्त व्यक्तितः चाहे किसी सम्प्रदाय विशेष में आबद्ध रहा हो, पर विचारों के क्षेत्र में वह लम्बी छलांग भरता आया है।

राजस्थानी सन्त यहां की बोली में बोले। जन-भाषा में उन्होंने अपने विचारों की किरणों को बिखेरा। मीरा का जन्म राजस्थान में हुआ, लालन-पालन भी यहीं हुआ। उसने अपने विचारों की लड़ियों की कड़ियों को राजस्थानी जन-बोली में ही गूंथा। फिर भी मीरा की उदात्त विचारधारा राजस्थान की सीमाओं को लांघकर भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक व्याप्त हो गई, फैल गई। राजस्थानी सन्त भले ही राजस्थान में ही रहे हों, तथापि उनकी आवाज अचल हिमाचल की बुलंदियों से लेकर कन्याकुमारी तक जा गूंजी और राजमहलों के ऊँचे-ऊँचे सोने के शिखरों से लेकर घास-फूस की झोंपड़ियों तक फैल गई, रम गई। यही बात गुजराती, महाराष्ट्री और पंजाबी सन्तों के जीवन पर भी लागू होती है। अतः भारतीय सन्त बंध कर भी बंधा नहीं, घिर कर भी घिरा नहीं, और रुक कर भी रुका नहीं। वह चलता ही रहा, और चलता ही चला गया। किसी ने उसे सुना तो ठीक; अन्यथा वह अपनी मस्ती में मस्त होकर गाता रहा, और उसकी स्वर लहरी इठलाते पवन के झकोरों में प्रसार पाती रही है।

भारतवर्ष का वह एक युग था, जब यहां के विद्वान् व पण्डितजन देव-वाणी में बोलने के नशे में चूर रहते थे। संस्कृत भाषा में भाषण करना वे अपने वंश व कुल की निराली शान समझते थे। महान् हिमालय के उत्तुंग शिखरों से वे जनता को उपदेश और आदेश देते तथा जनता उनके गूढ शब्दों के अर्थ को न समझ कर भी श्रद्धा और भक्ति के नाम पर विनय-विनम्र हो जाती। इस अन्ध विश्वास भरी परम्परा के विरोध में महावीर और बुद्ध ने अपनी आवाज बुलंद की। जन बोली में अपने विचारों का प्रकाश फैलाया और वे जन-जन के जीवन में एकाकार होकर जन-नेता, लोक नायक व जनता के जनार्दन बन गए।

महावीर और बुद्ध की लीक पर पीछे आने वाली सन्त-सेना खूब मजबूत कदमों से चलती रही, जिससे पण्डितों के पैर उखड़ गए। सन्तों ने जनता की आध्यात्मिक नाड़ी को पकड़ा। जनता के जीवन में वे घुल-मिल गए,

और जनता का सुख-दुःख उनका अपना सुख-दुःख बन गया। सन्तों की चिन्तनधारा गहरी और विराट बनी। परन्तु उनकी भाषा जन बोली रही। जन की भाषा में वे सोचते थे, और जनता की बोली में वे बोलते थे। वे विचारों के हिमालय से बोले तब भी जनता ने समझा और आचार के महासागर के तल से बोले तो भी जनता ने उन्हें पहचाना, क्योंकि वे सर्व-साधारण जनता की अपनी जानी-पहचानी बोली में बोलते थे, न कि पण्डितों की तरह अटपटी बोली में। फलतः जनता की श्रद्धा व भक्ति की सरिता का मोड़ मुड़ा और पण्डितों से हटकर सन्त-चरणों में आ टिका। जन जीवन की श्रद्धा और भक्ति का केन्द्र सन्त बन गया।

भारत के महान् सन्तों का जीवन अपने ही अन्तर्बल से पनपा है, उठा है, और चला है। उन्होंने अपने विचारों का प्रचार तलवार की ताकत से नहीं प्रेम की शक्ति से किया है। पण्डितों ने सन्त से पूछा—तेरा शास्त्र क्या है! उत्तर मिला—मेरा चिन्तन और विचार ही मेरा शास्त्र है। मेरा आचार ही मेरा बल और शक्ति है। जन-भाषा ही मेरे शास्त्र की भाषा है। संत ने जो सोचा वह शास्त्र बना, जो बोला वह विधान बना और उसके कदम जिधर चल पड़े वही जन-जीवन की गन्तव्य दिशा बनी। सन्त से पूछा गया—तेरा परिवार, तेरा देश कौन है! नपी-तुली भाषा में उत्तर मिला—जन-जीवन मेरा परिवार है, समाज है और यह सम्पूर्ण संसार मेरा देश है, राष्ट्र है। आचार्य शंकर की वाणी में कह सकते हैं—"स्वदेशो भुवनत्रयम्।" यह सम्पूर्ण सृष्टि ही सन्त का स्वदेश है। सन्त की समतामयी दृष्टि में सब अपना ही है, पराया कौन है उसे! इतनी विराट दृष्टि लेकर चला था भारतीय संस्कृति का सजग प्रहरी भारतीय सन्त समाज।

भारतीय संस्कृति का यह एक महान् जय-घोष है कि अतीत को भूलो मत, वर्तमान को मजबूत हाथों से पकड़ो और भविष्य की ओर तेज कदमों से बढ़ते चलो। अतीत से प्रेरणा लो, वर्तमान से विचार-चिन्तन लो व भविष्यत् से आशा का सुनहला सन्देश लो। हाँ इस बात का जरा ध्यान रहे कि आपके कदम वर्तमान से अतीत में न लौटें; उन में गति है तो आगे की ओर बढ़ें, भविष्यत् की ओर चलें।

(श्री विजय मुनि जी म० के सौजन्य से)

कसौटी

आचार्य क्षितिमोहन सेन के एक रोचक संदर्भ का संक्षिप्त हिन्दी रूपान्तर

किसी समय में एक बुद्धिमान राजा था। उसने अपने पुत्र को सद्शिक्षा के लिए एक तपस्वी गुरु के पास भेजा। गुरु ने प्रश्न किया—तुम शक्तिशाली होना चाहते हो या वीर? यदि शक्ति की कामना है, तो अश्व और शस्त्रों के संचालन में निपुणता प्राप्त करो और अगर वीर बनना है तो अहिंसा, मैत्री, करुणा, विनम्रता और साधना करो, सेवा पारायण बनो।

एक दिन उन सद्गुरु के आश्रम में एक ऐसा व्यक्ति आया, जिसकी राजवंश से परम्परागत शत्रुता थी। परम सेवा पारायण होते हुए भी राजपुत्र अतिथि की सेवा संपूर्ण तत्परता से करने में असमर्थ रहा। इस त्रुटि को ताड़ कर गुरु ने कहा—वत्स, यदि अपनी साधना सार्थक करना चाहते हो, तो इस अतिथि की निर्लिप्त भाव से सेवा करो। राजपुत्र को इस शिक्षा से बड़ी ग्लानि हुई। आवेश में वह अपने पिता के पास पहुँचा—आपने मुझे कैसे गुरु के पास शिक्षा प्राप्त करने के लिए भेजा है। निर्विकार होकर सभी के साथ मैत्री स्थापित एवं सेवा-साधना करने का तात्पर्य क्या हो सकता है भला?

राजा ने परिस्थिति को समझते हुए कहा—इसका उत्तर अभी नहीं दूंगा। समय आने पर यह गुत्थी अपने आप तुम्हारे सम्मुख स्पष्ट हो जाएगी।

एक दिवस राजा अपने पुत्र के साथ सायं भ्रमण के लिए निकले। पर्वत की गोद में घोर अरण्य था। संध्या बढ़ने लगी। सूर्यदेव शनैः शनैः अस्ताचलगामी हो रहे थे। फिर भी फैलते हुए अंधकार की ओर लक्ष्य न करके राजा पुत्र के साथ संभाषण करते हुए आगे बढ़ते ही गए। अंधेरा और भी घना हो गया। दृष्टिमंदता एवं असावधानी के कारण राजा एक शिलाखंड से टकरा गए और एक बहुमूल्य मणि उनके गले से छिटक कर कहीं जा पड़ी। पुत्र ने जब यह जाना तो उसने घोड़े से उतर कर आसपास की सारी मिट्टी कंकड़-पत्थर सहित बटोर कर एक गठरी में बाँध ली।

राजा ने यह देखा, तो साश्चर्य कहा—मणि तो केवल एक ही खोई है, तुम यह व्यर्थ के कंकड़-पत्थर क्यों इकट्ठे कर रहे हो, इन्हें फेंक दो। राजपुत्र ने

उत्तर दिया—तात ! इस समय अंधकार होने के कारण यह पहचानना असंभव है कि कौन सा रत्न है और कौन सा पत्थर ! इसलिए इन सब को बाँध कर ले चलता हूँ । सबेरे सूर्य के प्रकाश में मणि को पहचान कर बाकी पत्थर फेंक दूंगा ।

राजा मुस्कराए और फिर अपने पुत्र को निकट बुलाकर उन्होंने सस्नेह कहा—तुम्हारे पूर्व प्रश्न का यही उत्तर है । असल-नकल का विचार प्रकाश पाने पर ही संभव है । हमें तो प्रत्येक प्राणी के सम्मुख निर्विकार एवं अचल आत्मीयता की वस्तुएँ फैलानी चाहिए । पता नहीं किस रूप में हमारा अन्तर्यामी हमें मिल जाए ! सार्वभौम मैत्री एवं वसुधैव कुटुम्बकम् की यही तो साधना है............ !—

(साप्ताहिक 'भारत' से)

जीवन और मृत्यु

जीवन और मृत्यु वस्तुतः भिन्न-भिन्न नहीं हैं, एक ही व्यापार के दो भिन्न भिन्न नाम हैं। जिस प्रकार एक रुपये के दोनों ओर भिन्न भिन्न प्रकार की छापें होती हैं उसी तरह जीवन और मृत्यु भी एक ही व्यापार की दो अवस्थाएँ हैं।

संसार में दुर्बलता के समान पाप नहीं। सब प्रकार की दुर्बलताओं का त्याग करो। यह दुर्बलता ही पाप और मृत्यु है।

जीवन का अर्थ उन्नति, और उन्नति का अर्थ हृदय-विस्तार है। हृदय-विस्तार अथवा प्रेमभावना दोनों एक ही वस्तु हैं। अर्थात् प्रेम ही जीवन है और प्रेम ही जीवन-नियामक वस्तु है। स्वार्थान्धता अर्थात् मृत्यु। जहाँ स्वार्थान्धता होती है, वहाँ जीवन नहीं टिक सकता। जीवन अर्थात् विस्तार और मृत्यु अर्थात् संकोच। अथवा दूसरे शब्दों में प्रेम को जीवन और द्वेष को मृत्यु कह सकते हैं। जब तक कि हमारा हृदय उदार और विशाल है तब तक मृत्यु की शक्ति नहीं कि वह हमको स्पर्श कर सके।

—'जैन प्रभात'

हम सौ वर्ष जी सकते हैं !

—श्री देवेन्द्र कुमार जैन शास्त्री

सुयोग्य रीति से जीवन यापन करना भी एक कला है। वह एक संग्राम है, जिसमें बड़ी-बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है; अथवा कहिये एक यन्त्र है, मशीन है जो बिना किसी रुकावट के अनवरत अपना काम करती रहती है। इसी प्रकार यदि हमारा शरीर भी सौ वर्ष तक उचित रीति से काम करता जाए तो इसमें क्या आश्चर्य ? पर जब हमारी मानसिक तथा शारीरिक अवस्थाएं ठीक हों तब न ? तो अब हमें अधिक दिन तक उसे टिका रखने के लिये विविध उपाय काम में लाने पड़ेंगे। सर्वप्रथम तो यह कि हमें दवाओं से दूर रहना होगा। क्या आप दवाओं को रोग दूर करने के लिये आवश्यक मानते हैं ? यदि हाँ, तो आप भ्रम में हैं, आप की यह धारणा गलत है। दवाएँ रोग दूर करती हैं, इसका आधार यही है कि द्रव्यौषध जैसा निष्क्रिय पदार्थ मानव तन पर अपना कार्य करने की क्षमता रखता है। पर यह सिद्धान्त निराधार हो चुका है, क्योंकि भीतर के अंगों में ही वह क्रिया पाई जाती है, जिसके बल पर शरीर लाभ होता है। यदि आप कोई रेचक दवा रोगी को देते हैं तो वह दवा काम नहीं करती, बल्कि दवा पहुँचने से आँत ही, जो पहले से अपना काम धीमी गति से जारी किये थी, उसे उछाल देती है और इस प्रकार मल का धीरे-धीरे निष्कासन हो जाता है। उदाहरण रूप में खाँसी या जुकाम हो जाने पर शरीर अपनी सफाई चाहता है तथा दो-तीन दिन तक कुछ न खाने से स्वयमेव जुकाम ठीक होता देखा गया है। अतः कहने का अभिप्राय यह है कि रोग होने का प्रधान कारण आहार की अव्यवस्था तथा अच्छा होने का कारण अङ्गों को विश्राम तथा भोजन में परिवर्तन करना ही है। इस तरह सौ वर्ष तक जीना कोई बड़ी बात नहीं है। वैज्ञानिकों ने भी इस विषय में अधिक छानबीन करने के उपरान्त यह तत्त्व पाया है कि मनुष्य को बेहोश कर देने पर औषधोपचार से कुछ काम नहीं निकलता। इसीलिये उनका दावा है कि मनुष्य १०० से लेकर २०० वर्ष तक जी सकता है। बुढ़ापा जैसा कोई रोग नहीं है। मानसिक तथा शारीरिक दुर्बलता का ही दूसरा नाम बुढ़ापा है। शरीर के कोषाणु

नित्य बदलते रहते हैं, जिससे वह नया बना रहता है। परन्तु जब इन्हीं कोषों में अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है तो रोग का रूप बन जाता है। चिकित्सकों का यह कथन किसी हद तक ठीक कहा जा सकता है। पर हमें प्रकृति से प्रेम करना सीखना होगा, उसे अपनाना होगा। पंचभूत महातत्त्वों से इस शरीर का निर्माण हुआ है और उन्हीं पृथ्वी, जल, वायु आदि से हम शरीर की सुरक्षा कर सकते एवं उसे दुर्गति से बचा सकते हैं। पूज्य गाँधी जी इसी आधार पर अपने आप को १०५ वर्ष तक जीने के लिये कहा करते थे। इसलिए अपने खान-पान में सुधार कर लेने पर तथा नित्य थोड़ा सा श्रम करने पर आप १०० ही नहीं अपितु उसके आगे भी जी सकते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं।

रोग को समझ लेने पर कि क्यों होता है? उसकी जड़ क्या है? हम अपने को बुढ़ापे से बचा सकते हैं। मनुष्य का जो प्रतिदिन का आहार है, वह ठीक तौर से पच नहीं पाता और थोड़ा-थोड़ा करके एकत्र होता जाता है। इसीलिए तो हमारे ऋषि-महर्षियों ने उपवास का विधान किया है, जो बिल्कुल ठीक है। आम तौर से देखा जाता है कि लोग उपवास का अर्थ नहीं समझते। उपवास का अर्थ वे यही लगाते हैं कि थोड़ा-हल्का भोजन एवं फल-फूल लेना ही उपवास है। पर ऐसा नहीं, उपवास के दिन तो कुछ भी नहीं लेना चाहिये। हाँ, पानी चाहे जितना पिया जा सकता है। लोग समझते हैं कि इससे कमजोरी आ जाती है, यह उनका भ्रम है। उपवास करने से शरीर में हल्कापन तथा स्फूर्ति तो अवश्य आ जाती है, पर कमजोरी नहीं। उपवास के बाद यह ध्यान रखना आवश्यक है कि थोड़ा-थोड़ा ही करके भोजन की मात्रा बढ़ाएँ, नहीं तो फिर रोग आने की आशंका हो जाती है। तब आप कुछ दिनों बाद देखेंगे कि उपवास के पूर्व की अपेक्षा अब हमारा शरीर अधिक स्वस्थ एवं तन्दुरुस्त है। भोजन सादा तथा सात्विक होना चाहिए, फल और तरकारियों का अधिक प्रयोग करना चाहिए, क्योंकि इनसे स्वास्थ्य के संरक्षण में अधिक सहायता मिलती है। एक बात और ध्यान देने की है कि जहाँ तक बने पके फल या तरकारियों को कच्चा काटकर ही खाएँ।

प्रायः लोगों की यह धारणा है कि अधिक खाने से शरीर बलिष्ठ तथा शक्तिवान होता है। पर जितने भी आयुष्य महापुरुष हुए सब मिताहारी

थे। और फिर यह सिद्ध हो चुका है कि लोग कम भोजन करने से उतने अधिक नहीं मरते जितने कि अधिक भोजन करने से। मन का भी शरीर पर बहुत प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि जिस दिन महात्मा गाँधी जी को अधिक काम या बेचैनी होती थी, उपवास कर लेते थे। इस प्रकार यदि हम चाहते हैं कि सौ वर्ष जिएँ तो आज से अपने जीवन में खुशमिजाजी एवं निश्चिन्तता को स्थान दें अर्थात् हँसना तथा प्रसन्न रहना सीखें। हास्य सौ रोगों की एक दवा है। इससे फेफड़े साफ होते हैं, मानसिक क्लान्ति दूर होती है तथा रक्त का संचालन ठीक तौर से होने लगता है, जिससे शरीर हरा-भरा सा रहता है। तभी तो कहा जाता है कि मन का और शरीर का अभिन्न संबन्ध है। इस तरह हम देखते हैं कि जीवन की गतिविधि को बनाने तथा बिगाड़ने वाले हम ही हैं।

जाको राखे साइयाँ !

(१)

शैल पर खिलते कुसुम-दल,
पंक में परिरम्य शतदल;
हर्ष से वह लहलहाता—
यह कृपा भगवान की है!

(२)

काम कर पाता न अजगर,
चीटियाँ लेतीं उदर भर;
सिंह विकल यों छटपटाता—
यह कृपा भगवान की है!

(३)

पार कर जाता समुन्दर,
एक तिनके को पकड़ कर,
डूबता यों मुस्कुराता—
यह कृपा भगवान की है।

(४)

ज्ञान से परिपूर्ण मानव,
क्षुधित हो करता तमस रव;
नित्य खग पर अन्न पाता—
यह कृपा भगवान की है।

—श्री रोहिणीकान्त देव

रामकृष्ण मिशन के संस्थापक

स्वामी विवेकानंद

—श्री शीतलचंद चटर्जी

स्वामी विवेकानंद का जन्म १२ जनवरी सन् १८६३ ई० को हुआ था। इनका पूर्व नाम नरेन्द्रनाथ दत्त था। श्री रामकृष्ण परमहंस के संपर्क में आने के बाद नरेन्द्रनाथ विवेकानन्द बन गए और फिर इन्होंने सारे संसार को सेवा और त्याग का संदेश दिया।

स्वामी जी जाति-धर्म का भेद नहीं मानते थे। उनके हृदय में दुखियों के प्रति अपार दया थी। इसीलिए स्वामी जी ने रामकृष्ण मिशन जैसी संस्था स्थापित की। यह संस्था आज भी अपनी सेवा और त्याग के लिए प्रसिद्ध है। स्वामी विवेकानन्द अधिक समय तक जीवित न रहे। उनकी मृत्यु ३१ वर्ष की अल्पायु में ही हो गई। लेकिन इतनी कम अवस्था में स्वामी जी ने जो कार्य किये, जो उपदेश दिये और जो ग्रन्थ लिखे, वे संसार के लिए अनमोल निधि हैं।

स्वामी जी के प्रमुख संदेश ये हैं—

(१) छल और कपट से कोई महान् कार्य संपन्न नहीं हो सकता। प्रेम और सत्यानुराग की सहायता से सभी कार्य सहज हैं।

(२) जब कि ईश्वर प्रेम रूप में सर्वभूत प्रकाशमान है तब तुम काल्पनिक भगवान को क्यों पूजते हो ? वेद, कुरान, पुराण सब कुछ दिन के लिए विश्राम के लिए छोड़ दो और प्रत्यक्ष भगवान दया एवं प्रेम की पूजा देश में होने दो।

(३) जो दरिद्र, दुर्बल और रोगी आदि सब में भगवान को देखते हैं, वही यथार्थ में भगवान की उपासना करते हैं। जो केवल प्रतिमा की ही उपासना करते हैं, वे प्रवर्तक मात्र हैं। जो व्यक्ति जाति-धर्म को छोड़ कर एक दरिद्र रोगी की भी उसे शिव समझ कर सेवा करता है, वह वस्तुतः भगवान की ही सेवा करता है।

(४) जीवन क्षण-स्थायी है। धनवानों की आशा तो प्रायः मृग-मरीचिका के समान और उसका भोग क्षण-भंगुर है। वास्तव में वही जीवित है जो पर-उपकारार्थ जीवन यापन करते हैं। अवशिष्ट जीवित रह कर भी मृत हैं।

(५) मेरा मिशन है—अनाथ, दरिद्र, मूर्ख, अज्ञानी, लंगड़े, लूले और अन्धों के लिए। पहले उनके लिए और फिर यदि समय बचता है तो अन्य के लिए।

(६) मैं भक्ति-मुक्ति की अपेक्षा नहीं करता। परोपकार करने में यदि मैं हजार बार नर्क में जाऊँ तो भी मैं प्रस्तुत हूँ। यही मेरा धर्म है। वही महान् है, जो इस महान् कार्य के लिए अग्रसर है।

स्वामी जी के उपरोक्त वाक्य आज भी संसार के लोगों के हृदय में घर किये हुए हैं और उनके कर्तव्य का स्मरण करा रहे हैं। स्वामी जी ने दीन-दुखियों की सेवा का उपदेश दिया था, महात्मा गांधी ने भी यही कहा। वास्तव में सेवा मार्ग ही मुक्ति का मार्ग है। सेवा ही सुख का साधन है, सेवा ही जीवन है। अतः हमारा यह परम कर्तव्य है कि हम दुखी जनों की सेवा के लिए सदा तत्पर रहें और उनकी यथाशक्ति सहायता करें।

सन्त मोक्ष मार्ग हैं और कामी भव-पंथ।

—रामायण

नेता की एक पार्टी होती है, सन्त अकेला होता है। नेता का बल उसका दल होता है, सन्त का बल उसका निर्बल दिल होता है।

—हरिभाऊ उपाध्याय

सन्त सौ युगों का शिक्षक होता है।

—एमर्सन

मन-निग्रह

—श्री अभय मुनि जी महाराज

मन कैसे निग्रह किया जाय ? चित्त वृत्तियों का निरोध कैसे हो ? यह प्रश्न हजारों वर्ष पूर्व से लेकर आज तक ज्यों का त्यों चला आ रहा है। जिस साधक ने मन पर अधिकार जमा लिया, उसने आत्मा में होने वाले बड़े-बड़े चमत्कार देखे और संसार में वही आत्मा योगी, सन्त, महात्मा, अवतार, पीर, पैगम्बर और परमात्मा के नाम से प्रसिद्ध हो गया ।

धर्म ग्रन्थों के अध्ययन से पता चलता है कि हर साधक ने अपने गुरु से यह प्रश्न किया और गुरु ने उसे अपना अनुभव बता कर शान्त किया ।

आज से लगभग २५०० वर्ष पूर्व भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा का नेतृत्व करने वाले आचार्य केशी स्वामी और चरम-तीर्थंकर भगवान् महावीर के संघ की परिवृद्धि करने वाले गणधर इन्द्रभूति 'गौतम' तथा इन दो महर्षियों के आज्ञानुवर्ति शिष्यों का एक सम्मेलन श्रावस्ती नगरी में हुआ था । वहाँ आचार्य केशी ने गणधर गौतम से कई एक तात्त्विक प्रश्न किये थे । उनमें एक प्रश्न मन संबन्धी भी था जो इस प्रकार है—

"महाउद्धत भयंकर शक्ति वाला, दुष्ट स्वभाव का अडियल घोड़ा जिसका लक्ष्य अपने सवार को गिराकर हड्डी पसली तोड़ना और स्वयं स्वच्छन्द होकर यथेच्छा घूमना है, ऐसे स्वभाव वाले घोड़े की तरह, इस मन की गति है। ऐसे विशाल शक्ति पुंज मन को बड़े बड़े महारथी, कोटी भट्ट, चक्रवर्ती भी अपने वश में न कर सके पर आपने इसे कैसे वश में कर लिया है ? कृपया अपना अनुभव सुनाइये ।"

गौतम ने कहा—हे केशी ! मैंने इसे निरन्तर शास्त्र-चिन्तन, मनन में डाल दिया ।[1] बार बार शास्त्र चिन्तन अर्थात् धार्मिक शिक्षा[2] देने से, मन के निन्दा, विषय, कषाय और प्रमाद रूपी दुष्ट संस्कार धीरे-धीरे नष्ट हो गए

[1] सुयरस्सी समाहियं उ० आ० २३ [2] धम्म सिक्खाइ कन्थगं

और उन कर्म जन्य संस्कारों के नष्ट होने से अन्तरंग में दिव्य ज्योति प्रकट हो गई। अब यह उस दिव्य ज्ञान में ही लीन रहता है, जिससे मेरा ज्ञान, ध्यान, समाधि, शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ रही है। अब इस समाधि के समक्ष संसार के भोग-सुख तृणवत् तुच्छ प्रतीत होते हैं। जो लोग इन तृणवत् भोगों को जीवन का केन्द्र बिन्दु मान कर चल रहे हैं, उन पर मुझे दया आती है। केशी! बहुत से साधक इसे हठयोग से स्वाधीन करना चाहते हैं। पर वह मार्ग एक तो हर व्यक्ति के लिए सुगम नहीं; दूसरे कई बार साधक को उससे हानि उठानी पड़ती है। और जो कार्य सुगम उपायों से हो सकता है उसके लिए कठिन मार्ग में जाना बुद्धिमानी नहीं। केशी! यह मेरा अपनाया हुआ मार्ग चिरस्थायी है, प्रशस्त है, सिद्धिप्रद है, क्योंकि यह मार्ग परम तीर्थंकर भगवान महावीर का बतलाया हुआ है। उनके विशाल ज्ञान का अनुभव है।

गौतम ने उत्तर को संकुचित करते हुए कहा—केशी! तुम्हें विदित ही है कि श्रुत ज्ञान एक विशाल रत्नाकर है जिसमें गोता लगाने से अर्थात् ध्यान लगाने से नाना प्रकार के अमूल्य रत्न निकल आते हैं। पर बिना कनक कामिनी से वैराग्य हुए, संसार के आकर्षणों से अनासक्त हुए श्रुत ज्ञान में ध्यान नहीं जमता। अतः मन स्वाधीन करने के लिए ज्ञान में ध्यान, और विषयों में वैराग्य की आवश्यकता है।

जिस तरह टूटे छप्पर में बारिश घुस जाती है, उसी तरह गाफिल मन में तृष्णा दाखिल हो जाती है।

—अज्ञात

जब तक मन अस्थिर और चंचल है तब तक किसी को अच्छा गुरु और साधु लोगों की संगति मिल जाने पर भी कोई लाभ नहीं होता।

—रामकृष्ण परमहंस

मन ही मनुष्यों के बंधन और मोक्ष का कारण है। जिसने अपनी देह और धनधाम में आपा ठाना वह बंधुआ है; जिसने इनको मिथ्या समझ लिया वही मोक्ष को प्राप्त हुआ।

—सर्वोपनिषद

प्राचीन पुस्तकालयों में

पुस्तकों की व्यवस्था

–श्री महेन्द्र राजा एम० ए०

(अगस्त अंक से आगे)

पिछले लेख में मैंने कहा था कि पुस्तकालय विज्ञान की आधुनिक व्यवस्था प्रणाली का प्रमुख उद्देश्य यही है कि ठीक समय पर पाठक को अपनी आवश्यकता की ठीक पुस्तक मिल सके। The right book at the right time to the right reader. प्राचीन पुस्तकालयों में इसके विपरीत पुस्तकों की न तो कोई व्यवस्था ही रहती थी और न पाठकों को उनसे विशेष लाभ ही मिलने पाता था।

पुस्तकों का वर्गीकरण और पुस्तक-सूची पुस्तकालय के दो प्रधान अंग हैं। पुस्तकालय में उपलब्ध पुस्तकों का जितना ही सुन्दर एवं सुव्यवस्थित वर्गीकरण होगा, पाठकों को अपनी आवश्यकता की पुस्तकें पाने में उतनी ही आसानी होगी। पुस्तकों का वर्गीकरण करने के कई ढंग हैं। आधुनिक पुस्तकालय विज्ञान की स्थापना के पूर्व पुस्तकों के वर्गीकरण के कई ढंग थे। कुछ पुस्तकालयों में पुस्तकें उसी क्रम से आलमारियों में रखी जाती थीं जिस क्रम से वे पुस्तकालय में आती थीं। इस ढंग से पुस्तकें रखने में किसी भी प्रकार के वर्गीकरण की आवश्यकता नहीं होती थी। और यह ढंग बहुत ही आसान था। इस प्रणाली को अपनाने के लिए किसी अनुभवी एवं विद्वान पुस्तकाध्यक्ष की भी आवश्यकता नहीं होती थी। थोड़ा पढ़ा-लिखा कोई भी व्यक्ति पुस्तकों को इस ढंग से सम्हाल सकता था। वस्तुतः देखा जाय तो पुस्तकों की व्यवस्था का यह ढंग सबसे गलत ढंग था। इससे पुस्तकाध्यक्ष के समय का अपव्यय तो होता ही था पर पाठकों का भी कुछ कम समय नष्ट नहीं होता था। यह तो आप स्वयं ही सोच सकते हैं कि जिस पुस्तकालय में पुस्तकें आगमन क्रमाङ्क (Accession Number) के अनुसार आलमारियों में रखी जाती होंगी, वहाँ पुस्तक-सूची भी इसी क्रम से बनती होगी। इस प्रकार की पुस्तक-सूची पाठकों के लिए किसी भी प्रकार लाभदायक नहीं हो सकती थी। क्योंकि किसी

भी एक पुस्तक का पता लगाने के लिए पाठक को पूरी की पूरी सूची देखना पड़ती थी। क्या पता, उसकी ऐच्छिक पुस्तक का नाम सूची के अंत में ही हो। और ऐसी स्थिति में जब तक वह पूरी सूची नहीं देखेगा तब तक उसे अपनी पुस्तक का क्रमाङ्क मिलेगा ही नहीं।

पुस्तकों के वर्गीकरण का दूसरा ढंग लेखकवार वर्गीकरण था। इस वर्गीकरण के अनुसार लेखकों के नामों के अनुसार पुस्तकों का वर्गीकरण किया जाता था और आलमारियों में पुस्तकें भी इसी क्रम से रखी जाती थीं। पुस्तकों के वर्गीकरण का यह ढंग भी दोषपूर्ण था। क्योंकि जिस पुस्तकालय में पुस्तकों का वर्गीकरण इस ढंग पर होता था, वहां पुस्तक-सूची भी इसी ढंग से बनती थी। इस प्रकार के वर्गीकरण एवं पुस्तक-सूची से सबसे अधिक असुविधा उन पाठकों को होती थी जो अपनी ऐच्छिक पुस्तक को नाम तो जानते थे पर पुस्तक के लेखक के नाम का उन्हें पता नहीं था। अतः अपनी ऐच्छिक पुस्तक का पता लगाने के लिए उन्हें भी वही करना पड़ता था जो आगमन-क्रमाङ्क के अनुसार व्यवस्थित पुस्तकों के पुस्तकालय में। अर्थात् उन्हें भी पूरी सूची देखना पड़ती थी। मान लीजिए यदि उस पुस्तकालय में मात्र १००० पुस्तकें भी हुईं तो केवल इनका नाम मात्र पढ़ने में ही उसे कम से कम एक घण्टे का समय लगेगा। यह भी संभव है कि उसकी पुस्तक का जो नाम हो, उसी नाम की कोई दूसरी पुस्तक भी हो। उदाहरण के लिए, कोई पाठक 'पैसा' नामक पुस्तक चाहता है। यह एक उपन्यास है। अब वह पुस्तक-सूची में ज्यों ही किसी पुस्तक का नाम 'पैसा' देखता है, वह उसका क्रमाङ्क नोट कर लेता है और पुस्तकाध्यक्ष से उस पुस्तक को मांगता है। जब उसे पुस्तक मिलती है तो उसे निराश होना पड़ता है, क्योंकि वह पुस्तक वही नहीं है जो कि वह चाहता था। वह तो अर्थशास्त्र विषय की पुस्तक है। अब वह पुनः पुस्तक-सूची में अपनी 'पैसा' नाम की पुस्तक तलाश करता है। कुछ देर बाद वह पुनः एक पुस्तक का नाम देखता है। वह उसका नंबर नोट कर पुनः पुस्तकाध्यक्ष से वह पुस्तक मांगता है पर इस बार भी उसे निराश होना पड़ता है, क्योंकि इस बार उसे जो पुस्तक मिलती है, वह कोई उपन्यास नहीं, वरन एक कहानी–संग्रह है, जिसमें 'पैसा' नामक एक कहानी है और जिसका नामकरण भी इसी कहानी के आधार पर किया गया है। अब वह पुनः पुस्तक सूची देखता है और कुछ समय बाद उसे एक पुस्तक का नाम 'पैसा' फिर मिलता है। वह पुनः पुस्तकाध्यक्ष को उस

पुस्तक का क्रमाङ्क बतलाता है; पर अबकी बार भी जब पुस्तक उसके सामने आती है तो उसे फिर निराश होना पड़ता है क्योंकि इस बार उसे जो पुस्तक मिलती है, वह उसका ऐच्छिक उपन्यास नहीं, वरन् एक कविता-संग्रह है जिसमें वर्ग-संघर्ष एवं मजदूरों पर आधारित कुछ कविताएँ हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि तीन बार पाठक को निराश होना पड़ता है। अब वह पुनः अपनी पुस्तक का नाम सूची में देखता है। संभव है कि पूरी सूची देख चुकने के पश्चात् उसे अपनी पुस्तक का नाम ही न मिले। या मिले भी तो वह किसी अन्य विषय की पुस्तक हो।

अतः पुस्तकों की इस प्रकार की व्यवस्था एवं वर्गीकरण पाठक के लिए किसी भी प्रकार लाभदायक नहीं। पुस्तकालय की व्यवस्था का प्रमुख उद्देश्य पाठक के समय का बचाव होना चाहिए।

कुछ पुस्तकालयों में पुस्तकों को उनके आकार-प्रकार तथा कुछ पुस्तकालयों में जिल्द के रंग के अनुसार व्यवस्थित किया जाता था। पर ये दोनों ढंग भी उसी प्रकार लाभहीन एवं पाठकों का समय नष्ट करने वाले थे जैसे कि पूर्वोक्त दो ढंग। आजकल भी भारत के अनेक पुस्तकालयों में उपरोक्त वर्णित ढंगों में से किसी एक ढंग के आधार पर पुस्तकें व्यवस्थित रहती हैं। इनमें पाठकों के समय का अपव्यय तो होता ही है, पुस्तकाध्यक्ष का भी कम समय नष्ट नहीं होता।

भारतीय पुस्तकालयों में पुस्तकों को इस प्रकार रखने का उद्देश्य यही जान पड़ता है कि प्राचीन काल में पुस्तकालयों में पुस्तकें उपयोग के लिए नहीं वरन संग्रह के लिए रखी जाती थीं। उनका उपयोग जनसाधारण के लिए सर्वथा वर्जित था। पुस्तकें धनीमानी व्यक्ति ही रखते थे और वे विलास एवं शान-शौकत की वस्तुएँ मानी जाती थीं। आज भी हमारे यहां बहुत से पुस्तकालयों में ऐसी पुस्तकें रखी जाती हैं, जो पाठकों को पढ़ने के लिए नहीं दी जातीं। ऐसे पुस्तकालय वस्तुतः पुस्तकालय नहीं पुस्तकों के 'भंडार' मात्र हैं। आधुनिक पुस्तकालय एवं पुस्तकाध्यक्ष का पहला उद्देश्य यही रहता है कि पाठकों को कम से कम समय में अधिक से अधिक पुस्तकें मिल सकें। और इस कार्य के लिए वहां अच्छी से अच्छी व्यवस्था रखने का प्रयत्न किया जाता है।

(क्रमशः)

विद्याश्रम समाचार

अलवर में पर्युषण

अबकी अलवर श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन संघ के मंत्री श्री रतनलाल जी सचेती के आमंत्रण पर मैं पर्युषण पर्व में व्याख्या देने वहाँ गया। पर्युषण पर्व ता० १३ से २० सितम्बर तक आठ दिन मनाए गए। प्रतिदिन प्रातः ७॥ से ९ बजे तक अन्तगड़ सूत्र का और दोपहर बाद २ से ३॥ बजे तक श्री उत्तराध्ययन के कथानक अध्ययनों का व्याख्यान में वाचन होता था। सभी भाई-बहनों, नौजवानों तथा बच्चों तक में उत्साह और धर्मप्रेम बड़ा सराहनीय पाया गया। उपवास से लेकर अठाई व नौ तक की तपस्या की गई। स्वयं श्री रतनलाल जी और श्री कपूरचन्द जी आदि ने अठाई की तपस्या की। बहनों ने तो तपस्या में खूब उत्साह दिखाया। अन्तिम पर्युषण संवत्सरी महापर्व के दिन प्रातः ७॥ से १२॥ बजे तक व्याख्यान-भाषणादि का रुचिर कार्यक्रम चलता रहा। जिसमें नौजवानों ने भी भाग लिया।

अलवर के श्री जैनसंघ में मैंने कुछ विशेषताएँ ऐसी पाईं, जो अन्य जगह कम मिलती हैं। श्री चाँदमल जी पालावत, श्री खुशालचन्द जी सचेती आदि स्थविर श्रावक अच्छे तत्त्वज्ञ और धर्मज्ञ हैं। श्री नानकचन्द जी व श्री रतनलाल जी सचेती आदि उत्साही समाज सेवक हैं। बुजुर्गों में समय-धर्म को पहचान कर चलने और नौजवानों में उनके प्रति आदरभाव की भावना अलवर के जैन समाज में विशेष रूप से देखने को मिलती है। अलवर में 'महावीर भवन' के नाम से जो धर्म स्थान बना है, वह हर दृष्टि से आधुनिक है। भवन विशाल व आकर्षक होने के साथ हर तरह से सुख-सुविधा जनक है। साथ में छोटी सी सुन्दर वाटिका है। बिजली का पम्प लगा है। जैन मोहल्ले के पास होने से साधु-सन्तों के लिए तो यह स्थान बहुत ही अनुकूल है।

मेरा विचार ता० २२ को प्रस्थान करने का था। श्री जैन युवक संघ के आग्रह के कारण एक रात और ठहरना पड़ा। २२ ता० की शाम को अभिनन्दन-समारोह रखा गया था। अन्यत्र प्रकाशित अभिनन्दन पत्र के देखने से पता चल सकेगा कि यहाँ का समाज शिक्षणादि प्रवृत्तियों के प्रति कितना जागरूक और आदरशील है। इस समारोह के अवसर पर कई सज्जनों ने अपने हृदय के भाव बड़े सुन्दर रूप में रखे थे। जलपान की

व्यवस्था भी बड़े अच्छे रूप में की गई थीं। श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम बनारस की प्रवृत्तियों के प्रति यहाँ के भाइयों और नौजवानों में विशेष आदरभाव पाया गया। जो सज्जन ३०) रु० वार्षिक के सदस्य बने हैं, उनकी शुभ नामावली इस प्रकार है—

१ श्री चन्दनमल जी चाँदमल जी, २ श्री चाँदमल जी महावीर प्रसाद जी, ३ श्री खुशालचन्द जी ज्ञानचन्द जी, ४ बाबू नानकचन्द जी पालावत, ५ श्री रतनलाल जी सचेती, ६ डॉ० प्यारेलाल जी, ७ श्री अभयकुमार जी बोहरा, ८ श्री गूजरमल जी सचेती, ९ श्री ताराचन्द जी पारख।

इन सभी महानुभावों और अलवर के समस्त श्री जैन संघ को मैं हृदय से साधुवाद देता हूँ; जिन्हों ने थोड़े से परिचय में ही अपने अपार प्रेम-भाव की वर्षा की है। —कृष्णचन्द्राचार्य

श्री वीर-गौतमाय नमः।

श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम के अधिष्ठाता,

श्रद्धेय पं० श्री कृष्णचन्द्राचार्य जी की सेवा में सादर समर्पित

अभिनन्दन पत्र

मान्यवर !

साधन सम्पन्न होते हुए भी जैन समाज शिक्षा के क्षेत्र में अत्यधिक पिछड़ा हुआ है, और आज के प्रगतिशील युग में किसी भी अशिक्षित समाज का उन्नति कर सकना असंभवप्राय है। आपकी दीर्घदृष्टि से यह सत्य छुप न सका, और आपने पंजाब प्रान्त में **'श्री जैनेन्द्र-गुरुकुल पंचकूला'** की स्थापना कर शिक्षा के क्षेत्र में नवजागृति और चेतना का संचार किया है। भारत-विभाजन के उस संक्रमण काल में इस संस्था ने संप्रदायवाद से दूर रहकर शुद्ध राष्ट्रीयता एवं मानवता की दृष्टि से जो कार्य किया है, वह महान ही नहीं, भारतीय संस्कृति एवं परंपरा का परिचायक भी है।

विद्वद्वर्य !

महान जीवन उस पुष्प की तरह होता है, जो स्वयं मुखरित होकर अपनी मधुर सुगन्ध से चारों दिशाओं को सुरभित करता है। आपका महान कर्मठ

एवं क्रियाशील मस्तिष्क इस सफलता को पाकर कब चुप रह सकता था ? अतः आपने साहित्यिक साधना की अमर नगरी बनारस में **'श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम'** की स्थापना में सक्रिय सहयोग देकर जैन समाज के लिए साहित्य एवं दर्शन की उच्चतम शिक्षा प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त कर दिया है। आपके सुयोग्य संचालन में यह संस्था उत्तरोत्तर उन्नति कर रही है।

आदरणीय महानुभाव !

युग के प्रभाव को देखते हुए समाज एक योग्य पत्र के प्रकाशन की आवश्यकता अनुभव कर रहा था। आपने विद्याश्रम के मुखपत्र के रूप में **'श्रमण'** का प्रकाशन कर इस कमी की पूर्ति कर दी है। आपके योग्य संपादकत्व में इस पत्र ने जो प्रसिद्धि प्राप्त की है, उसकी समस्त देश में मुक्तकंठ से प्रशंसा की जा रही है।

सुज्ञवर !

आपकी प्रकांड विद्वत्ता एवं दूरदर्शिता की चर्चा हम सुन रहे थे, किन्तु परम सौभाग्य से बुद्धिबल के साथ, सादगी एवं सरलता के प्रतीक आपके दर्शनों से हम अपने को गौरवान्वित अनुभव कर रहे हैं। और करबद्ध हम, श्री जिनेश्वर देव से प्रार्थना करते हैं कि आपके सफल मार्ग प्रदर्शन में जैन समाज उत्तरोत्तर उन्नति के पथपर अग्रसर हो।

'महावीर भवन'
दिनांक २२ सितम्बर
१९५५

हम हैं आपके आभारी
सदस्यगण श्री जैन युवक संघ
अलवर (राजस्थान)

श्री आत्मानन्द जैन महासभा पंजाब द्वारा स्वीकृत

महत्त्व पूर्ण प्रस्ताव

श्री आत्मानन्द जैन महासभा पंजाब का १८ वां वार्षिक अधिवेशन १०, ११ सितम्बर को मालेरकोटला में जैन कालेज भवन में ला० ज्ञानदास जी जैन बिजज (प्रथम श्रेणी) की अध्यक्षता में हुआ। अध्यक्ष महोदय का शानदार जलूस निकाला गया। विदुषी साध्वी श्री मृगावती जी के प्रवचन तथा प्रोफ़ेसर पृथ्वीराज जैन, श्री निधान सिंह आलम और श्री यू० आर० बागावत M. P. के भाषण हुए। प्रोफ़ेसर पृथ्वीराज जी और ला० नाजरचंद जैन

प्रबंध से एक जैन साहित्य व कला की प्रदर्शिनी दिखाई गई। प्रदर्शिनी का उद्घाटन दानवीर ला० रामजीदास जिन्दल ने किया। निम्न प्रस्ताव स्वीकृत हुए :—

१—स्व० आचार्य श्रीमद् विजयवल्लभ सूरि जी का स्मारक दिल्ली में बनाया जाए। स्मारक में समाधि भवन के साथ साथ पुस्तकालय, संग्रहालय, कलागृह, प्रकाशन और रिसर्च के कार्य का प्रबंध किया जाए।

२—साधनहीन छात्रों व निराश्रित विधवाओं की सहायतार्थ फंड दृढ़ किया जाए।

३—युवकों के समाज सुधार संबंधी आन्दोलन को प्रोत्साहित किया जाए और समाज से प्रेरणा की जाए कि वह दहेज़ (dowry) की मांग व दिखावे को बन्द करें।

४—आचार्य श्री जी का स्मृति दिवस प्रतिवर्ष भाई दूज को उनके जन्मदिन पर मनाया जाए।

५—जैन साधु साध्वियों से प्रार्थना है कि वे वर्तमान समस्याओं को दृष्टि-सन्मुख रहते हुए अपना संगठन और दृढ़ करें और जैन मात्र को एकता के सूत्र में बांधने का प्रयत्न करते हुए समाज में व्याप्त कुरीतिओं को दूर करने का उपदेश दें।

६—जैन सिद्धांतों के अनुसार जैन मन्दिर सभी व्यक्तियों के लिए देश, जाति या व्यवसाय आदि के भेदभाव के बिना खुले हैं और वे भगवद्-दर्शन के लिए आ सकते हैं।

७—आचार्य श्री समुद्रसूरि को पंजाब पधारने की अभिलाषा के प्रति कृतज्ञता का प्रकाश तथा मुनि पुण्य विजय जी आदि पंजाब प्रेमी, विद्वान्, समाज सुधारक मुनिराजों को पंजाब पधारने की विनती।

८—महासभा के नवीन विधान को रजिस्टर्ड कराया जाए।

९—साहित्य-विद्या प्रेमी श्री विद्याविजय जी व श्री ज्ञानसुन्दर जी, मु० श्री विचारविजय जी व श्री नीतिविजय जी के देवलोक गमन पर हार्दिक दुःख का अनुभव व अमर शान्ति के लिए प्रार्थना।

—पृथ्वीराज जैन, एम० ए०



ओ युवक !

इन पंक्तियों के लिखते हुए मैं तुम्हारा ही विचार कर रहा हूं। तुम जिसे कि मैं जानता नहीं; यद्यपि मैं यह जानता हूं कि तुम अभी युद्ध से आहत होकर लौट आए हो। मैंने तुम्हें गली-गली में भटकते हुए देखा है—अपने लज्जित से चेहरे के पीछे अपनी असमर्थता को छिपाने की चेष्टा करते हुए—लेकिन मैंने तुम्हारी अन्तर्वेदना की तीव्रता पढ़ ली है। मैं जानता हूं कि तुम किस भयंकर काल से गुजर रहे हो और मैं यह भी जानता हूं कि एक सी ही यातना सहने वाले लोग, एक सी ही आत्मा लेकर निकलते हैं......तुम्हारी आशंकाओं को मैं जानता हूं, तुम्हारी अशान्ति का मैं साझीदार हूं।

मैं जानता हूं कि तुम्हारे सामने यह प्रश्न है—

'इसके आगे क्या ? इसके आगे क्या ?'—'जीवन !'

तुम्हारा तीखा स्वर हमारा हृदय बेधता हुआ चला जाता है—

'जीवन !'

तुम्हारा तीखा स्वर हमारे निष्ठुर युग की पुकार है।

ओ युवक ! यह समय एक संकट का समय है। तुम एक घातक युद्ध के अवशेष हो, तुम्हारी जीवनी-शक्ति प्रकट होनी चाहिए; तुम्हें जीना चाहिए। सब तरह के अत्याचारों को छिन्न भिन्न करके, भ्रमों से मुक्त होकर तुम अपने आगे निरावरण हो जाओ। तुम्हारे आगे सुदीर्घ पथ चला जा रहा है; सुदूर—इशारे से तुम्हें बुलाता है—बढ़े चलो। पुरानी दुनिया के, गुजरे हुए काल के आदर्शों को छोड़कर बढ़े चलो !

रुको मत, मुड़ो मत,

अतीत की मरी हुई आवाज़ों को सुनने के लिये थमो मत !

बढ़े चलो, बढ़े चलो।

—रोम्यां रोलां



आगामी नवम्बर १९५५ से

श्रमण

(सांस्कृतिक हिन्दी डाइजेस्ट)

सातवें वर्ष में प्रवेश कर रहा है।

नए वर्ष से हम श्रमण में कुछ नए परिवर्तन करने जा रहे हैं। अब 'श्रमण' में आपको प्रतिमास विचारपूर्ण लेख, मनोहारी कविताएँ, शिष्ट एवं आदर्शप्रेरक कहानियाँ तथा अन्य स्थायी स्तम्भों के अतिरिक्त कुछ और भी ऐसी सामग्री मिलेगी जिनका अन्य पत्रों में अभाव रहता है। अगले ही अंक से कुछ नए धारावाहिक स्तम्भ भी हम चालू कर रहे हैं। अतः यदि आप नियमित रूपसे इन सब बातों का लाभ प्राप्त करना चाहें तो शीघ्र ही वार्षिक मूल्य मात्र ४) भेजकर इस के वार्षिक ग्राहक बन जाएँ। हमें, आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि 'श्रमण' का नया रूप आपको पसन्द आएगा और आप अपने मित्रों को भी इस के ग्राहक बनने के लिए उत्साहित करेंगे।

अभी तक हम 'श्रमण' में बाहरी विज्ञापन नहीं लेते थे पर अब हमने केवल शिष्ट व साहित्यिक विज्ञापन लेने का विचार किया है। अतः विज्ञापनदाताओं के लिए भी यह अच्छा अवसर है। विज्ञापन के दर आदि के लिए कृपया निम्न पते पर पत्र व्यवहार करें।

व्यवस्थापक—'श्रमण' मासिक
जैनाश्रम, हिन्दू यूनिवर्सिटी, बनारस-५

बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी प्रेस, बनारस—५





श्रमण

वर्ष ७ | अंक १

सम्पादक
कृष्णचन्द्राचार्य
महेन्द्र राजा एम.ए.



इस अंक में

'श्रमण' के विषय में

१. 'श्रमण' प्रत्येक अंगरेजी महीने के प्रथम सप्ताह में प्रकाशित होता है।
२. ग्राहक पूरे वर्ष के लिए बनाये जाते हैं।
३. 'श्रमण' में सांप्रदायिक कदाग्रह को स्थान नहीं दिया जाता।
४. विज्ञापनों के लिए व्यवस्थापक से पत्र व्यवहार करें।
५. पत्र व्यवहार करते समय ग्राहक संख्या अवश्य लिखें।
६. वार्षिक मूल्य मनिआर्डर से भेजना ठीक होगा।
७. समालोचना के लिए प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ आनी चाहिए।
८. सामयिक लेख आदि प्रत्येक मास की १५ ता० तक मिलने पर ही समय पर प्रकाशित हो सकेंगे। अन्य पत्रों में प्रकाशित या प्रकाशनार्थ भेजी गई रचनाएँ 'श्रमण' के लिए न भेजें।

वार्षिक मूल्य ४) एक प्रति ।=)

प्रकाशक—पं० कृष्णचन्द्राचार्य

अधिष्ठाता, श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, हिन्दू यूनिवर्सिटी बनारस—५

श्रमण

श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, हिन्दू यूनिवर्सिटी, बनारस का मुखपत्र

वर्ष ७ नवम्बर १९५५ अंक १

वीर-वाणी

—भगवान महावीर का दीपमालिका की रात्री में निर्वाण के समय अपने प्रधान शिष्य इन्द्रभूति गौतम के नाम पर भव-प्राणिओं को अन्तिम उद्बोधन—

— १ —

दुमपत्तए पंडुरए जहा
निवडइ राइगणाण अच्चए।
एवं मणुयाण जीवियं
समयं गोयम ! मा पमायए ॥

— १ —

पीत पत्र जिस भाँति वृक्ष से
आखिर गिरता यथा समय पर।
इसी भाँति नर-जीवन अस्थिर
गौतम ! कर न प्रमाद समय भर ॥

— २ —

कुसग्गे जह ओसबिंदुए
थोवं चिट्ठइ लंबमाणए।
एवं मणुयाण जीवियं
समयं गोयम ! मा पमायए ॥

— २ —

तृण के अग्र-भाग पर जैसे
ओस-बिन्दु टिकता है क्षण भर।
इसी भांति नर-जीवन चंचल
गौतम ! कर न प्रमाद समय भर ॥

— ३ —

इत्तरियम्मि आउए
जीवियए बहु-पच्चवायए।
विहुणाहि रयं पुरे कडं
समयं गोयम ! मा पमायए ॥

— ३ —

प्रचुर विघ्न-युत क्षण-जीवी इस
जीवन में कुछ सोच समझ कर।
कर्मों का मल दूर हटा ले
गौतम ! कर न प्रमाद समय भर ॥

— ४ —

दुल्लहे खलु माणुसे भवे
चिर-कालेण वि सव्व-पाणिणं।
गाढा य विवाग कम्मुणो
समयं गोयम ! मा पमायए ॥

— ४ —

दीर्घ-काल पश्चादपि मानव
जीवन का मिलना दुर्लभतर।
कर्म-विपाक विषम है गुरुतर
गौतम ! कर न प्रमाद समय भर ॥

— ५ —

पुढवि-काय-मइगओ
उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखाईयं
समयं गोयम ! मा पमायए ॥

— ५ —

पृथ्वी-कायिक जीवन पाकर
जितना रहता जीव अधिकतर।
संख्यातीत काल वह दुस्तर
गौतम ! कर न प्रमाद समय भर ॥

— ६ —

आउकाय-मइगओ
उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखाईयं
समयं गोयम ! मा पमायए ॥

— ६ —

अप्-कायिक जीवन पाकर
जितना रहता जीव अधिकतर।
संख्यातीत काल वह दुस्तर
गौतम ! कर न प्रमाद समय भर ॥

— ७ —

तेउकाय-मइगओ
उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखाईयं
समयं गोयम ! मा पमायए ॥

— ७ —

तेजःकायिक जीवन पाकर
जितना रहता जीव अधिकतर।
संख्यातीत काल वह दुस्तर
गौतम ! कर न प्रमाद समय भर ॥

— ८ —

वाउकाय-मइगओ
उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखाईयं
समयं गोयम ! मा पमायए ॥

— ८ —

वायु-कायिक जीवन पाकर
जितना रहता जीव अधिकतर।
संख्यातीत काल वह दुस्तर
गौतम ! कर न प्रमाद समय भर ॥

— ९ —

वणस्सइ-काय-मइगओ
उक्कोसं जीवो उ संवसे।
काल-मणंत-दुरंतयं
समयं गोयम ! मा पमायए ॥

— ९ —

काय-वनस्पति जीवन पाकर
जितना रहता जीव अधिकतर।
काल अनंत दुरन्त भयंकर
गौतम ! कर न प्रमाद समय भर ॥

— १० —

बेइंदिय-काय-मइगओ
उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखिज्ज-सन्नियं
समयं गोयम ! मा पमायए ॥

— १० —

द्वीन्द्रिय-कायिक जीवन पाकर
जितना रहता जीव अधिकतर।
काल-मान संख्येय वहाँ पर
गौतम ! कर न प्रमाद समय भर ॥

— ११ —

तेइंदिय-काय-मइगओ
उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखिज्ज-सन्नियं
समयं गोयम ! मा पमायए ॥

— ११ —

त्रीन्द्रिय-कायिक जीवन पाकर
जितना रहता जीव अधिकतर।
काल-मान संख्येय वहाँ पर
गौतम ! कर न प्रमाद समय भर ॥

— १२ —

चउरिंदिय-काय-मइगओ
उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखिज्ज-सन्नियं
समयं गोयम ! मा पमायए ॥

— १२ —

चतुरिंद्रिय का जीवन पाकर
जितना रहता जीव अधिकतर।
काल-मान संख्येय वहाँ पर
गौतम ! कर न प्रमाद समय भर ॥

— १३ —

पंचिंदिय-काय-मइगओ
उक्कोसं जीवो उ संवसे।
सत्तऽट्ठ-भव-गहणे
समयं गोयम। मा पमायए ॥

— १३ —

पंचेन्द्रिय का जीवन पाकर
जितना रहता जीव अधिकतर।
सप्त-अष्ट, भव की है संख्या
गौतम ! कर न प्रमाद समय भर ॥

— १४ —

देवे नेरइए य अइगओ
उक्कोसं जीवो उ संवसे।
इक्केक्क-भव-गहणे
समयं गोयम ! मा पमायए ॥

— १४ —

देव नरक का जीवन पाकर
जितना रहता जीव अधिकतर।
एक एक है भव की संख्या
गौतम ! कर न प्रमाद समय भर ॥

— १५ —

एवं भव-संसारे
संसरई सुहासुहेहि कम्मेहिं।
जीवो पमाय-बहुलो
समयं गोयम ! मा पमायए ॥

— १५ —

अधिक प्रमादी बन यों आत्मा
कर्म शुभाऽशुभ अपने लेकर।
रहता जग में सतत भटकता
गौतम ! कर न प्रमाद समय भर ॥

— १६ —

लद्धूण वि माणुसत्तणं
आरिअत्तं पुणरवि दुल्लहं।
बहवे दसुया मिलक्खुया
समय गोयम ! मा पमायए॥

— १६ —

पाकर के भी मानव भव को
होना दुर्लभ आर्य योग्य नर।
कतिपय होते म्लेच्छ दस्यु भी
गौतम ! कर न प्रमाद समय भर॥

— १७ —

लद्धूण वि आरियत्तणं
अहीण-पंचेंदियता हु दुल्लहा।
विगलिंदियता हु दीसई
समयं गोयम ! मा पमायए॥

— १७ —

पा करके भी आर्य-जन्म को
अविकल-इन्द्रिय होना दुष्कर।
हीनेन्द्रिय हैं नर भी कतिपय
गौतम ! कर न प्रमाद समय भर॥

— १८ —

अहीण-पंचेदियत्तं पि से लहे
उत्तम-धम्म-सुई हु दुल्लहा।
कुतित्थि-निवेसए जणे
समयं गोयम ! मा पमायए॥

— १८ —

पूर्णेन्द्रियता पा करके भी
शुद्ध धर्म का सुनना दुष्कर।
कुतीर्थिकों के सेवक कतिपय
गौतम ! कर न प्रमाद समय भर।

— १९ —

लद्धूण वि उत्तमं सुइं
सद्दहणा पुणरवि दुल्लहा।
मिच्छत्त-निवेसए जणे
समयं गोयम ! मा पमायए॥

— १९ —

सुन करके भी शुद्ध धर्म को
श्रद्धा पाना अधिक कठिनतर।
मिथ्या-मत के ग्राहक कतिपय
गौतम ! कर न प्रमाद समय भर॥

— २० —

धम्मं पि हु सद्दहंतया
दुल्लहया काएण फासया।
इह काम-गुणेहि मुच्छिया
समयं गोयम ! मा पमायए॥

— २० —

धार्मिक श्रद्धा पा करके भी
कार्य-रूप में परिणति दुष्कर।
काम-भोग में मूर्छित कतिपय
गौतम ! कर न प्रमाद समय भर॥

— २१ —

परिजूरइ ते सरीरयं
केसा पंडुरया हवंति ते।
से सोय-बले य हायई
समयं गोयम ! मा पमायए॥

— २१ —

होता जाता जीर्ण देह तव
बनते जाते केश श्वेततर।
होता जाता क्षीण श्रोत्र-बल
गौतम ! कर न प्रमाद समय भर॥

— २२ —

परिजूरइ ते सरीरयं
केसा पंडुरया हवंति ते।
से चक्खु-बले य हायई
समयं गोयम ! मा पमायए ॥

— २२ —

होता जाता जीर्ण देह तव
बनते जाते केश श्वेततर।
होता जाता क्षीण नेत्र-बल
गौतम ! कर न प्रमाद समय भर ॥

— २३ —

परिजूरइ ते सरीरयं
केसा पंडुरया हवंति ते।
से घाण-बले य हायई
समयं गोयम ! मा पमायए ॥

— २३ —

होता जाता जीर्ण देह तव
बनते जाते केश श्वेततर।
होता जाता क्षीण घ्राण-बल
गौतम ! कर न प्रमाद समय भर ॥

— २४ —

परिजूरइ ते सरीरयं
केसा पंडुरया हवंति ते।
से जिब्भ-बले य हायई
समयं गोयम ! मा पमायए ॥

— २४ —

होता जाता जीर्ण देह तव
बनते जाते केश श्वेततर।
होता जाता क्षीण जीभ-बल
गौतम ! कर न प्रमाद समय भर ॥

— २५ —

परिजूरइ ते सरीरयं
केसा पंडुरया हवंति ते।
से फास-बले य हायई
समयं गोयम ! मा पमायए ॥

— २५ —

होता जाता जीर्ण देह तव
बनते जाते केश श्वेततर।
होता जाता क्षीण स्पर्श-बल
गौतम ! कर न प्रमाद समय भर ॥

— २६ —

परिजूरइ ते सरीरयं
केसा पंडुरया हवंति ते।
से सव्व-बले य हायई
समयं गोयम ! मा पमायए ॥

— २६ —

होता जाता जीर्ण देह तव
बनते जाते केश श्वेततर।
होता जाता क्षीण सर्व-बल
गौतम ! कर न प्रमाद समय भर ॥

— २७ —

अरई गंडं विसूइया
आयंका विविहा फुसंति ते।
विहडइ विद्धंसइ ते सरीरयं
समयं गोयम ! मा पमायए ॥

— २७ —

अरति गंड अथवा विसूचिका
बहुविध रोग अतीव भयंकर।
तेरे तन को जर्जर करते
गौतम ! कर न प्रमाद समय भर ॥

— २८ —

वोच्छिद सिणेह-मप्पणो
कुमुयं सारइयं व पाणियं।
से सव्व-सिणेह-वज्जिए
समयं गोयम ! मा पमायए॥

— २८ —

जैसे कैरव शरद काल का
जल से रहता सदा पृथक्तर।
वैसे ही तू स्नेह-भाव तज,
गौतम ! कर न प्रमाद समय भर॥

— २९ —

चिच्चाण धणं च भारियं
पव्वइओ हि सि अणगारियं।
मा वंतं पुणो वि आविए
समयं गोयम ! मा पमायए॥

— २९ —

धन माया का परित्याग कर
मुनिव्रत लीना तूने सुखकर।
अब फिर उनका मत कर चिन्तन
गौतम ! कर न प्रमाद समय भर॥

— ३० —

अवउज्झिय मित्त-बंधवं
विउलं चेव धणोह-संचयं।
मा तं बिइयं गवेसए
समयं गोयम ! मा पमायए॥

— ३० —

बांधव मित्र विपुल धन वैभव
छोड़ दिया तुमने सब प्रियतर।
अब फिर उनका मत कर चिन्तन
गौतम ! कर न प्रमाद समय भर॥

— ३१ —

न हु जिणे अज्ज दिस्सई
बहुमए दिस्सइ मग्ग-देसिए।
संपइ नेयाउए पहे
समयं गोयम ! मा पमायए॥

— ३१ —

यद्यपि आज न तव जिन-दर्शन
पर तू उनका मार्ग देखकर।
संप्रति चल उस न्याय-मार्ग पर
गौतम ! कर न प्रमाद समय भर॥

— ३२ —

अवसोहिय कंटगापहं
ओइण्णो सि पहं महालयं।
गच्छसि मग्गं विसोहिया
समयं गोयम ! मा पमायए॥

— ३२ —

तज कर कंटक-पूर्ण मार्ग को
पहुँच गया तू सच्चे पथ पर।
इसी मार्ग पर चलता रह तू
गौतम ! कर न प्रमाद समय भर॥

— ३३ —

अबले जह भार-वाहए
मा मग्गे विसमे वगाहिया।
पच्छा पच्छाणुतावए
समयं गोयम ! मा पमायए॥

— ३३ —

विषम मार्ग पर जाकर निर्बल
फिर पछताता भार छोड़कर।
यों पछताना तुझे पड़े ना
गौतम ! कर न प्रमाद समय भर॥

— ३४ —	— ३४ —
तिण्णो हु सि अण्णवं महं	तैर गया तू महासिंधु को
किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ।	अब क्यों खड़ा तीर तक आकर।
अभितुर पारं गमित्तए	करो शीघ्रता तीर प्राप्ति-हित
समयं गोयम ! मा पमायए॥	गौतम ! कर न प्रमाद समय भर॥
— ३५ —	— ३५ —
अकलेवरसेणिं उस्सिया	क्षपक श्रेणिका पर तू चढ़कर
सिद्धिं गोयम ! लोयं गच्छसि।	सबसे उत्तम क्षेम शिवंकर।
खेमं च सिवं अणुत्तरं	मोक्ष-धाम को पाने में तू
समयं गोयम ! मा पमायए॥	गौतम ! कर न प्रमाद समय भर॥
— ३६ —	— ३६ —
बुद्धे परिनिव्वुडे चरे	ग्राम नगर वन सभी स्थान पर
गामगए नगरे व संजए।	शांत संयमी ज्ञानी बन कर।
संतिमग्गं च बूहए	शांति मार्ग के पाने में तू
समयं गोयम ! मा पमायए॥	गौतम ! कर न प्रमाद समय भर॥
— ३७ —	— ३७ —
बुद्धस्स निसम्म भासियं	सुन कर वीर जिनेश्वर की यह
सुकहिय-मट्ठ-पओवसोहियं।	सार्थक सुपद सुभाषित वाणी।
रागं दोसं च छिंदिया	राग द्वेष को त्याग सर्वथा
सिद्धिगइं गए गोयमे॥	शिव-पद पाया गौतम ज्ञानी॥

—त्ति बेमि।

उत्तराध्ययन सूत्र का 'दुमपत्तय' नाम का १० वाँ अध्ययन

पद्यानुवादक—मुनि श्री मिश्रीमल जी 'मधुकर'

अब कहाँ तक ?

—पण्डितप्रवर बेचरदास जी दोशी

थोड़े दिन पहले एक बहन मिली, वह उपधान तप का अनुष्ठान कर रही थी। नवकार मंत्र का उपधान करना पड़ता है, इसी प्रकार अन्य-अन्य सूत्रों के भी उपधान करने होते हैं। हाथ में चरवला (रजोहरण), आसन व मुँहपत्ती लिए देवदर्शन के लिए जाती हुई वही बहन मिली। मैंने पूछा—किस सूत्र का उपधान कर रही हो ? वह बोली—मालूम नहीं कि किस सूत्र का उपधान चल रहा है; मैं रोज एक उपवास और दूसरे दिन पारणे में एकाशन कर रही हूँ। अमुक संख्या में खमासमणे दे रही हूँ तथा नवकारवाली भी अमुक संख्या में प्रतिदिन गिन रही हूँ। इस प्रकार केवल क्रिया ही क्रिया कर रही हूँ। केवल मैं ही नहीं, मेरे साथ क्रिया करने वाली किसी भी बहन को मालूम नहीं कि किस सूत्र का उपधान हो रहा है या चल रहा है।

यह सुनकर मुझे बड़ा ताज्जुब हुआ। यह बहन जो जो क्रियाएँ कर रही है, उनका क्या हेतु है ? क्या प्रयोजन है ? क्रियाएँ करने का क्या उद्देश्य है ? किस साध्य को पाने के लिए ये क्रियाएँ की जाती हैं ? इस बात को तो कोई भी बहन नहीं जानती और केवल बेसमझी से व परम्परा रूप में क्रियाएँ कर रही हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे कि एक अंधे के पीछे दूसरा अंधा चलता है, एक भेड़ के पीछे दूसरी भेड़ चलती है। परन्तु कहाँ पहुँचना है, यह किसी को भी मालूम नहीं। ऐसी स्थिति में ये क्रियाएँ किस प्रकार फलसाधक व आत्मशोधक बन सकती हैं अथवा व्यवहारशुद्धि की निमित्त हो सकती हैं ? ऐसा विचार क्रिया करने व कराने वालों को भी क्यों नहीं आता ? क्या इस प्रकार केवल बेसमझी से क्रिया करने से कोई लाभ हो सकता है ?

इसी तरह दूसरे प्रसंग में मेरे एक मित्र के घर उसकी एक दौहित्री मिली जो पैंतालीस आगमों का तप कर रही थी। मैंने पूछा—क्या कर रही हो ? वह बोली—पैंतालीस आगमों का तप कर रही हूँ। मैंने पूछा—पैंतालीस आगमों के नाम जानती हो ? वह बोली—नहीं।

"आज कौन से आगम का तप है ?" मैंने पूछा।

"आज छठे ज्ञातासूत्र का तप है !"

"ज्ञातासूत्र में क्या क्या बातें आती हैं ?"

"मुझे नहीं मालूम।" वह बोली।

जब तुम्हें आगमों के नाम तक नहीं आते और जिस सूत्र का तप आज चल रहा है उसमें क्या क्या भाव आते हैं, यह भी मालूम नहीं तो इस प्रकार केवल आगमों के नाम पर तप करने से क्या लाभ है ?"—मैंने पूछा।

"यह तो मुझे मालूम नहीं, परन्तु गुरु महाराज कहते हैं कि पुण्य होगा और आगमों की पूजा प्रभावना करने से आगमों का ज्ञान भी होगा जिससे धीरे-धीरे आत्मकल्याण होगा।"

उसकी यह बात सुनकर मुझे पूछना पड़ा—"पुण्य क्या होता है ? जब तुम तप करती हो तो उस समय क्या तुमको अनुभव होता है कि तुम्हें पुण्य हो रहा है ?"

"नहीं, ऐसा तो कुछ नहीं मालूम होता।"

"फिर ये सब क्रियाएँ क्यों कर रही हो ?"

"सब कोई कर रहे हैं, यह देखकर मैं भी करने लगी।"—उसका नपा-तुला उत्तर था।

उसकी यह बात सुनकर मन में बहुत दुःख हुआ। यह सब लोग जानते हैं कि किसी भी ग्रंथ का ज्ञान जब पाना होता है तब स्थिरभाव से उसको अध्यापक से पढ़ना पड़ता है, फिर उसका मनन, चिन्तन व विचार करना जरूरी होता है और जब ग्रंथस्थ भाव मन में बराबर जम जाता है तब उसका संबंध अपने जीवन व्यवहार से जोड़ना होता है जिससे ग्रंथ के अध्ययन का फल पाया जा सके और ग्रंथ पठन के अवसर में अध्ययन समय की पूरी सीमा तक खाने में, सोने में तथा ऐसी अन्य प्रवृत्तियों में संयम से रहना पड़ता है तथा अध्ययन-बाधक प्रवृत्तियों को तो सदा रोकना ही पड़ता है। इस प्रकार बाह्य एवं आभ्यंतर साधना करने से ग्रंथ का ज्ञान पाया जाता है और उससे यथाशक्य लाभ भी उठाया जा सकता है।

इधर तो जिस ग्रंथ के नाम का तप चल रहा है, उसका अध्ययन ही नहीं

होता तो फिर ग्रंथ में क्या क्या बात आती है, उसका भान कैसे हो ? भान न होने से केवल ग्रंथ के तप से क्या फायदा ?

बहुत से भाई-बहन ज्ञानपंचमी के आराधन के लिए पाँच वर्ष और पाँच मास तक तप करते हैं। तप में उपवास भी करना पड़ता है। उपवास के दिन 'नमो नाणस्स' (ज्ञान को नमस्कार) ऐसा जाप भी करना पड़ता है। और जब तप पूरा हो जाता है तब व्रत का उद्यापन किया जाता है। उद्यापन में कागज, कलम, दावात तथा पुस्तकों की पूजा की जाती है तथा कोई-कोई श्रीमान लोग साधर्मियों को भोज भी देते हैं। इस प्रकार ज्ञानपंचमी की आराधना करने से ज्ञान का—विद्या का लाभ होता है, ऐसा ये लोग मानते हैं।

इस ज्ञान पंचमी के तप में कहीं भी पढ़ने की या पाटी लेकर उस पर अक्षर लिखने की कोई बात ही नहीं आती। केवल उपवास आदि क्रियानुष्ठान करने से विद्या का लाभ किस प्रकार हो सकता है ? यदि किसी विद्यार्थी को पढ़ना है, मैट्रिक पास करना है और मैट्रिक होकर आगे अधिक विद्या को हासिल करना है तो क्या वह ज्ञानपंचमी के तप को करने से सचमुच मैट्रिक हो जायगा ? या उस तपस्वी विद्यार्थी को मैट्रिक पास हुआ मान कर कोई भी कालेज या विद्यापीठ उसे आगे पढ़ने का अधिकार दे सकता है ? कभी नहीं। तब ऐसा तप जिसमें पढ़ने-पढ़ाने की कोई व्यवस्था नहीं, किस प्रकार ज्ञान-लाभ का निमित्त हो सकता है ?

यह तो ऐसा हुआ कि कोई धर्मार्थी दुकानदार दुकान खोलता है। फिर दुकान में आकर माल-सामान बेचने के बजाय दुकान में बैठकर उपवास व एकाशन इत्यादि विविध तप करता रहता है, किसी भी ग्राहक को माल सामान नहीं बेचता। क्या ऐसा व्यापारी कभी एक कौड़ी भी पा सकता है ? नहीं। यदि ऐसा ही है तो उक्त प्रकार के उपधान करने वाले, पैंतालीस आगमों के तप करने वाले तथा ज्ञानपंचमी की विधिपूर्वक आराधना करने वाले अपने जीवन में कभी भी ज्ञान लाभ कैसे पा सकते हैं और पुण्यलाभ भी होना कैसे संभव है ?

प्रस्तुत लेख का उद्देश किसी भी प्रकार के धर्मानुष्ठान व धर्म प्रधान क्रियाओं का निषेध करने का कदापि नहीं है परन्तु जो जो धर्मानुष्ठान व धर्मक्रियाएँ की जायँ, वे सब सोच-विचार कर, समझ-बूझकर की जायँ। क्रिया का उद्देश क्या है ? क्रिया व अनुष्ठान से प्रत्यक्ष जीवन में क्या लाभ है ? ऐसा

विचार किये बिना केवल भेड़िया-धसान के समान क्रियाएँ—अच्छी-अच्छी क्रियाएँ करने से भी क्या कोई लाभ होना शक्य है ? इससे तो लाभ की अपेक्षा उलटे हानि ही उठानी पड़ती है, समय नष्ट होता है, शरीर को व्यर्थ कष्ट सहना पड़ता है और धन का भी अपव्यय ही होता है । साथ ही चित्त में भी अच्छी क्रियाएँ करने का मिथ्या भ्रम रहता है जिससे कभी-कभी दंभ का भी प्रवेश हो जाता है और अंत में जिसका परिणाम दुर्गति ही होता है ।

मैं समझता हूँ कि उपधान, आगम का तप तथा ज्ञान पंचमी की आराधना इत्यादि विविध धर्मक्रियाओं का संबंध हमारे वर्तमान जीवन को शुद्ध करने और हमारे व्यवहारों में आजकल जो अनेक अशुद्धियाँ घुस गई हैं, उन सबको निकाल कर हमें शुद्ध एवं व्यवहारपूर्वक जीवन बिताने के लिए हैं । और ऐसी स्थिति में यह आवश्यक है कि उपधानादि तप की वर्तमान क्रियाएँ मुख्य साध्य को लक्ष्य में रख कर बदली जाएँ । जैसे मुझे नवकार का उपधान करना हो तो मैं उपधान प्रवृत्ति में प्रवेश करने के पहले अपना व्यवहार धीरे-धीरे शुद्ध बनाने का प्रयत्न करूँ । मेरे मन में यह बात बराबर जम जानी चाहिए कि मैं स्त्री या पुरुष, कोई भी होऊँ पर मेरा कौटुम्बिक व्यवहार वात्सल्यपूर्ण तथा परस्पर के क्लेश से निर्मुक्त हो । मेरी आजीविका के जो-जो साधन हैं उनमें जहाँ कहीं झूठ, छल-प्रपंच तथा विश्वासघात आदि दोष हों, उन सबको धीरे धीरे निकाल बाहर फेंकने का जागृति पूर्वक उद्यम करूँ, जिससे फिर से वे दोष मेरे व्यवहार में न आ सकें । जब यह प्रथम भूमिका ठीक जम जाय तब संयम से जीने वाले, सद्गुण संपन्न धर्मगुरु से निवेदन करूँ कि हे गुरु ! अब आप मुझे नवकार के उपधान की दीक्षा दें । गुरु भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को समझने वाला तथा शास्त्रवर्णित छत्तीसगुणी या छत्तीस में से कोई भी एक गुणयुक्त तथा समाजहितैषी, जनता के कल्याण मार्ग का दर्शक हो । गुरु कहें—भाई, तुम को अमुक दिवस तक सर्व रस परित्याग पूर्वक आहार का अभ्यास करना होगा । ऐसा आहार भी बहुत सादा रखना होगा अर्थात् उसमें भी पचासों खाद्य बनाना वर्ज्य करना पड़ेगा, रोटी सूखी तथा दाल से ही काम चलाना होगा और मैं भी तुम्हारे ऐसे अभ्यास में शामिल रहूँगा और नित्य प्रति नवकार के प्रत्येक पद की तुम को पारमार्थिकता समझाता रहूँगा । 'नमो' से क्या भाव समझना चाहिए ? नमस्कार शरीर से भी होता है और मन से भी । जो नमस्कार केवल शरीर से होता है उसका यहाँ प्रधान प्रयोजन नहीं परंतु जो नमस्कार चित्त से—जागृतियुक्त मन से होता है उसका ही यहाँ प्रयोजन है ।

अर्थात् तुम इधर सद्गुण के लाभ के लिए उपधान की दीक्षा ले रहे हो और ये तुम्हारे प्राप्तव्य सद्गुण अरिहंत में विद्यमान थे; अतः तुम बार-बार उल्लास-पूर्वक अरिहंत को नमन करो। अरिहंत भी मनुष्य थे—तुम्हारे ही जैसे वे एक समय दोष-गुण युक्त मानव थे, पर उन्होंने प्रबल प्रयत्न करके जीवन के सब दोष मार हटाए और आज वे हमारे सामने अरिहंत रूप होकर बैठे हैं। इसी प्रकार तुम भी अरिहंत के जीवन से प्रेरणा पाकर विशुद्ध जीवन पाने का उत्कट पुरुषार्थ करो और अरिहंत बनने की हिम्मत बाँधो, यह ही उपधान वहन का उद्देश है। जैसे कोई धनार्थी किसी धनवान या सेठ साहूकार, राजा इत्यादिक को बार-बार नमन करके, उनकी उपासना, सेवा, चाकरी करके धन को पाता है; इसी प्रकार तुम जीवन की शुद्धि के अर्थी हो और ये अरिहंत शुद्ध जीवन संपन्न हैं। अतः तुम उनको नमन द्वारा, उनकी उपासना द्वारा, उनका मानसिक समागम बार-बार करोगे तो यह सत्संग जरूर तुम्हारे जीवन में अद्भुत शुद्धि का संचार कर सकेगा और ऐसा संचार होने पर तुम में फिर कभी असत्य, छल, प्रपंच, समाज-द्रोह इत्यादि नाना प्रकार के दोष ठहर न सकेंगे। परिणामतः तुम्हारा जीवन निर्मल, संतोषी, वत्सल, करुणामय और विशाल बन जाएगा और अंततः तुम्हारा सहवास करने वालों में भी इन गुणों का संचार होगा, इस प्रकार तुम स्व के साथ ही साथ पर के भी हितकारी बनोगे।

फिर गुरु अरिहंत पद की व्याख्या समझाएगा। नाम अरिहंत, स्थापना अरिहंत, द्रव्य अरिहंत और भाव अरिहंत इन सभी की विशेषता बताएगा, इन सभी का पृथक पृथक उपयोग समझाएगा तथा सर्व धर्म समभाव की दृष्टि से भी अरिहंत पद का विवेचन करेगा। एक तरफ उपधान में दीक्षा लेकर रूखे-सूखे आहार पर संतोष मानने वाला साधक हो और दूसरी तरफ नवकार के प्रत्येक पद की सविस्तर व्याख्या विवेचन करने वाला समभावी गुरु हो; तब दोनों को जीवन शुद्धि का लाभ होगा और इसका प्रभाव दोनों के प्रत्यक्ष जीवन में अवश्य पड़ेगा तथा परंपरा से समाज जीवन में भी इसका थोड़ा बहुत परिणाम भी अवश्य होगा। इस प्रकार वर्तमान उपधान विधि में परिवर्तन करना अनिवार्य है अन्यथा उस पवित्र क्रिया का परिणाम व्यक्ति पर नहीं होता, समाज पर होना तो कोसों दूर रहा और जिसका परिणाम वर्तमान में ही नहीं होता उसका परिणाम भविष्य में होना संभव ही नहीं। जैसे कोई पुरुष भोजन कर रहा व पानी पी रहा है परंतु यदि भोजन से उसके पेट में कुछ भी नहीं आता और पानी से उसका कंठ भी गीला नहीं होता,

तो भी यह कहना कि भले ही वर्तमान में इसके पेट में कुछ भी न आए और जल से कंठ तक गीला न हो, तो भी भविष्य में, कालांतर में, जन्मातर में इस भोजन का तथा इस जलपान का लाभ अवश्य होगा ही; यह कथन जितना भ्रांत, अज्ञानतापूर्ण तथा धोखा देने वाला है; ऐसा ही वर्तमान जीवन को लेश भी स्पर्श न करने वाली धर्म क्रियाओं के विषय में विवेकी भाई-बहनों को समझना चाहिए और ऐसा समझकर इस प्रकार धोखा देने वाली और धर्म के नाम पर चलने वाली प्रत्येक धर्म व संप्रदाय की धर्म क्रियाओं के विषय में समझना चाहिए। एक और स्पष्ट दृष्टान्त इस प्रकार है—जैसे हमारे पितृ-पितामह मर चुके हैं, वे मर कर कहां गए हैं इसका हमें या अन्य किसी को थोड़ा भी पता नहीं है तो भी हमारे देश में कुछ ऐसे भी मूढ़ लोग हैं कि वे अपने पितृ-पितामहों को भोजन पहुंचाने के लिए श्राद्ध करते हैं और ऐसे मूढ़ लोगों को ऐसे गुरु भी मिल जाते हैं जो स्वयं भोजन करके यह कहने की धृष्टता करते हैं कि हमारे पेट में भोजन पड़ने से भोजन इत्यादि सब सामग्री तुम्हारे पितृ-पितामहों को मिल जाती है। तुम इसकी जरा भी फिक्र मत करो, इसके जिम्मेवार हम हैं। विज्ञान के इस प्रखर युग में भी ऐसे मूढ़जन तथा ऐसे महामूढ़ गुरु विद्यमान हैं। इसको देखकर सोच-समझ कर अब हम कहां तक ऐसा करते रहेंगे कि जिस प्रवृत्ति से हमारे वर्तमान जीवन का कोई सरोकार ही नहीं, स्पर्श तक नहीं परंतु जन्मांतर में, भविष्य में लाभ होगा ऐसे भ्रम में पड़कर अब कहां तक हम मूढ़ भाव से चलते रहेंगे? एक भक्त कवि भगवान से कहता है—

> आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि
> नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या।
> जातोऽस्मि तेन जनबान्धव ! दुःखपात्रं
> यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः ॥

अर्थात हे जन बांधव भगवान ! मैंने बोलते हुए तुमको बार बार सुना है, तेरी पूजा भी बराबर की है और तेरा बराबर निरीक्षण भी किया है परंतु ऐसा करने पर भी मैंने तुमको भक्ति पूर्वक अपने चित्त में नहीं बैठाया अर्थात् अपने आंतर जीवन के साथ तेरा स्पर्श मैं नहीं कर पाया। इसी कारण मैं वर्तमान में दुःखी हो रहा हूँ अर्थात् मेरी मूढ़ता, अज्ञानता और अविवेक जरा सा भी कम नहीं हुआ और यह बात सच है कि जिस क्रिया में चित्त का संबंध नहीं है

उसका फल नहीं ही होता है। कदाचित कोई फल हो भी जाय तो वह प्रायः जीवन का घातक ही होता है।

दूसरे एक ऐसे ही भक्तजन गुजराती में कहते हैं—

"बालपणे आपण ससनेहीं, रमता नव नव वेषे;
आज तुमे पाम्या प्रभुताई, अमे तो संसार निवेशे
हो प्रभुजी ! ओलंभड़े मत खीजो"

अर्थात् हे भगवन ! तुम और हम बाल्यावस्था में परस्पर मित्र थे और सस्नेह बनकर तथा नया-नया वेश बनाकर कई प्रकार के नए-नए खेल खेल चुके हैं परन्तु अपने पुरुषार्थ बल से तुम तो आज अरिहंत होकर हमारे सामने बैठे हो और हम अब तक भी खिलवाड़ ही कर रहे हैं। तात्पर्य यह है कि बिना विवेक अब हम कहाँ तक ऐसी खिलवाड़ ही करते रहेंगे ?

सत्यता का व्यापार

कुछ वर्ष हुए कुछ यूरोप निवासी जापान में सैर को गए थे। भ्रमण करते हुए वे एक वृद्ध जापानी कारीगर की दुकान से गुजरे जो हाथीदाँत का काम करता था। यात्रियों ने एक हाथी दाँत को पसन्द किया, जिस पर बड़ी निपुणता से काम किया हुआ था। दर्शकों के पूछने पर कारीगर ने उसका मूल्य १३०) रुपया बताया, जो वास्तव में उचित ही था। एक दर्शक ने उसको मोल लेने की इच्छा प्रगट की। परन्तु प्रथम इसके कि वह दर्शक उसे मोल ले उक्त कारीगर ने एक बार फिर उस वस्तु को विचार पूर्वक देखा और चित्रकारी में कोई दोष पाकर ग्राहक को सूचित किया। ग्राहक ने उसकी परवाह न की, बल्कि उसने कहा कि इससे इसके मूल्य में कोई कमी नहीं आती और सिवाय तुम्हारे जैसे चतुर कारीगर के और कोई इस दोष को जान भी नहीं सकता। कारीगर ने कहा—मूल्य की कुछ परवाह नहीं, परन्तु इस दुकान से कभी इस प्रकार का माल नहीं दिया जाता जिसमें तनिक भी दोष हो। मैं अब यह हाथी दाँत तुम्हारे हाथ किसी मूल्य पर भी न बेचूँगा।

—एक सत्य घटना

---

१४ नवम्बर १९५५ को जवाहर-जयन्ती के अवसर पर—

श्री नेहरू जी के प्रति

जनता के जयमाल जवाहर !

जीवन के जन के जनपद के जननि अंक के लाल जवाहर ।
युग नेता, युग पुरुष, जगत के जनता के जयमाल जवाहर ॥

× × × ×

स्वतन्त्रता की वीणा बजी रे
वरदानों की भीड़ लगी रे
विपुल विभव दे दिये किसी ने—
दिये किसी ने माणिक हीरे

मोती ने दे दिया हृदय से अपना लाल निकाल जवाहर ।
युग नेता, युग पुरुष, जगत के जनता के जयमाल जवाहिर ॥

× × × ×

भारत माँ के लाल जवाहर
हे नव राजनीति के माहिर
कौन जानता नहीं जहाँ में—
आज तुम्हारा जौहर जाहिर

तुम्हें देखकर होता जग में कौन न आज निहाल जवाहर ।
युग नेता, युग पुरुष, जगत के जनता के जयमाल जवाहर ॥

× × × ×

हे स्वदेश स्वातन्त्र्य पुजारी
जनगण अधिनायक अधिकारी
अपने इस स्वाधीन देश पर—
यह चिर सत्ता रहे तुम्हारी

तुम से सब दिन हिन्द देश का रहे समुन्नत भाल जवाहर ।
युग नेता, युग पुरुष, जगत के जनता के जयमाल जवाहर ॥

× × × ×

लोकतन्त्र-गणतन्त्रकार तुम
स्वतन्त्रता की चिर पुकार तुम
राष्ट्रीय शासन सत्ता के—
सफल एक ही सूत्रधार तुम

राजनीति के रंग मंच पर तुमने किया कमाल जवाहर ।
युग नेता, युग पुरुष, जगत के जनता के जयमाल जवाहर ॥

× × × ×

राष्ट्रीय इस परिवर्तन में
रण में, वन में, जग जीवन में
नगर, ग्राम में, धाम-धाम में
और तुम्हारे अनुशासन में
अभिलाषा बस यही सदा हो प्रजावर्ग खुशहाल जवाहर ।
युग नेता, युग पुरुष, जगत के जनता के जयमाल जवाहर ॥

× × × ×

ये चालीस कोटि नारी-नर
पूरब, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर
आज बने सब अनुगामी हैं—
नित्य तुम्हारे पथ पर चल कर
इनकी जहाँ पुकार दीन हो, सुन लेना तत्काल जवाहर ।
युग नेता, युग पुरुष, जगत के जनता के जयमाल जवाहर ॥

× × × ×

मारवाड़, गुजरात, पंचनद
ब्रह्मपुत्र, आसाम देश हद
दिल्ली, कुर्ग, बिहार, उड़ीसा
लखते नित्य तुम्हारा ही पद
मध्यदेश, मद्रास, बम्बई, युक्त प्रान्त, बंगाल, जवाहर ।
युग नेता, युग पुरुष, जगत के जनता के जयमाल जवाहर ॥

× × × ×

यह मंगल मय जन्म दिवस हो
आयु तुम्हारी लाख बरस हो
और युगों तक कोटि-कोटि शत-
अमर तुम्हारा जग में यश हो
तुम्हें मुबारक कोटि बार हो यह चिर नूतन साल जवाहर ।
युग नेता, युग पुरुष, जगत के जनता के जयमाल जवाहर ॥

—श्री हरिशंकर वैदिक एम० ए०

अधिमास और पर्यूषणा

—श्री कस्तूरमल बाँठिया

अब की चातुर्मास में भाद्रपद के अधिक पड़ने से जैन समाज का महत्व-पूर्ण पर्युषण पर्व भी भिन्न भिन्न तिथियों में मनाया गया है। इस लेख के विद्वान लेखक की यह भावना है कि जैन समाज को इस बारे में गहराई से विचार करके किसी एक निर्णय पर पहुँचना चाहिए, जिससे कि सभी जैन संप्रदायों की एक मान्यता हो सके और सभी एक तिथि व एक समय में इस महत्व के पर्व को मना सकें। जैन समाज के प्राणस्वरूप पर्व को भी अलग अलग तिथियों में मनाना कोई शोभा की बात नहीं; जब कि इस पर्व का संदेश ही आपसी बड़े से बड़े मतभेदों को भुलाकर प्रेम के एक सूत्र में गुँथना है। इस पर्व की आड़ में मतभेदों को खड़ा करना तो सबसे बढ़कर लज्जा की बात है। हमें खेद है कि विलम्ब से मिलने के कारण यह लेख 'श्रमण' के पर्युषण-अंक में नहीं छप सका था, फिर भी लेख का महत्व कम नहीं हुआ। आशा है पाठक-गण पर्युषण व अधिकमास के संदर्भ को सामने रखकर ही इस लेख का वाचन करेंगे। हमने भाषा बदलने की चेष्टा नहीं की। हम यह भी चाहते हैं कि विद्वान पाठक इस विषय पर गहराई से विचार करेंगे और अपने अपने विचार लेखबद्ध करके उन्हें भेजने का कष्ट उठाएँगे, जिससे इस पर ऊहापोह होकर जैन समाज किसी परिणाम पर पहुँच सके।

—सम्पादक

जब भी श्रावण या भाद्रपद अधिमास पड़ता है, श्वेताम्बर जैनों में पर्यूषणा का विवाद उठ खड़ा होता है। श्रावण अधिमास होने पर द्वितीय श्रावण में, और भाद्रपद अधिमास होने पर प्रथम भाद्रपद में कुछ श्वेताम्बर जैन संप्रदायों द्वारा पर्यूषणा पर्व मना लिया जाता है। संवत्सरी पर्व की तिथि का भेद तो प्रायः प्रतिवर्ष रहता ही है। जिस साल ज्योतिष गणना से चतुर्थी में पंचमी का समावेश होता है, उस साल सभी श्वेताम्बर जैनों का संवत्सरी

पर्व चतुर्थी का हो जाता है। परन्तु श्वेताम्बर जैनों में मूर्तिपूजक संप्रदाय सदा शुक्ला चतुर्थी को ही संवत्सरी मनाता है और उसके प्रभाव से ही बंबई प्रांत में जहाँ कि अखिल भारतीय जैनों के लगभग आधे अर्थात् ६ लाख जैन निवास करते हैं, भाद्रपद शुक्ला चतुर्थी को जैन संवत्सरी के नाम से सरकारी छुट्टी सदा से घोषित है।

भाद्रपद शुक्ला ४ की संवत्सरी आगमानुसार है, यह तो श्वेताम्बर मूर्ति पूजक जैन भी नहीं कहते। सुदूर भूतकाल में हुए एक आर्य कालक सूरि नामक जैनाचार्य ने किसी शालिवाहन राजा के कहने से जो कि जैन था और जहाँ वर्षावास के लिए आचार्य पहुँच गए थे, नगर में लोकानुवृत्ति से भाद्रपद शुक्ला ५ को इन्द्र-महोत्सव होने के कारण, पर्यूषणा नहीं हो सकेगी, अतः वह ६ या ४ दोनों में से किसी भी एक दिन मना लिया जाए; शुक्ला ४ को मनाना घोषित कर दिया, क्योंकि आगमानुसार भाद्रपद शुक्ला ५ की पर्यूषणा उल्लंघन नहीं की जा सकती थी। एक स्थानीय कारण से अखिल भारत के श्वेताम्बर जैनों में पर्यूषणा मनाने का दिन शुक्ला ५ की बजाय शुक्ला ४ का कर दिया जाना और उसी को सदा सर्वदा पालन करना उस जैन समाज के बुद्धिवादी आचार्यों और श्रावक-श्राविकाओं के लिए आश्चर्य की ही बात है, जो कि गर्व के साथ सदा ही घोषित करते हैं कि—'युक्तिमद्वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः'।

शुक्ला ४ की संवत्सरी का ही आग्रह रखकर श्वेताम्बर जैन समाज के भेदों को इस बीसवीं सदी में स्थिर रखना चाहिए या नहीं, यह श्वेताम्बर मूर्तिपूजक श्रावकों एवं साधुओं दोनों के लिए ही परम विचारणीय है। सच पूछा जाए तो पर्यूषणा का यथार्थतः संबंध पंच-महाव्रतधारी साधु और साध्वियों से है न कि श्रावकों से। श्रमण श्रमणी के १० आचारों में पर्यूषणा अन्तिम आचार या कल्प है। एक ग्राम में निवास और कषायों के उपशमन की विशिष्ट साधना ही पर्यूषणा कहा जाता है। एक ग्राम में निवास वर्षावास में ही किया जाता है जो जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट–तीन प्रकार का कहा गया है। परन्तु वर्तमान में मध्यम अर्थात् १२० दिन याने आषाढ़ शुक्ला १५ से कार्तिक शुक्ला १५ तक का वर्षावास ही किया जाता है। जब किसी वर्ष में श्रावण अथवा भाद्रपद दो हो जाते हैं जैसे कि इस वर्ष भाद्रपद दो हुए हैं, तो यह वर्षावास अनायास ही उत्कृष्ट अवधि का हो जाता है और तब पर्यूषणा की मान्यता में भी विवाद उपस्थित हो जाता है।

श्वेताम्बर स्थानकवासी जैनाचार्य श्री सोहनलाल जी महाराज ने अपने वर्षों के अथक परिश्रम से जो यह परिणाम निकाला था कि जैनागमानुसार चातुर्मास में अधिमास पड़ना ही नहीं चाहिए, वस्तुतः श्वेताम्बर जैनाचार्यों की यह मान्यता बहुत प्राचीन है। उपाध्याय विनयविजय जी ने जो १७ वीं शती में हुए थे, श्री कल्पसूत्र की सुबोधिका टीका के समाचारी संबंधी नवम व्याख्यान में कहा है कि "युग के मध्य में पौष और युग के अन्त में आषाढ़ मास की वृद्धि होती है, किन्तु अन्य किसी मास की वृद्धि नहीं होती। यह जैन पंचांगानुसार है जो आजकल बिलकुल मालूम नहीं होता है।" जैन पंचांग का जैनों में प्रचार क्यों न रहा और वे वैदिक ज्योतिष के पंचांगानुसार अपने पर्वादि कब से मानने लग गए, यह एक ऐतिहासिक गवेषणा का परंतु रोचक विषय है। यदि जैन विद्वान जैन ज्योतिष को प्रकाश में लाएँ और यह मान्य करा लें कि ज्योतिष गणना से आषाढ़ या पौष मास के अतिरिक्त दूसरा अधिमास हो ही नहीं सकता है तो लौकिक पंचांग की अधिमास की द्विविधा सदा सर्वदा के लिए दूर हो जाए। यहाँ हम वैदिक ज्योतिष से अधिमास की गणना कैसे की जाती है उसका संक्षेप में वर्णन करते हैं और आशा करते हैं कि जैन ज्योतिष के विद्वान भी अधिमास समस्या पर जैन ज्योतिष के अनुसार प्रकाश डालेंगे।

अधिक मास क्यों?

तारीख, वार, तिथि, सौर इत्यादि भेद से दिन ९ प्रकार का होता है। इनमें से प्रत्येक का अपना अपना ३० दिन का मास तथा ३६० दिन का वर्ष होता है। परंतु ये दिन छोटे बड़े होते हैं। इसलिए यदि एक साथ आरंभ किये जाएँ तो भी आगे पीछे हो ही जाते हैं। कार्य विशेष के लिए सब का उपयोग है, इसलिए उन्हें भिन्न भिन्न मानना पड़ता है। काल गणना में सौर मुख्य है। इसलिए प्रति तीसरे वर्ष अधिक मास आने पर भी अथवा हर साल ३६५ दिन के हिसाब से वर्ष होने पर भी ६१ साल में तिथियों के हिसाब से ७३२ मास के स्थान में ७५२ मास या २२२८० तारीखें होती हैं, फिर भी किसी की उम्र ६२॥ वर्ष नहीं, अपितु ६१ वर्ष ही कही जाती है। इसलिए ६१ वर्ष के इस मान से वर्ष गणना होती है। यही मुख्य और सबसे बड़ा मान भी है: इसी को सौरमान कहते हैं। यह सायन और निरयन दो प्रकार का होता है। निरयन सौरमान स्थिर और सायन सौरमान चल है। क्योंकि अयनों का चलन होता है।

निरयन और सायन सौरमान

निरयन सौरमान में अर्थात् ३६० सौर दिनों में ३६५ तारीख ६ घंटे मिनिट आदि, ३६५ वार १५ घटी पल आदि, ३७१ तिथि घटी पल आदि और ३६६ नक्षत्र घटी पल आदि होते हैं; यह एक मान है जो मुख्य है। दूसरे मान कुछ छोटे होने से इसकी अपेक्षा कुछ बढ़ते हैं। इस बढ़े भाग को मल या अधि कहते हैं और बढ़ते बढ़ते जब यह ३० दिन से ज्यादा होता है तो यह मलमास या अधिमास कहलाता है। इस सौरमान से मेल रखते हुए दिनों से ही हिसाब रखने वाले हर साल ५ दिन बढ़ाकर ३६५ दिन के वर्ष की कल्पना करते हैं तथा अधिक घंटों का मिलान करने के लिए प्रति चौथे वर्ष में एक दिन बढ़ाकर २९ दिन की फरवरी की कल्पना करके ३६६ दिन का वर्ष मानते हैं। हमारे देश में ६० दिन का प्रति तीसरे वर्ष एक मास मान लिया जाता है।

६० दिन का कौन मास माना जाए ?

प्रश्न यह उठता है कि १२ महीनों में से कौन मास ६० दिन का माना जाए ? इसके लिए यह व्यवस्था की गई है कि जिन दो अमावस्याओं के बीच में सूर्य-संक्रमण नहीं होता, वह अधिमास या मलमास माना जाए। जिन दो अमावस्याओं के बीच में मेष संक्रांति होती है वह चैत्र; वृष संक्रांति होती है वह वैशाख; मिथुन संक्रांति होती है वह ज्येष्ठ, कर्क संक्रांति होती है वह आषाढ़; सिंह संक्रांति होती है वह श्रावण; कन्या संक्रांति होती है वह भाद्रपद—इत्यादि बारह संक्रांतियों के योग से आश्विन आदि बारह मास होते हैं। इसको प्रकारान्तर से यों भी कहा जा सकता है कि मीन संक्रांति के बाद आने वाली अमावस्या की प्रतिपदा से मेष संक्रांति के बाद आनेवाली अमावस्या तक के जितने दिन होते हैं, उन दिनों के समुदाय को 'चैत्र' कहते हैं; अथवा मीन संक्रांति के बाद की शुक्लपक्ष की प्रतिपदा से वृष संक्रान्ति के पहले की अमावस्या तक के दिन समूह का नाम 'चैत्र' है।

इस वर्ष दो भाद्रपद क्यों ?

ऊपर महीनों के जो लक्षण बताए गए हैं, उसके अनुसार सिंह संक्रांति के बाद की शुक्ल प्रतिपदा से तुला संक्रांति पहले की अमावस्या तक का जो दिन समूह है, उसका नाम भाद्रपद होता है। यदि वह ३० दिन से अधिक होगा तो भाद्रपद अधिक होगा, अन्यथा नहीं। अधिमास का ऊपर जो लक्षण

बताया गया है तदनुसार जिस मास में ३० दिन से अधिक दिन होंगे और दो अमावस्याओं के बीच में सूर्य संक्रांति नहीं होगी, वही अधिक मास होगा और ५९ या ६० दिन का मास होगा, जैसे कि तारीख वाला एक वर्ष ३६५ दिन की बजाय ३६६ दिन का होता है। भारतवर्ष सदा से महीने की वृद्धि ही मानता आया है। अतः महीने से बड़ा जो कालखंड वर्ष है, वह एक बार १३ मासों का होता है, परन्तु चैत्र-वैशाख आदि महीने तो उस में भी १२ ही रहते हैं। तारीख वाले दिन की वृद्धि मानते हैं। इसलिए दिन से बड़ा जो कालखंड मास है वह २८ की बजाय २९ दिन का होने पर भी उसका नाम फरवरी ही कायम रहता है। सबसे कम दिनों का मास वहाँ फरवरी है, इसलिए उसमें ही एक दिन बढ़ाया जाता है।

१७ अगस्त बुधवार को अमावस्या के दिन सिंह संक्रांति है। उसके बाद की प्रतिपदा १८ अगस्त गुरुवार को है और बाद में तुला संक्रांति के पहले की अमावस्या १२ अक्टूबर को है। यह दिन समूह ३० दिन से ज्यादा होने तथा दो अमावस्याओं के बीच में सूर्य-संक्रांति न होने से ही इस वर्ष भाद्रपद अधिक मास हुआ है। प्रथम अमावस्या तक अधिक भाद्रपद मास है।

आश्विन अधिक क्यों नहीं हुआ ?

१७ सितम्बर शनिवार को प्रातः अथवा १६ शुक्रवार की रात की कन्या संक्रांति है, उसी दिन संक्रांति के पहले प्रतिपदा लग जाती है। अतः वह प्रतिपदा संक्रांति के बाद की नहीं कहलाएगी। संक्रांति के बाद की प्रतिपदा फिर १६ अक्टूबर रविवार को है। उस समय से वृश्चिक संक्रांति के पहले की जो अमावस्या है, वह १४ नवम्बर सोमवार को है। उस समय तक तीन दिन से ज्यादा दिन नहीं होने से आश्विन अधिमास नहीं हुआ।

श्रावण अधिक क्यों नहीं हुआ ?

१६ जुलाई को कर्क संक्रांति है। उसके बाद की शुक्ल प्रतिपदा २० जुलाई बुधवार को है। उस समय से कन्या संक्रांति के पहले की अमावस्या १६ सितम्बर शनिवार को है। यह दिन समूह ३० से ज्यादा है अतः श्रावण अधिक होना चाहिए था। परन्तु दो अमावस्याओं के बीच में सिंह संक्रांति आ गई है। यदि १७ अगस्त बुधवार को अमावस्या के दिन सिंह संक्रांति न होती, तो श्रावण ही अधिक होता। परन्तु ऐसा न होने के कारण ३० दिन से ज्यादा दिन होते हुए भी, श्रावण अधिक नहीं हुआ ?

जैन ज्योतिष आषाढ़ एवं पौष का अधिक होना क्यों मानता है ?

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अधिमास की कल्पना,का मुख्य आधार दो अमावस्याओं के बीच में आने वाली संक्रांति ही है और उसीसे वैदिक ज्योतिष में अधिक मास का निश्चय किया जाता है । इस संबन्ध में कभी कभी ज्योतिषियों में मतभेद भी हो जाता है जैसे कि इस साल भी है। कुछ पंचांगकारों के मत से कन्या संक्रांति १६ सितम्बर शुक्रवार को तो दूसरों के मत से १७ सितम्बर शनिवार को है । १६ सितम्बर शुक्रवार को अमावस्या भी है । बाद में आने वाली तुला संक्रांति १७ अक्टूबर सोमवार को है। १६ सितम्बर की अमावस्या के बाद १५ अक्टूबर को पुनः अमावस्या है । इन दो अमावस्याओं के बीच में कोई सूर्य-संक्रान्ति नहीं होती, अतः उनका कहना है कि आश्विन अधिक होना चाहिए। अमावस्या के दिन ही कन्या संक्रांति हो जाती है, अतः वे कहते हैं कि भाद्रपद को अधिक मानना ठीक नहीं। दूसरे पक्ष का कहना है कि १६ सितम्बर को जिस समय कन्या संक्रांति होती है, उस समय अमावस्या नहीं है, अपितु प्रतिपदा लग गई है । दो अमावस्याओं के बीच में कन्या संक्रांति नहीं आई और बाद की संक्रांति दो अमावस्याओं के बीच में आई है, अतः आश्विन अधिक न हो कर भाद्रपद ही अधिक होगा ।

क्या जैन ज्योतिष में अधिमास का आधार कोई अन्य गणना है ? कर्क संक्रांति वाले मास को आषाढ़ और मकर संक्रांति के मास को पौष कहा जाता हैं । क्या हम आशा करें कि कोई जैन ज्योतिर्विद इस पर प्रकाश डालने की कृपा करेंगे ? जैन ज्योतिष के संबन्ध में कितनी ही भ्रांतियाँ फैली हुई हैं । डॉ० थीबो ने इसको यूनानियों के ज्योतिष से प्रभावित बताया था ।

अधिक चान्द्रमास ही होता है ?

अधिक मास चांद्रमास ही होता है। चांद्रमास दो प्रकार का होता है पूर्णिमान्त और अमान्त । देश में दोनों प्रकार के चांद्र मास चलते हैं। पूर्णिमान्त मास से भारत भर में धार्मिक जनता कार्तिक, माघ और वैशाख स्नान करती है । इसका प्रथम पक्ष कृष्ण और दूसरा पक्ष शुक्ल होता है। इसी मास से उत्तरभारत में सर्वदा सब काम होते हैं। परन्तु फिर भी यह गौण चांद्रमास है । प्रधान चांद्रमास अमान्त मास है । इसकी समाप्ति

अमावस्या को होती है। इसका प्रथम पक्ष शुक्ल और दूसरा पक्ष कृष्ण होता है। ज्योतिष शास्त्र में इसी मान को मान कर सब गणना की जाती है। इसलिए अधिमास का प्रथम पक्ष शुक्ल और दूसरा कृष्णपक्ष होता है। और भारतभर में यही मान्य है। उत्तरभारत में अधिक मास के समय पहले शुद्ध मास का कृष्णपक्ष आता है। फिर अधिमास आकर बाद में शुद्ध मास का शुक्लपक्ष आता है। सम्पूर्ण भारत में शुक्लपक्ष का मास नाम एक होता है। परन्तु कृष्णपक्ष का मासनाम भिन्न होता है। उत्तरभारत में जिस पक्ष को वैशाख कृष्ण कहते हैं, दक्षिण भारत में वही चैत्र कृष्ण कहा जाता है। केवल नाम का फेर है। इस मान्यता से संवत्सरी पर्व द्वितीय भाद्रपद शुक्ला ४ या ५ को ही माना जाना चाहिए और पर्यूषणा का प्रारम्भ द्वितीय भाद्रपद कृष्ण १२ या १३ से होना चाहिए। गणेश चतुर्थी, ऋषि पंचमी आदि सनातनी पर्व द्वितीय भाद्रपद शुक्ला ४ और ५ को ही माने जाएँगे। जैन पंचांग को तो हम भूल गए। परन्तु लौकिक पंचांग की मान्यता में भी हम एकमत नहीं है।

क्षयमास की व्यवस्था

वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन द्वारा प्रकाशित काशी पंचांग से हमने अधिमास मीमांसा का उपरोक्त अंश उद्धृत किया है। उसी पंचांग में यह भी लिखा है कि मलमास दो प्रकार के होते हैं, एक अधिकमास और दूसरा क्षयमास। जिन दो अमावस्याओं के बीच मे सूर्य की संक्रांति नहीं होती, वह अधिमास नाम का मलमास होता है। और जिन दो अमावस्याओं के बीच में दो संक्रांति होती है, वह क्षयमास नाम का मलमास होता है। एक अधिक मास के बाद दूसरा अधिक मास तीस से लेकर अडतीस मासों के भीतर हो ही जाता है। परंतु क्षयमास इतना शीघ्र नहीं होता। वह १४१ वर्षों में होता है अथवा १९ वर्षों में भी हो सकता है। पिछला क्षयमास किस विक्रम संवत् में हुआ था, यह तो प्राचीन पंचांगों को टटोलने से ही पता चल सकता है। हाँ, १९ वर्ष की किसी अवधि में पिछले सौ वर्षो में क्षयमास नहीं हुआ, यह निःसंदेह कहा जा सकता है। परन्तु जिस ज्योतिष के गणित के आधार पर अधिमास के कारण हम अपनी पर्यूषणा आगे-पीछे सरका लेते रहे हैं, उसी के गणित से घोषित क्षयमास के समय क्या हम पर्युषणा का उस वर्ष क्षय भी कर देंगे? हम लोगों की स्मृति में क्षयमास नहीं हुआ हो, परन्तु इसकी संभावना को

अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। इसलिए उचित तो यही है कि हम अपने धार्मिक व्यवहारों में जैन पंचांग का ही प्रतिपालन करें और ऐसे पंचांग निर्माण का संगठित प्रयत्न जो अब तक नहीं हुआ है, सभी संप्रदाय मिलजुल कर अवश्य और शीघ्र करें।

नेपोलियन बोनापार्ट और एक बुढ़िया

नेपोलियन अपनी सेना को लेकर किले से बाहर निकला। सामने गगन-चुम्बी एल्पस पर्वत ऊँचा सिर किए खड़ा था। मानों घोषणा कर रहा था—आज तक कोई मुझे पार न कर सका। केवल आकाश ही मुझसे ऊपर है। किसी मनुष्य की क्या ताकत कि मेरे सिर पर अपना पग रख सके। नेपोलियन ने अपनी सेना को आज्ञा दी—"ऊपर चढ़ जाओ"। एक बुढ़िया अपनी झोंपड़ी के आँगन में बैठी लकड़ियाँ काट रही थी। नेपोलियन की आज्ञा सुन कर कहने लगी—"व्यर्थ जान क्यों गँवाते हो! तुम्हारे जैसे सैकड़ों व्यक्ति यहाँ आए और मुँह-की खाकर वापस चले गए। उनकी सेनाएँ और उनके घोड़े मेरे देखते-देखते विनाश के गर्भ में समा गए। अस्थियाँ तक आज कहीं शेष नहीं मिलतीं।"

नेपोलियन ने हीरों का एक हार बुढ़िया को भेंट किया और कहा—"मैं तुम्हें धन्यवाद देता हूँ। तुमने मेरे उत्साह में नवीन जीवन संचार किया है। मैं पर्वत की ऊँचाई देख कर घबड़ा रहा था, परन्तु तुम्हारी बातों ने आज मेरा साहस बढ़ा दिया है। मैं भी दूसरों की तरह मर जाना चाहता हूँ। यदि जीवित दूसरी ओर चला गया तो मेरे नाम का डंका बजाना तुम्हारा कर्तव्य होगा।"

बुढ़िया ने कहा—"तुम पहले व्यक्ति हो जिसने मेरी बात सुनकर वापस जाने से इनकार किया। मुझे निश्चय है तुम अवश्य सफल होगे।" और नेपोलियन वास्तव में सफल भी हुआ।

—'गुलदस्ता' से

दीपमाला : एक आध्यात्मिक पर्व

—पं० श्री ज्ञानमुनि जी महाराज

जैन दृष्टि से दीपमाला एक आध्यात्मिक पर्व है और इसकी मान्यता है कि सांसारिक आमोद-प्रमोद के साथ इस पर्व का कोई संबन्ध नहीं है; बल्कि महापर्व संवत्सरी की भाँति यह पर्व भी मानव जाति को प्रतिवर्ष आध्यात्मिकता तथा सच्चरित्रता का पावन मधुर संदेश देने आता है। अज्ञान-अन्धकार से निकल कर आध्यात्मिक आलोक से आत्म मन्दिर को आलोकित कर लेना ही इसका अपना स्वरूप है। काम, क्रोध, मद, मोह, माया आदि का कूड़ा-करकट जो आत्मभवन में बिखरा पड़ा है, दीपमाला पर्व उसका मृदुता, सरलता, सरसता आदि के झाड़ू से परिमार्जन करता है। यह मानव हृदय में जल रहे सत्य, अहिंसा के आदर्श दीपों को सतत सजग रखने की मधुर प्रेरणा देकर मानवता का अनुपम पाठ पढ़ाता है।

जैन लोग बड़ी श्रद्धा तथा आस्था के साथ इस पर्व को मनाते हैं, इसके उपलक्ष्य में धर्मप्रेमी लोग अधिकाधिक धार्मिक अनुष्ठान करते हैं, तप करते हैं, जप करते हैं और शास्त्र स्वाध्याय करते हुए ज्ञान ध्यान द्वारा अपने भविष्य को उज्ज्वल बनाने का प्रयास करते हैं। प्रश्न हो सकता है कि जैन समाज में दीपमाला के संबन्ध में इतना आदर क्यों पाया जाता है? क्या कारण है कि दीपमाला को एक पवित्र और आध्यात्मिक पर्व समझा गया है। इसी के संबन्ध में हम यहां कुछ बातों पर विचार करना चाहते हैं।

कल्पसूत्र में लिखा है कि भगवान महावीर का अंतिम चातुर्मास भूपति हस्तिपाल की विशाल नगरी पावापुरी में हुआ था। चातुर्मास के १०५ दिन व्यतीत हो चुके थे। कार्तिक मास की अमावस्या की रात्रि थी। उस समय पौषधशाला में नव मल्ल और नव लिच्छवी अठारह गणराज भगवान की सेवा में पौषध व्रत धारण करके धर्मोपदेश सुन रहे थे। भगवान सत्य अहिंसा की पावन अमृत धारा से उपस्थित राजा आदि लोगों के हृदय पौधों को सींच रहे थे। एक ओर भगवान का भामण्डल अपनी छटा दिखा रहा था, दूसरी

ओर भगवान का ज्ञानालोक साधकों के आत्म मन्दिर में ज्ञान के दीपक जला रहा था। उस समय का वातावरण कितना सात्विक और आध्यात्मिक होगा ? यह साक्षात् अनुभवी और विशिष्ट ज्ञानी के अतिरिक्त कौन कह सकता है ?

यह निश्चित है कि जो बना है उसे नष्ट होना है, जिसका उदय होता है उसका अस्त होता है, जिसने जन्म लिया है उसे एक दिन मरना है। काल का प्रभाव राजा-रंक, ज्ञानी-अज्ञानी, योगी-भोगी, दुरात्मा-महात्मा, नीच-ऊँच सभी पर होता है। कोई संसारी जीव अपने को इस प्रभाव से बचा नहीं सका है। और तो क्या स्वयं भगवान महावीर भी इसके प्रभाव से न बच सके। कार्तिक अमावस्या की काली रात्रि में भगवान निर्वाण को प्राप्त हो गए, इस पार्थिव शरीर को छोड़कर मुक्ति धाम में जा विराजे, जन्म मरण के दुःखों से सदा के लिए मुक्त हो गए।

सूर्यास्त होने पर अन्धकार जैसे अपना प्रभाव जमा लेता है, वैसे ही सत्य अहिंसा के दिवाकर भगवान महावीर का निर्वाण हो जाने पर भामण्डल का प्रकाश समाप्त हो गया जिससे चारों ओर अन्धकार फैल गया। ऐसी स्थिति में भगवान के समवशरण में उपस्थित राजा लोगों ने रत्नों का प्रकाश किया। भाव-उद्योत की स्मृति में द्रव्य उद्योत की प्रतिष्ठा की गई। फिर क्या था, चारों ओर प्रकाश जगमगा उठा।

भगवान महावीर के भाव-उद्योत की पुण्य-स्मृति में किया गया द्रव्य उद्योत-रत्नों का प्रकाश पावापुरी तक ही सीमित नहीं रहा, पावापुरी से बाहर भी सभी प्रदेशों में होने लगा। सभी स्थानों में कार्तिक अमावस्या की रात्रि में रत्नों तथा दीपकों का प्रकाश करके भगवान महावीर के निर्वाण दिवस की पुण्य स्मृति को ताजा किया जाने लगा। आगे चल कर यही पुण्य स्मृति एक पर्व के रूप में परिणत हो गई। जैन नरेशों के प्रभाव से तथा भगवान महावीर के अपने महान् आध्यात्मिक व्यक्तित्व के कारण धीरे २ सारे भारतवर्ष में यह पर्व मनाया जाने लगा, कार्तिक अमावस्या को सर्वत्र दीपमाला जलाकर भगवान महावीर के लोकोपकारों को याद किया जाने लगा तथा सत्य, अहिंसा के अनुपम सिद्धान्तों से भाव-उद्योत प्राप्त करने का रहस्य लोगों को समझाया जाने लगा। २४०० वर्ष पहले की दीपमाला आज भी भारत में बड़े समारोह के साथ मनाई जा रही है। आज भी दीपमाला के माध्यम से भगवान महावीर का सत्य अहिंसा का सत्य संदेश जन मानस तक

पहुंचाया जाता है। भगवान महावीर के साथ दीपमाला का सीधा संबन्ध होने से यह पर्व वीर-निर्वाण महापर्व के नाम से भी कहा जाता है।

जैन समाज के लिए दीपमाला के महत्व तथा सम्मान का एक और भी कारण है। कल्पसूत्र का कथानक है कि भगवान महावीर ने अपने जीवन के संध्याकाल में अपने प्रधान शिष्य इन्द्रभूति गौतम को देवशर्मा नाम के ब्राह्मण को सत्य अहिंसा के महापथ का पथिक बनाने के लिए तथा उसे आत्मशुद्धि का परम सत्य समझाने के लिए भेजा था। भगवान के आदेशानुसार जब गौतमस्वामी देवशर्मा को अध्यात्मवाद का पाठ पढ़ाकर वापिस आ रहे थे तो अकस्मात् भगवान के निर्वाण हो जाने की बात सुनी। शास्त्र कहता है—निर्वाण के वृत्तान्त को सुनकर भगवान गौतम वज्राहत की भाँति शोक सागर में डूब गए। उन्हें मार्मिक वेदना हुई, वे पितृवियोग जन्य दुःखों से पीड़ित हुए बालक की भाँति रो पड़े। अन्त में वे सँभले। वीतरागता के आदर्श ने उनका मार्गदर्शन किया। संसार में न मैं किसी का हूँ और न कोई मेरा है। अज्ञानी जीव व्यर्थ मोह के दलदल में फँसा रहता है—यह परम सत्य श्री गौतम के सामने साकार बनकर खड़ा हो गया। इस सात्विक तथा धार्मिक विचारणा की पराकाष्ठा के सुदर्शन चक्र ने मोह के कर्म सेनापति को सदा के लिए शान्त कर दिया। सेनापति मोह के गिरते ही श्री गौतम को केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई। उनका अन्तरात्मा केवलज्ञान के आलोक से जगमगा उठा।

दीपमाला की रात्रि में दो महान् मांगलिक कार्य सम्पन्न हुए थे। एक भगवान महावीर का निर्वाण और दूसरे भगवान गौतम को केवलज्ञान की प्राप्ति। यही कारण है कि दीपमाला की रात्रि ख़ासकर जैनों के लिए परम आराध्य तथा परम उपास्य बन गई। जैन लोग इस रात्रि को सबसे महत्वपूर्ण तथा आत्मशुद्धि की सर्वोत्तम संदेशवाहिका रात्रि समझते हैं। शास्त्र कहता है कि इस रात्रि में स्वर्ग के निवासी देवी-देवताओं ने भी वीर निर्वाण और केवलज्ञान का महोत्सव मनाकर वीरप्रभु तथा श्री गौतम को अपनी श्रद्धांजलियाँ अर्पित की थीं।

आज की दीपमाला अपने मूल रूप को खो बैठी है। आध्यात्मिक दृष्टि से उसमें अनेकानेक विकार आ गए हैं। आज मंगलमूर्ति भगवान महावीर के अनन्त-ज्ञान दर्शन के प्रतीक भाव उद्योत का हमें ज़रा भी ध्यान नहीं आता। आत्म-शान्ति तथा आत्म-कल्याण के लिए सत्य, अहिंसा, संयम, तप, शान्ति,

संतोष तथा आध्यात्मिक पवित्रता की एक किरण भी हम अपने अंदर पैदा नहीं करते। दीपमाला की रात्रि में किया गया द्रव्य उद्योत भाव उद्योत का प्रतीक है, यह तथ्य आज हमारे मस्तिष्क से निकल गया है। आज हम पर्व के मूल धर्म को भूल गए हैं। बाह्य आडंबरों की पूर्ति में ही पर्व-आराधना समझ बैठे है। मकानों की सफाई में सैकड़ों रुपए व्यय कर देते हैं, किन्तु आध्यात्मिक विकारों की शुद्धि पर तनिक भी ध्यान नहीं देते। लक्ष्मी का पूजन करने के लिए सारी रात्रि का जागरण करने को प्रस्तुत हो जाते हैं; किन्तु आनन्द और शान्ति की भाव लक्ष्मी को प्राप्त करने के लिए कुछ भी प्रयास नहीं करते। दीपमाला महान् पर्व है तथापि हम मिठाइयों के खाने-खिलाने में इसे खो देते हैं। वास्तव में हमें किसी पर्व के शरीर की पूजा न कर उसकी आत्मा की ही पूजा करनी चाहिए, उस पर्व की मूल भावना को पहचाननी चाहिए और उसमें निहित प्रकाश पुंज से अपने आंतरिक जीवन को प्रकाशित करना चाहिए, तभी हमारा पर्व-आराधन सफल हो सकता है अन्यथा हम पर्व के यथार्थ फल से वंचित ही रह जाएँगे।

आप विस्मित होंगे कि आज भी लोगों में कितना भीषण अन्ध-विश्वास बैठा हुआ है। एक बार एक सज्जन ने कहा कि जो व्यक्ति दीपमाला की रात्रि को जुआ नहीं खेलता वह मर कर गधा बनता है। मैंने कहा—जुआ खेलने वाले को इस जन्म में पशु बनते तो हमने देखा है। परलोक में उनकी क्या दुर्दशा होती होगी यह भगवान जाने!

लोगों में कुछ ऐसा अन्ध-विश्वास घर कर गया है कि वे लकीर के फकीर बनते जा रहे हैं। अपना हानिलाभ भी सोचने का कष्ट नहीं करते। पर्वों के असली रूप को भुला सा दिया है। जुए जैसे व्यसन को भी वे पर्व की आराधना समझ बैठे हैं। मेरा विश्वास है कि यदि मानव ऐसे अन्ध-विश्वासों की छाया तले पर्वों के महासागर में लाखों बार डुबकियां लगाता रहे, तब भी वह वहां से सूखा ही निकलेगा। उसे आत्म शुद्धि का एक कण भी प्राप्त नहीं हो सकता।

अब अन्धकार का युग लद गया है। आज के प्रगतिशील युग में हमें सँभलना चाहिए और पर्वों के मूल भाव को समझ कर उनकी विशेषताओं से अपने जीवनाकाश को आलोकित करना चाहिए। तभी ये दीपमाला जैसे पर्व हमारे भविष्य को उज्ज्वल-समुज्ज्वल बनाने में सफल हो सकेंगे।

आई है फिर दीवाली

(१)

पूर्ण अहिंसक बनकर जिसने, करुणा-जल बरसाया था,
जगद्-हितैषी बनकर जिसने, सब जग को अपनाया था।
सहे परीषह भारी जिसने, सही आपदा अतिकाली,
उसी वीर की याद दिलाने, आई है फिर दीवाली ॥

(२)

सागर-वर-गंभीर रहा जो, अचल रहा था सुरगिरि-सम,
शुद्ध-बुद्ध था शांत-दांत था, जीवन था जिसका निर्मम।
समता का साकार रूप था, धीर वीर प्रतिभाशाली,
उसी वीर की याद दिलाने, आई है फिर दीवाली ॥

(३)

धधक रहा था दावानल जब, हिंसा का अतिशय भारी,
त्राहि-त्राहि थी मचा रही जब, दुनिया की जनता सारी।
उसी समय में आकर जिसने, की थी जग की रखवाली,
उसी वीर की याद दिलाने, आई है फिर दीवाली ॥

(४)

स्वार्थ-साधना-रत होकर जो, दीनों को ठुकराते थे,
अत्याचारी होकर भी जो, धर्म-धनी बन जाते थे।
उनको शिक्षा दी थी जिसने, दान दयामय व्रतवाली,
उसी वीर की याद दिलाने, आई है फिर दीवाली ॥

(५)

जीवन भर निरपेक्ष रहा, जो करता रहा स्व-पर कल्याण,
कार्तिक बहुला अमारात्रि में, पाया जिसने पद निर्वाण।
इसी याद में पर्व हुआ, यह मंगलमाला दीवाली,
उसी वीर की याद दिलाने, आई है फिर दीवाली ॥

—मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'

श्रमण भगवान महावीर की शिष्य-संपदा

—मुनि श्री फूलचन्द जी 'श्रमण'

१. गौतम इन्द्रभूति आदि १४ हजार साधुओं की उत्कृष्ट साधु-संपदा हुई।

२. चन्दनबाला आदि ३६ हजार साध्वियों की उत्कृष्ट साध्वी-सम्पदा हुई।

३. शंख और शतक आदि श्रमणोपासक १ लाख, ५९ हजार उत्कृष्ट श्रमणो-पासक-सम्पदा थी।

४. सुलसा और रेवती प्रमुख श्रमणोपासिका ३ लाख, १८ हजार उत्कृष्ट श्रमणोपासिका-सम्पदा थी।

५. श्रुतज्ञान के पारगामी, जिन-सदृश सत्यवादी, चौदह पूर्वधारी मुनिराजों की सम्पदा ३०० की थी।

६. आमर्ष-औषधि आदि लब्धि वाले १३००, अवधिज्ञानियों की सम्पदा थी।

७. केवलज्ञानी और केवलदर्शनधारियों की ७०० उत्कृष्ट सम्पदा थी।

८. देवता नहीं किन्तु देवों ही के समान ऋद्धि विक्रिया करने में समर्थ ७०० वैक्रिय लब्धिधारी मुनिराजों की महा सम्पदा थी।

९. विपुलमति मनःपर्यव ज्ञानियों की उत्कृष्ट ५०० की सम्पदा थी।

१०. देवता, मनुष्य एवं असुरों की सभा में विजय पाने वाले शास्त्रार्थ-महारथी मुनिराजों की उत्कृष्ट ४०० की सम्पदा थी।

११. आगामी मनुष्य गति में मोक्षरूप कल्याण वाले अर्थात् आगामी भव में सिद्ध होने वाले ऐसे अनुत्तर विमानों में जाकर उत्पन्न होने वाले ८०० मुनिराजों की सम्पदा थी।

[शेष पृष्ठ ३३ पर]

जीवन का अंतिम साधना

—श्री सत्यदेव विद्यालंकार

तपोनिष्ठ आत्मसाधक आचार्य श्री शान्तिसागर जी महाराज ने ८४ वर्ष की वृद्धावस्था में कुन्थलगिरि पर जिस साधना का अनुष्ठान किया उसका महत्व ठीक-ठीक आँका नहीं गया। इसका कारण यह है कि जिन जैन लोगों को इस साधना का महत्व मालूम होना चाहिए, उनमें व्यक्ति पूजा इतना अधिक घर कर गई है कि उनकी दृष्टि आचार्यश्री के महान व्यक्तित्व पर ही सीमित रह गई और उन्होंने उनकी महान साधना पर उचित ध्यान नहीं दिया। जो जैन नहीं हैं वे इस साधना के स्वरूप को जानते ही नहीं। इसलिए उनका ध्यान इस साधना के महत्व पर जा ही नहीं सकता था। समाचार पत्रों और रेडियो ने भी उसको 'आमरण अनशन' का नाम दे दिया। इसको स्वेच्छा से मृत्यु को स्वीकार करना भी कहा गया। वास्तव में दोनों ही बातें सर्वथा सत्य नहीं हैं।

अन्य अनेक धर्मों के समान जैन धर्म में भी आत्महत्या सर्वथा निषिद्ध है। जैन मुनि के लिए तो और भी अधिक निषिद्ध है। सब सांसारिक इच्छाओं का परित्याग कर देने वाला मुनि मृत्यु की भी इच्छा नहीं कर सकता। इसलिए उसके द्वारा आमरण अनशन करना अथवा आमरण समाधि से इच्छा पूर्वक मृत्यु को स्वीकार करना उसकी मर्यादा के विपरीत है। आमरण अनशन एक राजनीतिक अथवा सामाजिक हथियार बन चुका है, जिसका उपयोग किसी हेतु विशेष की पूर्ति के लिए किया जाता है। मुनि किसी भी ऐसे हेतु के लिए आमरण अनशन तो क्या, कुछ भी कर नहीं सकता। उसके लिए किसी भी हेतु की इच्छा या कामना करना ही निषिद्ध है। इसलिए वह मृत्यु की इच्छा से भी अनशन कर नहीं सकता। इसलिए इस साधना को इस रूप में देखना ठीक नहीं है।

जैन धर्म में इस साधना को संल्लेखना अथवा संथारा कहा गया है। संल्लेखना का अर्थ है समान दृष्टि, अर्थात् समान रूप से देखना और किसी भी ओर

कुछ भी झुकाव नहीं रखना। संल्लेखना की साधना करने वाला जीवन और मरण को समान रूप से देखता है। न उसमें जीने की इच्छा रह जाती है और न वह मरने की इच्छा रखता है। यदि कदाचित् मृत्यु से बच कर उसको फिर से स्वास्थ्य लाभ हो जाए तो वह जबरन मरेगा नहीं, अपितु फिर से अपने को लोक कल्याण में लगा देगा। यदि कहीं मृत्यु ही सामने आ खड़ी होगी, तो उसका उसको कोई दुःख या विषाद नहीं होगा। गीता के अनुसार सुख-दुख अथवा हानि-लाभ को समान समझने की जिस स्थिति में व्यक्ति सब पापों से मुक्त माना गया है, ठीक वही स्थिति जीवन-मरण के संबन्ध में उस व्यक्ति की हो जाती है जो संल्लेखना अथवा संथारा की साधना में अपने को लगा देता है। वह जीवन-मरण की भावना से बिल्कुल ऊपर उठ जाता है।

एक और दृष्टि से भी इस संबन्ध में विचार करना चाहिए। सभी धर्मों में सामाजिक दृष्टि से मानव के जीवन का ऐसा क्रम बनाया गया है जिससे वह अपने जीवन के विकास तथा उत्कर्ष को उच्चतम सीढ़ी पर पहुँचा सकता है। हिन्दू धर्म की वर्णाश्रम व्यवस्था का यही अभिप्राय था। जैन धर्म में इस व्यवस्था को ११ प्रतिमाओं में बाँटा गया है, जिनमें अणुव्रतों का क्रमशः पालन करते हुए मनुष्य क्षुल्लक आदि अवस्थाओं में से गुजरते हुए मुनि व यति अवस्था को प्राप्त करता है। इसमें सब परिग्रहों का सर्वथा परित्याग कर अकिंचन अवस्था में रहता है। कोई पदार्थ परिग्रह के रूप में अपने पास नहीं रखता। गोचरी करके भोजन तथा पानी आदि को ग्रहण करता है। किसी भी सवारी का प्रयोग न करके पैदल नंगे पैरों भ्रमण करता है। महाव्रतों का पालन उसके लिए अनिवार्य हो जाता है। इस प्रकार क्रमशः जीवन के विकास में लगे हुए मानव के पैर जीवन के ऊँचे से ऊँचे और टेढ़े से टेढ़े पथ पर भी कभी डगमगा नहीं सकते, टांगे लड़खड़ा नहीं सकतीं और सांस फूल नहीं सकता। जीवन की किसी भी मंजिल पर थक कर वह रुक नहीं सकते ; [illegible] अवस्था के अन्त में, जब मुनि यह अनुभव करता है कि उससे लोक कल्याण का कोई कार्य होना संभव नहीं है, तब वह अशक्त व वृद्धावस्था में संल्लेखना की साधना का अनुष्ठान करता है। अन्न आदि सब कुछ का परित्याग कर कुछ दिनों के अन्तर से केवल पानी लेता है और अन्त में पानी लेना भी छोड़ देता है।

इस स्थिति में जीवित अवस्था में ही उसका शरीर से नाता छूट जाता है। सब कषायों का सर्वथा परित्याग कर देता है। केवल आत्म-साधना में उसकी दृष्टि लग जाती है। वीतराग के परम पथ को प्राप्त करके वह विशुद्धता की स्थिति में पहुँच जाता है। गीता में कहा है कि जिस भावना के साथ व्यक्ति की मृत्यु होती है उसी के अनुसार वह दूसरा जन्म प्राप्त करता है। कल्पना कीजिए कि संलेखना की परम साधना करते हुए जिस व्यक्ति के इस जीवन का अंत होगा, उसका अगला जन्म कितना शुद्ध, कितना पवित्र और कितना निर्मल होगा? अपने जीवन में संलेखना की अंतिम साधना करने वाला न केवल अपने जन्म-जन्मान्तर के लिए, अपितु समस्त मानव के लिए पवित्रता का वातावरण पैदा करता है। आचार्य श्री शान्तिसागर जी की साधना का यही महत्व है। नैतिक जीवन की दृष्टि से जब मानव दिवालिया सा बनता जा रहा है, तब इस साधना का महत्व और भी अधिक आँका जाना चाहिए।

[पृष्ठ ३० से आगें]

१२. ७०० शिष्य और १४०० साध्वियां सर्वदुःखों से मुक्त होकर सिद्ध हुईं।

१३. आठ राजा श्रमण भगवान महावीर के पास जैन दीक्षा ग्रहण करके कृतकृत्य बने।

१४. श्रमण भगवान महावीर के निर्वाण होने के पश्चात् ६४ वर्ष तक इस भरत क्षेत्र में केवलज्ञानियों की पर्याय रही है।

१५. हजार वर्ष तक पूर्वधर रहे हैं तत्पश्चात् पूर्वों का ज्ञान विच्छेद हो गया।

१६. दो हजार वर्ष तक चतुर्विध श्री संघ पर भस्मग्रह की क्रूर दृष्टि रही।

१७. शासनपति भगवान के दो गणधर दुःषमा-काल (पंचम आरे) में निर्वाण को प्राप्त हुए।

१८. भगवान महावीर का शासन २१००० वर्ष तक अखण्ड रूप से चलता रहेगा।

चित्र-परिचय

—डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल

वर्ष ७ अंक १ से 'श्रमण' के मुख पृष्ठ के चित्र में परिवर्तन किया गया है। यह चित्र मथुरा की जैन शिल्प-कला के आधार पर बनाया गया है। इसकी मुख्य आकृति अष्ट मंगलक-माला और चक्रध्वज के मिलाने से कल्पित की गई है। ये दोनों चित्र कंकाली टीले से मिले हुए आयाग-पट्ट से लिये गए हैं। यह आयाग-पट्ट इस समय लखनऊ के राजकीय संग्रहालय में सुरक्षित है। संख्या जे २४९ (J 249) आयाग-पट्ट पर उत्कीर्ण लेख से ज्ञात होता है कि सिहक वाणिक के पुत्र सिंह नादिक ने अर्हन्त की पूजा के लिए इस आयाग-पट्ट की स्थापना की थी। यह आयाग-पट्ट मथुरा से मिले हुए सब आयाग-पट्टों में कला की दृष्टि से सर्व श्रेष्ठ है। इसी के आधार पर वर्तमान चित्र तैयार किया गया है। सुविधानुसार अष्ट मंगलक-माला और चक्रध्वज स्तंभ केवल ये ही दो अलंकरण यहां लिये गए हैं। अष्ट मंगलक-माला में अष्ट मांगलिक चिह्न होते थे। जिनमें से चार ऊपर की पट्टी में और चार नीचे की पट्टी में दिखाये गए हैं। ऊपर की पट्टी में जो चिह्न हैं उनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—

१ मीन मिथुन, २ देव विमानगृह, ३ श्रीवत्स, ४ वर्धमानक।

नीचे की पट्टी में मांगलिक चिह्नों के नाम इस प्रकार हैं—

५ त्रिरत्न, ६ पुष्पमाला, ७ वैजयन्ती, और ८ पूर्णघट।

अष्ट मांगलिक चिह्नों की एक सूची प्राचीन जैनागमों में मिलती है, जो इस प्रकार हैं—

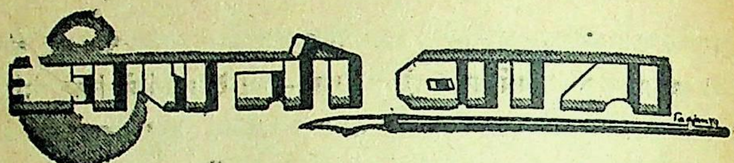
१ स्वस्ति, २ श्रीवत्स, ३ नन्द्यावर्त, ४ वर्धमानक, ५ भद्रासन, ६ कलश, ७ मत्स्य और ८ दर्पण—(औपपातिक सूत्र)

पाठक देखेंगे कि अष्ट मांगलिक चिह्नों की यह सूची उससे कुछ भिन्न है, जो आयाग-पट्ट पर अंकित है। दोनों में चार चिह्न निश्चयरूपेण समान हैं अर्थात् श्रीवत्स, वर्धमानक, कलश और मत्स्य। कलश और मत्स्य के पहचानने में कोई कठिनाई नहीं है। ऊपर की पंक्ति में जो दूसरा चिह्न है, उसकी पहचान मैंने देव विमान से की है, जिसमें चारों ओर तोरण और छत बनी है। उसके बाद का चिह्न श्रीवत्स है। इसी प्रकार का चिह्न मथुरा से मिली हुई तीर्थंकर मूर्तियों के वक्षस्थल पर भी प्रायः मिलता है।

अतएव इसकी पहचान श्रीवत्स से संभव ज्ञात होती है। उसके बाद का चौथा चिह्न वर्धमानक है। वर्धमान मिट्टी के शराव—शकोरे के अर्थ में संस्कृत साहित्य में आता है। यहाँ दो शरावों को मिलाकर वर्धमान चिह्न बनाया गया है। शरावों में मिष्टान्न या फल रखे हैं। इस प्रकार से शरावों को ऊपर नीचे रखकर उनमें छेद कर के और डोरी पिरोकर विवाह आदि मांगलिक अवसरों पर द्वार पर रखने की प्रथा है। जिसमें कभी कभी एक जोड़ी से अधिक तीन जोड़ी शराव डोरी में ऊपर-नीचे पिरोये जाते हैं। अतएव यह अनुमान होता है कि इस मांगलिक चिह्न की परंपरा समाज में दीर्घकाल से चलती आ रही है।

दूसरी पट्टी में पहला चिह्न त्रिरत्न है, जो प्रसिद्ध है। यह प्राचीन जैन और बौद्ध कला— दोनों में प्रयुक्त होता था। इसके बाद का चिह्न भी निश्चय रूपेण पहचाना जाता है। पत्तों से बने हुए एक बड़े दोने में फूलमाला लपेटी हुई रखी है। इसी को पुष्प-दाम या पुष्प-स्रज कहा जाता था। त्रिशला ने अपने चौदह स्वप्नों में पुष्पमाला के भी दर्शन किये थे। इसी रूप में पुष्पमाला का अंकन कुषाण-कालीन मथुरा कला में बहुत मिलता है। इसके बाद का तीसरा चिह्न कुछ विवादास्पद हो सकता है। मैंने इसकी पहचान इन्द्रध्वज या वैजयन्ती से की है; जो मांगलिक चिह्न माना जाता था। इन्द्र-ध्वज का चिह्न प्राचीन लोकधर्म में भी था। जैनों के स्थापत्य और शिल्प में भी उसका स्थान था। यह चिह्न विशेष रूप से प्राचीन मुद्राओं पर मिलता है। इस चिह्न में और आयाग-पट्ट के चिह्न में ऊपर का त्रिकोणात्मक भाग एक-सा है। किन्तु नीचे के हिस्से में दोनों में भेद है। नीचे की पंक्ति का चौथा चिह्न स्पष्ट ही पूर्णघट या मंगल कलश है। अष्ट मांगलिक चिह्नों की माला को लोग रक्षाकवच की तरह धारण करते थे। बाण ने इसे अष्ट-मंगलक-माला कहा है। जैन धर्म में इन अष्ट मांगलिक चिह्नों का विशेष महत्व सदा से रहा है। कल्पसूत्र आदि की सचित्र पोथियों तथा सचित्र विज्ञप्ति पत्रों में ये चिह्न पाये जाते हैं। मथुरा कला का यह प्रमाण लगभग पहली शती ईसवी के आरंभ का है। अष्ट मांगलिक चिह्नों के बीच उन्हें मिलाने वाला जो स्तम्भ है, उसके सिरे पर धर्मचक्र बना है। इस कारण उसे चक्रध्वज या चक्रांकित स्तम्भ कहा गया है। जैन साहित्य में अन्य ध्वजाओं के साथ चक्रध्वज (चक्कज्झय) का भी उल्लेख मिलता है।

यही मुख पृष्ठ के चित्र का संक्षिप्त परिचय है।



श्रमण ७ वें वर्ष में

श्रमण इसी नवम्बर अंक से छ साल की शिशु-अवस्था पार करके सातवें वर्ष की किशोर-अवस्था में क़दम रख रहा है। किसी भी सांस्कृतिक एवं साहित्यिक पत्र-पत्रिका के लिए इतनी अवस्था प्राप्त कर लेना शुभ कहा जा सकता है। हमने देखा है कि इन छ सालों में एक से एक पत्र-पत्रिकाएँ निकलीं और गईं; जिनके पीछे बड़े बड़े भाव और अरमान थे। किसी को पीठबल नहीं मिला, किसी को आर्थिक भूख का शिकार होना पड़ा। कठिनाइयाँ श्रमण के सामने भी कम नहीं आईं, वे अब भी मुँहबाए खड़ी हैं। पर इसका सबसे बड़ा सौभाग्य यह है कि इसकी मातृसंस्था—श्री सोहनलाल जैन धर्म प्रचारक समिति (अमृतसर) का इस पर वरद हाथ रहा है और प्रेम व वत्सलभाव बना हुआ है। प्रतिवर्ष हानि उठा कर भी इसका संरक्षण व पालन-पोषण होता रहा है। यही उत्साह एवं वत्सलभाव हमारे प्रेमी पाठकों में आ जाए तो यह पत्र बहुत जल्द अपने पैरों खड़ा हो सकता है। हम जानते हैं कि इसके संमानित लेखकों, प्रशंसकों और शुभाभिलाषियों का कृपाभाव कम नहीं है। सच पूछा जाए, तो इसी बल पर यह आगे बढ़ रहा है। हमें यदि थोड़ी निराशा है और कुछ कहना है तो अपने कृपालु ग्राहकों और पाठकों से। वे बीच-बीच में इसका निरादर सा कर डालते हैं जिससे मन पर चोट लगती है और उत्साह टूटने लगता है। पहली बात तो यह है कि इसका जितना चाहिए प्रचार नहीं बढ़ रहा है। ख़ासकर ग्राहक बनते-ढहते रहते हैं। यह स्थिति अच्छी नहीं। हमने बहुत विचार किया है। ग्राहकों की बड़ी शिकायत यह है कि वे इसे कठिन व गंभीर समझते हैं। ख़ासकर पंजाब के रहने वाले, जहां पर कि श्रमण का बड़ा प्रचारक्षेत्र है। दूसरे इसमें प्रचलित पत्र-पत्रिकाओं की तरह सज-धज के साथ मनोरंजक सामग्री भी उन्हें शायद कम ही मिलती है। हम स्वयं इन बातों को किसी हद तक अनुभव करते हैं। पर हमारा निवेदन यह है कि श्रमण जैसे सांस्कृतिक पत्रों से उन्हें यह आशा ही क्यों रखनी चाहिए। हम तो बल्कि यह कहते हैं कि वे ऐसे पत्रों को निरा अख़बार ही क्यों समझते हैं? वे यह समझें कि ये तो

घर-बैठे हर महीने स्वाध्याय की ताजी सामग्री देते वाले साधन हैं। मनोरंजन की बजाय यह देखें कि ऐसे पत्रों से ज्ञानवृद्धि में कितनी सहायता मिलती है। जब तक लोगों की यह दृष्टि नहीं बदलेगी साहित्यिक एवं सांस्कृतिक पत्र फल-फूल नहीं सकते। पाठकों से हम यही निवेदन करना चाहते हैं कि वे इस प्रकार के पत्रों को ज्ञानवृद्धि व स्वाध्याय की दृष्टि से ही पढ़ें-सुनें। मनोरंजन करने वाली तो एक से एक बढ़ कर पत्र-पत्रिकाएँ निकलती ही हैं।

कृपालु ग्राहकों से

एक निवेदन कृपालु ग्राहकों से करना है। वह यह कि वार्षिक चंदा पूरा हो जाने पर हम उन्हें पहले सूचना भेजते हैं और निवेदन करते हैं कि यदि किसी कारण से वे आगे को ग्राहक नहीं रहना चाहते तो हमें सूचना अवश्य दे दें। यह आशा हम उनसे अपना ग्राहक होने के नाते रखते हैं। हम यह भी सूचना दे देते हैं कि कोई जवाब न मिलने पर वी. पी. भेज दिया जायगा। इतने पर भी जब वी. पी. लौट कर आ जाता है तो दुःख और निराशा होती है। ग्राहक के तीन पैसे के पोस्ट कार्ड की बजाय श्रमण कार्यालय के आठ आने का नुकसान हो जाता है और वी. पी. भेजने की परेशानी अलग। यह स्थिति व व्यवहार बदलने की आवश्यकता है। दूसरी बात यह है कि बहुत से ग्राहक दो आना खर्च करके ४) रु० मनीआर्डर से भेजने का कष्ट नहीं उठाते, छ आना अधिक देकर ४॥) का वी. पी. छुड़ा लेते हैं। यह बात हम प्रायः देखते हैं। अच्छा तो यह है कि मनीआर्डर से चंदा भेज दिया जाए, जिससे खर्च भी कम होगा और कार्यालय को सुविधा रहेगी।

प्रेमी पाठकों से

हमारी यह भावना और प्रयत्न है कि श्रमण के एक हजार ग्राहक अवश्य बन जाएँ जिससे यह अपने पैरों पर खड़ा हो सकेगा। हमारी समाज का पूज्य त्यागी वर्ग तथा प्रेमी पाठक थोड़ा सा भी ध्यान दें, तो यह माँग जल्द ही पूरी हो सकती है। श्रमण का घर-घर में प्रचार हो सकता है। पुराने बुजुर्ग न सही, नौजवान महिलाएँ तथा बच्चे इससे अवश्य लाभ उठा सकेंगे। इसी वर्ष स्नेहमूर्ति श्री रघुवर दयाल जी महाराज तथा इनके योग्य शिष्य श्री अभयमुनि जी के उपदेश व प्रेरणा से ५०-६० नए ग्राहक बने हैं। जिससे हमारा उत्साह बढ़ा है। आशा है इसी प्रकार सभी त्यागी जन एवं प्रेमी पाठक इसके प्रचार में सहायक बनेंगे।

श्री महेन्द्र राजा एम. ए.

पाठक देखेंगे कि श्रमण के इसी अंक से श्री महेन्द्र राजा एम. ए. का हमें संपादन कार्य में सहयोग मिल रहा है। श्री राजा जी हमारे पाठकों के लिए नए नहीं हैं। वे करीब तीन-चार साल से श्रमण से संबन्ध रखते आ रहे हैं। आप इटारसी के सुप्रसिद्ध वैद्यराज श्री सुन्दरलाल जैन के सुपुत्र हैं। सन् १९५४ में बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी से हिन्दी में एम. ए. किया। इस वर्ष लायब्रेरी विज्ञान में डिप्लोमा लेकर बनारस के सुप्रसिद्ध उदय-प्रताप कालेज के पुस्तकालय के पुस्तकाध्यक्ष पद पर नियुक्त हुए हैं। हिन्दी के अच्छे लेखक और कवि होने के साथ ही पत्र-संपादन का भी अनुभव रखते हैं। श्रमण के पाठकों के लिए यह शुभ समाचार है कि बनारस में स्थिर-वास होने से अब ये श्रमण के विकास में विशेष रूप से सहयोग दे सकेंगे।

—कृष्णचन्द्राचार्य

दीवाली या दीवाला ?

दीवाली भारतीय संस्कृति का प्रकाश-पर्व है। अंधकार में ज्योति की उपासना ही इस पर्व का मौलिक आदर्श है। जीवन की चरम साँस तक ज्ञान के महाप्रकाश को जन-जन के मन-मन के लिए हजार-हजार हाथों से लुटाते हुए आज के दिन प्रकाश-पुंज श्रमण भगवान् महावीर का परिनिर्वाण हुआ था—ऐसी हमारी परम्परा है। दीपोत्सव पर उनके चरणों में हम श्रद्धांजलि अर्पण किया करते हैं। कोई किसी रूप में और कोई किसी रूप में।

परन्तु क्या ये मौखिक एवं पार्थिव श्रद्धांजलियाँ ही उस महाज्योति के व्यक्तित्व के अनुकूल और हमारे जीवन-जागरण के लिए पर्याप्त हैं? जो महापुरुष निरन्तर अपरिग्रह के जलते हुए महामार्ग पर दृढ़ता के साथ आगे बढ़ा और परिग्रह की गाँठ को जीवन का सबसे बड़ा बन्धन बतलाता हुआ चला; आज उसके अनुयायी उसके निर्वाण दिवस को मनाने के लिए परिग्रह की पूजा, लक्ष्मी की अर्चना करने की तैयारी में तन-मन से जुट जाते हैं। हाथ जोड़कर लक्ष्मी का आवाहन करते हैं। गिड़गिड़ाकर उसके आगे मत्था टेकते हैं। रात-भर दीपक जलाकर उसके आने की अपलक प्रतीक्षा करते रहते हैं। मानो, लक्ष्मी अँधी है और उसे मार्ग-दर्शन की आवश्यकता पड़ रही हो अथवा वह कहीं भूल-भटक कर इधर-उधर न हो जाए!

भारत के प्रधान मंत्री श्री नेहरू का यह कथन कुछ अर्थ रखता है कि "भारत आज भी 'गोबर-युग' में रह रहा है। क्योंकि उसके मन-मस्तिष्क में वही तत्त्व भरा हुआ है।"

इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि विश्व-पट पर भारत ही एक ऐसा देश है, जो जड़ सिक्कों के सामने मत्था टेक कर, गिड़गिड़ाकर लक्ष्मी की चिरौरी करता है। यदि चिरौरी करने से, गिड़गिड़ाने से लक्ष्मी प्रसन्न हो सकती होती, तो भारत के इस छोर से उस छोर तक आज अभाव, दरिद्रता और बेकारी का नंगा नाच क्यों होता? चिपटने वालों और मत्था टेकने वालों को लक्ष्मी नहीं मिलती। वह तो उनकी चेरी बनती है जिनके मन में उत्साह, बुद्धि में प्रकाश और हाथों में पौरुष का बल है। काश, जीवन का यह सत्य मनुष्य के गले उतर जाए!

वस्तुतः आज के दिन परिग्रह की पूजा करके महावीर का अनुयायी महावीर को भूल बैठा है। यह कितने परिताप का विषय है। एकान्त क्षणों में जरा विचार तो कीजिए कि यह हमारी बौद्धिक चेतना की दीवाली है या दीवाला?

संयुक्त चातुर्मास की नई परंपरा

संप्रदायों के विलीनीकरण के बाद 'श्रमण संघ' ने कुछ गति-प्रगति की है, इसका हमें पता नहीं। परन्तु चातुर्मास में पाँच-सात बड़े बड़े महारथियों के एक जगह बैठ जाने के रूप में संयुक्त चातुर्मास की नई परंपरा की नींव उसने अवश्य डाल दी है। श्रावक वर्ग में भी महारथियों के संयुक्त वर्षावास कराने की सक्रिय भावना जोर पकड़ती जा रही है।

पन्द्रह-बीस भिक्षुओं का चार-चार महीने तक एक स्थान पर बैठ कर गप्पे-बाजी करते रहना और दूसरे क्षेत्रों को दस-पन्द्रह वर्ष तक चातुर्मास के लिए अवसर ही न मिलना, वास्तव में एक सामाजिक अन्याय है। संयुक्त रूप में एक मंच पर बैठने की हवा ऐसी चली है कि कुछ पूछिए नहीं। व्यक्तिगत अस्मिता जीवन में इतनी गहरी पैठ गई है कि उसकी बदौलत क्षेत्र के क्षेत्र सूने पड़े रहते हैं। उन बेचारों की आवाज पर कान दे कौन? गोलमोल भाषा में उन्हें टाल दिया जाता है और फिर एक जगह संगठित रूप में आसन जमा देने से खूब चहल-पहल हो जाती है! हजारों की भीड़-भाड़ जुड़ जाती है! खूब रौनक-ठौनक और धूम-धाम मचती है! भिक्षु को अपना

विज्ञापन करने का खुला मैदान मिल जाता है ! हजारों का पानी कर दिया जाता है । और, परिणाम आता है एकदम शून्य !

"संयुक्त चातुर्मास से विस्तृत विचार-विमर्श के लिए खुला अवसर मिलता है, आपसी मेल-मिलाप बढ़ता है और सह-अस्तित्व की दिशा साफ होती है"— ये सब ऐसी बातें हैं, जो आज के मानव के गले नहीं उतर सकतीं । जीवन के सामने कोई स्पष्ट रूपरेखा और महत्त्वपूर्ण आदर्श न होने से परिणाम अनुकूल आने की अपेक्षा प्रतिकूल ही होता है । और कभी-कभी तो ऐसे प्रसंगों से हम इतनी दूर जा पड़ते हैं कि फिर कभी मिलने का उत्साह ही समाप्त हो जाता है ।

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि हजारों की भीड़ में प्रत्येक तत्त्व आत्म-प्रतिष्ठा का केन्द्र बनना चाहता है । उस मेले-ठेले की सारी गौरव-गरिमा स्वयं बटोरना चाहता है, चाहे वह बटोर न सके । ऐसी स्थिति में अन्तर्द्वन्द्व होना स्वाभाविक है । यदि दस व्यक्ति अंधेरी कोठरी में टटोलते फिरेंगे, तो एक दूसरे से बिना टकराये नहीं रह सकते । दो या अधिक व्यक्ति एक ही वस्तु की अभिलाषा करेंगे, तो उनमें मन-मुटाव होना सहज है । वस्तु का उपयोग तो कोई एक योग्य पुरुष ही कर सकेगा । इस टीम-टाम के नीचे एक मूक वेदना टीसती रहती है !

युग-चैतन्य और संघ-हित को देखते हुए हमारी शक्ति का विकेन्द्रीकरण अत्यंत आवश्यक है । हमारे वर्षावास का ग्रामीकरण अनिवार्य है । जिससे अधिक से अधिक जनता को धार्मिक चेतना का प्रकाश मिल सके । काश, इस ज्योति-जागरण की दिशा में हम कुछ सोच सकें, कुछ कर सकें !

—सुरेश मुनि

श्रमण के सातवें वर्ष के पहले अंक से ह[illegible]न' के स्थान में 'वीर-वाणी' या 'महावीर-वाणी' का नया स्तम्भ शुरू कर रहे हैं। इसमें जैनागमों के पद्यात्मक भाग का हिन्दी में सरस पद्यानुवाद रहेगा। अनुवादकर्ता पं० मुनि श्री मिश्रीमल जी 'मधुकर' हैं। यह हर्ष की बात है कि इसके लेखन का दायित्व मुनि श्री ने अपने ऊपर लिया है। आशा है स्वाध्याय प्रेमी पाठकगण सरस कविता के पाठ के साथ अपनी ज्ञानवृद्धि कर सकेंगे।

—कृष्णचन्द्राचार्य

साहित्य-सत्कार

धर्मनायक—

रचयिता—मुनि श्री कीर्तिचन्द्र जी म० 'यश', प्रकाशक—श्री ऋषिराज जैन पुस्तकालय, करनाल (पंजाब); पृष्ठ १२४, मूल्य—१) रु०

प्रस्तुत पुस्तक धर्मनायक श्री ऋषिराज जी महाराज के जीवन से सम्बन्धित एक खण्ड काव्य है। इसमें धर्मनायक के दीक्षा लेने के समय से लेकर अन्त समय तक के जीवन-प्रसंग उपस्थित किये गए हैं। अन्त में एक परिच्छेद में जन्म के संबन्ध में भी आवश्यक जानकारी की बातें दे दी गई हैं। काव्य-कला की दृष्टि से मुनि जी की भाषा व शैली ठीक न होते हुए भी जन-साधारण के लिए वह सहज ही बोधगम्य है। इस दृष्टि से मुनि जी का यह प्रयास अभिनन्दनीय है। अत्यन्त ही सरल भाषा में लिखा गया यह खण्ड काव्य जन-साधारण को हिन्दी समझने में सहायक सिद्ध होगा, ऐसी आशा की जा सकती है।

धर्मनायक श्री ऋषिराज जी म० ने सं० १९०८ में जन्म लेकर सं० १९२६ में, मात्र १८ वर्ष की आयु में दीक्षा ली थी। इन्होंने अनेक जैन, जैनेतर ग्रंथों का अध्ययन किया था[illegible] प्राकृत, हिन्दी, अपभ्रंश, संस्कृत, उर्दू, फ़ारसी, गुजराती और महाजनी आदि कई लिपियाँ जानते थे। इन्होंने अनेक धार्मिक ग्रन्थ भी लिखे हैं। कई प्रान्तों में इन्होंने विचरण भी किया था। इन्हीं सब बातों के फलस्वरूप उनका ज्ञान संकुचित न रहकर व्यापक हो गया था। उन्हीं की जीवन गाथा प्रस्तुत ग्रन्थ में वर्णित है जो प्रत्येक धर्म प्रेमी बन्धु के लिए पठनीय है।

—महेन्द्र राजा

'श्रमण' के प्रति मंगल-कामना

श्रमण संस्कृति का
अग्रदूत 'श्रमण' यह
कर रहा प्रवेश
सप्तम नव वर्ष में
अतः है अतीव हर्ष।
देता है प्रत्येक मास
सामग्री यह परिपूर्ण,
चिन्तनीय औ' मननीय।
जिसके विचार औ' विमर्श से
खुल जाता है द्वार, एक
नव मार्ग का।
तोड़ता रुढ़ियों को
कुरीतियों को
क्रान्ति की चिनगारियों से
करता हुआ भस्मसात्
[illegible] के
[illegible] औ' सुन्दर पथ को
[illegible] हुआ प्रशस्त यह
[illegible]न्तर है गतिमान।
[illegible] है इसका
[illegible] ही समाज में
[illegible] है उच्च स्थान;
[illegible] है सत्कार
[illegible]
विचारों का इसके;
अपने उद्देश्य से, लक्ष्य से
गन्तव्य पथ से
भूला नहीं
भटका नहीं कभी भी।
प्रारंभ से ही
जन्म से बनाया जिस लक्ष्य को
हाथ में लिया जिस मिशन को
उसी को करता हुआ सफलीभूत;
करता हुआ संरक्षण
श्रमण संस्कृति का
सतत है प्रवाह शील
गतिमान।
णमो सव्व साहूणं का
महान मन्त्र
जिसका है जीवन अंग;
उन्हीं सच्चे साधकों के
उत्तम विचारों को
गहन
गम्भीर हृदय मन्थन को;
साथ-साथ
उन धर्म ग्रन्थों को,
ऐतिहासिक तथ्यों को
करता हुआ प्रकट
निर्भयता से, निडरता से
निरन्तर है गतिमान।
एतदर्थ
यही है सन्देश नव वर्ष का
पिछली भूलों को, गलतियों को
विचार कर, तथा करते हुए
अन्वेषण, विवेचन, आलोचना
करना उन्हें दूर निज से
सतत लक्ष्य ओर, होना है गतिमान
इसी शुभ कामना के साथ यह
फूले फले, औ' बढ़े निजलक्ष्य ओर
सतत ही साध्य ओर!

—मुनि श्री कीर्तिचन्द्रजी 'यश'

बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी प्रेस, बनारस-१

श्रमण

वर्ष

सम्पादक

पं० कृष्णचन्द्राचार्य

महेन्द्र राजा एम.ए.

पार्श्वनाथ विद्याश्रम हिन्दू युनिवर्सिटी, बनारस

इस अंक में

'श्रमण' के विषय में

१. 'श्रमण' प्रत्येक अंगरेजी महीने के प्रथम सप्ताह में प्रकाशित होता है।
२ ग्राहक पूरे वर्ष के लिए बनाये जाते हैं।
३. 'श्रमण' में सांप्रदायिक कदाग्रह को स्थान नहीं दिया जाता।
४. विज्ञापनों के लिए व्यवस्थापक से पत्र व्यवहार करें।
५. पत्र व्यवहार करते समय ग्राहक संख्या अवश्य लिखें।
६. वार्षिक मूल्य मनिआर्डर से भेजना ठीक होगा।
७. समालोचना के लिए प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ आनी चाहिए।
८. सामयिक लेख आदि प्रत्येक मास की १५ ता० तक मिलने पर ही समय पर प्रकाशित हो सकेंगे। अन्य पत्रों में प्रकाशित या प्रकाशनार्थ भेजी गई रचनाएँ 'श्रमण' के लिए न भेजें।

वार्षिक मूल्य ४) एक प्रति ।=)

प्रकाशक—पं० कृष्णचन्द्राचार्य

अधिष्ठाता, श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, हिन्दू यूनिवर्सिटी, बनारस—५

श्रमण

श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, हिन्दू यूनिवर्सिटी, बनारस का मुखपत्र

वर्ष ७ दिसम्बर १९५५ अंक २

वीर-वाणी

—जैन आगमों के सारभूत पद्य-वाङ्मय का स्वाध्याय—

—१—

चत्तारि परमंगाणि,
दुल्लहाणीह जंतुणो ।
माणुसत्तं सुई सद्धा,
संजमम्मि य वीरियं ॥

—१—

परम अंग है चार जगत में,
दुर्लभ इनका जन को मिलना ।
मनुजपना, श्रुति, श्रद्धा, संयम
का जीवन में पालन करना ॥

—२—

समावन्नाण संसारे,
नाणागोत्तासु जाइसु ।
कम्मा नाणाविहा कट्टु,
पुढो विस्संभया पया ॥

—२—

जीव सभी ये विविध विविधतर
कर्म शुभाऽशुभ संचित कर कर।
सर्व जगत में व्याप्त हुए हैं,
जाति मात्र में उपज-उपज कर ॥

—३—

एगया देवलोएसु,
नरएसु वि एगया ।
एगया आसुरं कायं,
आहाकम्मेहिं गच्छई ॥

—३—

देव-लोक में कभी नरक में बन
जीव सदा यों फिरता रहता ।
कभी असुर तन पाया इसने,
कर्म विवश हो चलता रहता ॥

—४—

एगया खत्तिओ होइ,
तओ चण्डाल-बुक्कसो ।
तओ कीड-पयंगो य,
तओ कुन्थु पिवीलिया ॥

—४—

क्षत्रिय होता, अंत्यज होता,
बुक्कस होता कभी कभी तो ।
कीट, पतंगा, कुंथु, चींटी,
होता रहता कभी कभी तो ॥

—५—

एव-मावट्ट-जोणीसु,
पाणिणो कम्म-किव्विसा।
न निविज्जंति संसारे,
सव्वट्ठेसु व खत्तिया ॥

—५—

राज्य-ऋद्धि-युत क्षत्रिय जैसे,
राज्य तृषा से दूर न होता।
अशुभ कर्मवश जीव जगत् में,
फिरता फिर भी विरत न होता ॥

—६—

कम्म-संगेहिं सम्मूढा,
दुक्खिया बहु-वेयणा।
अमाणुसासु जोणीसु,
विणिहम्मन्ति पाणिणो ॥

—६—

कर्म-संग से मूर्छित दुःखित,
प्रबल वेदना-परवश प्राणी।
मनुज योनि-अतिरिक्त जगत् में,
कष्ट भोगते बन अज्ञानी ॥

—७—

कम्माणं तु पहाणाए,
आणुपुव्वी कयाइ उ।
जीवा सोहि-मणुप्पत्ता,
आययंति मणुस्सयं ॥

—७—

अनुक्रम से जब कर्म अशुभतर,
हुए नष्ट तब शुद्धि प्राप्त कर।
जीवों ने यह पाया उत्तम,
मानव जीवन सर्व सुखंकर ॥

—८—

माणुस्सं विग्गहं लद्धुं,
सुई धम्मस्स दुल्लहा।
जं सोच्चा पडिवज्जन्ति,
तवं खंति-महिंसयं ॥

—८—

मानव जीवन पाने पर भी,
दुर्लभ धर्म-शास्त्र-श्रुति पावन।
जिसको सुनकर प्राणी करते,
क्षमा अहिंसा तप आराधन ॥

—९—

आहच्च सवणं लद्धुं,
सद्धा परम-दुल्लहा।
सोच्चा नेआउयं मग्गं,
बहवे परिभस्सई ॥

—९—

अगर शास्त्र को सुन भी ले तो,
दुर्लभतर है श्रद्धाऽऽराधन।
न्याय-मार्ग को सुन करके भी,
होते रहते पतित बहुत जन ॥

—१०—

सुइं च लद्धुं सद्धं च,
वीरियं पुण दुल्लहं।
बहवे रोयमाणा वि,
नो य णं पडिवज्जए ॥

—१०—

शास्त्र श्रवण कर श्रद्धा पाकर,
संयम में बल लाना दुर्लभ।
श्रद्धा-धारी बनने पर भी,
कार्य रूप में परिणति दुर्लभ ॥

(उत्तराध्ययन सूत्र, तीसरा अध्ययन, गाथा १—१०)

अनु०—पण्डित मुनि श्री मिश्रीमल जी 'मधुकर'

जैन धर्म : एक निर्वचन

—श्री श्रीरञ्जन सूरिदेव साहित्याचार्य

जैनधर्म भारत का एक बहुत पुराना और स्वतन्त्र धर्म है। इसकी उत्पत्ति तथा इतिहास का पता लगाना बहुत ही कठिन है। फिर भी, इतिहास में ईस्वी सन् के ८०० से १५०० वर्ष पूर्व जैनधर्म की मौजूदगी का पता है। लोकमान्य बालगंगाधर तिलक "केशरी" पत्र के १३ दिसम्बर, १९०४ के अंक में लिखते हैं—"बौद्धधर्म की स्थापना के पूर्व जैनधर्म का प्रकाश फैल रहा था। बौद्धधर्म पीछे से हुआ, यह बात निश्चित है।"

जैनधर्म आत्मा के शुद्ध करने का एकमात्र उपाय है। आत्मा और अनात्मा याने चेतन और जड़ पदार्थों से भरा हुआ यह संसार अनादि और अनन्त है, इसलिए आत्मा और उसकी शुद्धि की दृष्टि से यह धर्म भी अनादि और अनन्त है। जैन सिद्धान्त संसार को नाशवान् नहीं मानता। "न कुछ नष्ट होता है, न कुछ बनता है, केवल अवस्थाएँ बदलती हैं।" यह जो वैज्ञानिकों का मत है वही मत जैनों का है। अशुद्ध आत्मा को शुद्ध कर उसे सदा के लिए परमात्मा के पद पर प्रतिष्ठित कर देना याने संसारी के पाप-पुण्य रूपी कर्म के मैल को धोकर उसे संसार के जीने-मरने के झंझट से छुटकारा दिलाते हुए स्वाधीन परमानन्द में पहुँचा देना ही जैनधर्म का मुख्य उद्देश्य है।

जैनधर्म के अनुसार, आत्मा की परम विशुद्ध अवस्था को प्राप्त हुआ महामानव ही परमात्मा, जिन या तीर्थंकर है। जैन लोग साधन द्वारा भगवान् बन जाने की बात नहीं जानते-मानते। वे साधना द्वारा स्वयं भगवान् बन जाने की कल्पना करते हैं। आत्मा याने जीव ही कठोर व्रत, उपवास आदि तपस्या द्वारा परमात्मा बन जाता है। जैनधर्मियों का विश्वास है कि ईश्वर न संसार को बनाता है और न वह पाप-पुण्य का बुरा-भला फल ही देता है। जैसे कोई आदमी आप ही शराब पीकर उसका बुरा फल आप ही भोगता है उसी प्रकार जीव अपने बुरे-भले कामों का बुरा-भला फल आप भोगता है। परमात्मा इन प्रपंचों के जाल में नहीं पड़ता। इस प्रकार जैन लोग आत्मा-परमात्मा, पुण्य-पाप, लोक-परलोक, सुख-दुःख, बन्धन-मोक्ष आदि सभी बातों को मानते

तो हैं, परन्तु अन्तर की आँखें खोलकर, उन बातों को बुद्धि और तर्क की कसौटी पर कस कर। इसलिए जैनधर्म नास्तिक नहीं वरन् ज्ञानप्रधान धर्म है जो मनुष्यों को अहिंसा, ब्रह्मचर्य, परोपकार और क्षमा की ओर ले जाता है।

विरोधियों के विद्वेष की आँच में पड़ जाने के कारण जैनधर्म यद्यपि व्यापक न हो सका और जैनों को राजकीय बल का भी सामना करना पड़ा, परन्तु उसमें अहिंसा और नीतिपूर्ण व्यवहार और व्यापार की कुशलता का इतना दबदबा था कि जनता ने उसका साथ नहीं छोड़ा। जैनधर्म का सिद्धान्त हर तरह के विचार वाले व्यक्तियों के मन में ठीक-ठीक उतर जाता है इसलिए निष्पक्ष विद्वान् उसके मत का बराबर आदर करते रहे। जैनधर्म के मानने वाले राजा लोग भी १७ वीं शती तक अपना महत्व जमाये रहे। अभी भी भारतवर्ष में सभी जगह लगभग १५-२० लाख की संख्या में जैन लोग फैले हुए हैं। जैनों के दर्शनीय मंदिर भारत के प्रायः सभी छोटे-बड़े शहरों में विराजमान हैं। बिहार में हजारीबाग का पारसनाथ और पटना की पावापुरी जैनमंदिरों के लिए परम प्रसिद्ध है। साथ ही गया, आरा एवं भागलपुर के चम्पानगर में भी जैनों के दर्शनीय मंदिर हैं। जैन मंदिरों के भीतर वेदी पर उन महान् पुरुषों की ध्यान में तल्लीन मूर्तियाँ बिराजती हैं जो परमात्मा बन गए हैं। इनको "तीर्थंकर" कहते हैं। इनकी कुल संख्या चौबीस है। अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर हैं। जिन्होंने पावापुरी में निर्वाण पाया। तीर्थंकरों के दर्शन से मन में शान्ति और संसार के "हाय! हाय!" की ओर से वैराग्य के सिवा कोई और भाव उठने ही नहीं पाता।

जैनों के मत से देवपूजा का प्रयोजन भगवान् को प्रसन्न करना नहीं है। उनका पूजन व ध्यान केवल अपने भावों की शुद्धि के लिए किया जाता है। गुणों के मनन करने से मन के भाव गुण के प्रेमी हो जाते हैं और अवगुणों के मनन करने से मन के भाव दूषित हो जाते हैं। हमारे भावों से ही हमारा बुरा-भला होता है। भक्ति के भावों से शान्ति आती है। शान्त भावों से हमारे पाप धुल जाते हैं और पुण्य का लाभ होता है। इसलिए जैनों की देवपूजा भी वास्तव में वीरपूजा है।

जैन लोग परमात्मा की भक्ति और पूजा-वंदना केवल अपने भावों को पवित्र और निर्मल बनाने के लिए करते हैं न कि परमात्मा को प्रसन्न करने के लिए। जैनों का विश्वास है कि परमात्मा को पूजा से कोई सरोकार नहीं

रहता है। वे न किसी की निन्दा से दुःखी होते हैं और न किसी की प्रशंसा से सुखी। क्योंकि परमात्मा सुख और दुःख से परे है। परमात्मा के पवित्र गुणों के स्मरण करने से मन का मैल धुल जाता है, बस इतना ही। इसके अतिरिक्त संसारी जीवों को कर्म का फल देने का अधिकार ईश्वर के अधीन नहीं है। कर्म का फल जीव स्वयं प्राप्त करता है।

जैन मत के अनुसार अहिंसा ही परम धर्म है। अहिंसा के दो भेद हैं—एक भाव अहिंसा, दूसरी द्रव्य अहिंसा। मन में राग, द्वेष, मोह आदि का पैदा न होना ही भाव अहिंसा है। भाव हिंसा के मोह में न पड़कर शरीरधारी जीवों के शरीर पर चोट न पहुँचाना द्रव्य अहिंसा है। गृहस्थों को इससे बचने का उपदेश जैनधर्म बराबर देता है। जैनधर्म में दीक्षित गृहस्थ लोग श्रमणोपासक या श्रावक कहलाते हैं। श्रावकों के लिए ग्यारह प्रतिमाओं के पालन करने का आदेश है। अपने आचरण की उन्नति के लिए किया जाने वाला कर्म 'प्रतिमा' कहलाता है। जैनों के भी चार वेदों की तरह चार अनुयोग हैं—कथानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग। साधारणतया जैन धर्म की जानकारी के लिए ये चारों वेद अनुयोग पढ़ने लायक हैं।

जैन गृहस्थों को कड़ी आज्ञा है कि वे किसी तरह का मांसाहार न करें। मांस खाने वाला गृहस्थ चरित्रहीन है। मांस न खाना उनके चरित्र के आठ मूलगुणों में से एक है। हर एक गृहस्थ को देवपूजा, गुरुभक्ति, शास्त्र पढ़ना, संयम का अभ्यास, व्रत, उपवास आदि तपस्या और दवा, भोजन आदि का दान ये छह कर्म नित्य करने का उपदेश है। मद्य या नशा न पीना, मांस न खाना और पाँच पापों से बचना याने जान-बूझ कर पशु-पक्षी आदि किसी जीव की बेकार हिंसा न करना, झूठ न बोलना, चोरी न करना, पराई स्त्री को अपनी मा की तरह पूज्या समझना तथा अच्छी तरह अपनी गुजर चलने लायक धन से ज्यादा धन जमा न करना ये गृहस्थों के चरित्र संबंधी आठ मूलगुण जैन धर्म के आचार्यों ने बतलाए हैं।

उक्त पाँचों पापों से अपने को बचाए रखना ही "पंच-अणुव्रत" का पालन करना है। पाँचों अणुव्रत ऐसे हैं कि उनके पालन करने वालों को संसार का कोई भी, किसी तरह का अपराध या अभियोग कभी छू नहीं सकता। जैन गृहस्थों के या साधुओं के दो सम्प्रदाय हैं—एक दिगम्बर, दूसरा श्वेताम्बर। दोनों सम्प्रदायों के मूल सिद्धान्त एक हैं। जैनों को यह उपदेश है कि छान

कर पानी पियो। यह बड़ा उपयोगी है। इसके द्वारा पानी में जो कीड़े होते हैं उनसे उनकी रक्षा होती है।

जो जन्म से जैन हैं उनके लिए तिरपन संस्कार बताए गए हैं और जो जैन धर्म में दीक्षित होकर जैन बनते हैं उनके लिए अड़तालीस संस्कार बताए गए हैं। जैनों की वर्ण-व्यवस्था प्रकट नहीं है। आचार-व्यवहार के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णों का निर्णय किया गया है। जैन धर्म में स्त्रियों की बड़ी प्रतिष्ठा रही है। यहाँ तक कि राजा लोग उनको अपने राज्य सिंहासन का आधा आसन देते थे। स्त्रियाँ पति के न होने पर कुल संपत्ति की स्वामिनी हो सकतीं और पुत्र गोद ले सकती हैं।

जैनधर्मी पुनर्जन्म, स्वर्ग और नरक भी मानते हैं। बड़े भयंकर सात नरक हैं जो नीचे सातों पृथ्वियों पर हैं। नारकी जीव घोर दुःख सहते हैं और बिना आयु पूरी हुए मर नहीं सकते। नारकियों की देह भी मनुष्य के समान होती है, परन्तु वह रह-रह कर बदल जाने की शक्तिवाली बड़ी भयावनी और कुरूप होती है। ऊपर के लोकों में जैनों के स्वर्ग हैं। इन स्वर्गों में बारह कल्पवासी आदि देवता रहते हैं जिनकी पदवी 'इन्द्र' है। भूख लगने पर उन देवताओं के कंठ से स्वयं अमृत झर जाता है उससे उनकी भूख मिट जाती है। जैनों का संक्षिप्त मूल मंत्र है—"ओं णमो सिद्धाणं।" इसे जैन लोग णमोकार मंत्र कहते हैं। यह मंत्र १०८ बार जपा जाता है। मोटे धागे में गाँठ देकर मंत्र जपने की माला बनाई जाती है। गाँठ को दाना कहते हैं। एक माला में १११ दाने होते हैं। तीन दाने सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र याने झूठ-सच को अच्छी तरह देखने-सुनने, उसे समझने-बूझने और सदाचार के बरतने में पवित्रता के भाव के सूचक हैं। जो प्राणी इस मंत्र को यदि पढ़ते-सुनते हैं तो उसके प्रभाव से वे शुभगति व कल्याण का लाभ करते हैं।

जो हो, जैन धर्म आत्मा की शुद्धि का मार्ग है। मननशील प्राणी देव, नारकीय पशु या मनुष्य चाहे वह अमेरिका का हो या यूरोप का या रूस का या एशिया का, कहीं का भी हो, सभी कोई इस धर्म का स्वरूप समझकर इस पर विश्वास कर सकते हैं। अतएव यह निश्चित है कि जो जैन धर्म को समझ लेगा वह कभी चरित्रहीन, अन्यायी और निर्दयी न होगा। वह बराबर आत्मा के कल्याण की ओर ऊपर—ऊँचे उठता जाएगा।

—:o:—

याद कर लो !

गड़ गए जो नींव में उन पत्थरों को याद कर लो, जो नहीं देते दिखाई।

—१—

मुक्ति का मन्दिर खड़ा है, जो सुरत्नों से जड़ा है,
रम्य जिस के आँगनों में, लग रहा मेला बड़ा है।
जो मिटे इसको बनाते उन करों को याद करलो, जो नहीं देते दिखाई।
गड़ गए जो नींव में उन पत्थरों को याद कर लो, जो नहीं देते दिखाई।

—२—

शीश है ऊँचा हमारा, खूब ऊँचा है सितारा,
हम गुँजाते जा रहे हैं, जीत का उन्मत्त नारा।
कट गए जो आन के हित उन सरों को याद करलो, जो नहीं देते दिखाई।
गड़ गए जो नींव में उन पत्थरों को याद कर लो, जो नहीं देते दिखाई।

—३—

गर्व से फूले नगर हैं, गर्वमय गलियाँ, डगर हैं,
दीपमाला से समुज्ज्वल, सज रहे अभिराम घर हैं।
जो मिटे संसार के हित उन घरों को याद कर लो, जो नहीं देते दिखाई।
गड़ गए जो नींव में उन पत्थरों को याद कर लो, जो नहीं देते दिखाई।

—४—

कुंज की उजड़ी जवानी, पा गई फिर जिन्दगानी,
प्राप्त कर आशा नई, फिर हँस उठीं कलियाँ सुहानी।
खाद बन कर खो गए जो उन नरों को याद कर लो, जो नहीं देते दिखाई।
गड़ गए जो नीव में उन पत्थरों को याद कर लो, जो नहीं देते दिखाई।

—५—

स्वर्ण-सिंहासन सुहाता, और शासन मन लुभाता,
राज करने के लिए दल बाँध कर, नेतृत्व आता।
पीठ पर जिनके खड़े उन अनुचरों को याद करलो, जो नहीं देते दिखाई।
गड़ गए जो नींव में उन पत्थरों को याद कर लो, जो नहीं देते दिखाई।

—जागृति से

—श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी'

नवयुवकों के लिए

—पं० सुखलाल जी

"मंदिर और दूसरे धर्मस्थान तथा द्रव्यभंडारों पर खतरा आने पर हम कहते हैं—धर्म खतरे में है! लेकिन इस प्रकार की धर्म भय की परम्परा हजारों वर्षों से और खास कर पिछले एक हजार वर्ष से तो चली आ रही है। इतिहास जानने वाले को हमेशा वर्तमान ही खतरे में पड़ा हुआ दीखता है, मगर असल में इस तथाकथित धर्म के नाश या ह्रास की और सामाजिक छिन्न-भिन्नता की परम्परा बहुत पुरानी है।

"भूतकाल के महान पुरुष चाहे जितने समर्थ और दूरदर्शी रहे हों, सामाजिक ह्रास की बात समझने में तो वे पीछे ही रहे। तात्कालिक जरूरत के लिए वे विचार और प्रयत्न कर लिया करते थे, पर भविष्य की दृष्टि से उन्होंने कोई सबल और व्यापक प्रयत्न नहीं किया। यह काम अब इस नाशोन्मुख समाज की गोद में उत्पन्न हुए नवयुवकों के लिए बाकी रखा हुआ हो, ऐसा लगता है। आज ज्ञान और क्रिया तथा विचार और आचार के विषय में नये तरीके से सोचने की जरूरत है।

"भूतकाल के गानों का जीवन के साथ क्या संबन्ध है? भूतकाल ने जो बोध कई रूपों में हमें विरासत में दिए हैं और जो आज भी जीवन में काम कर रहे हैं, उनके विषय में आलोचना करते रहें तो उसे कोई संस्कृति नहीं कहता। संस्कृति तभी मानी जाती है जब कि कुछ अच्छी-अच्छी बातों की अच्छी भाषा में पुनरावृत्ति किया करें। लेकिन मुझे लगता है कि ऐसी संस्कृति की अत्यधिक बातें करने से लोक-मानस भूतकालीन गौरव के नशे में चूर हो जाता है और इतना कोमल तथा अन्धा हो जाता है कि उसे अपनी त्रुटियों का देखना और सुनना अच्छा नहीं लगता। इसलिए लोगों को संस्कृति का गीत गाकर सुनाने से चाहे उनके अभिमान की पुष्टि हो जाय, परन्तु वर्त्तमान का निराकरण नहीं हो सकता।"

(प्रबुद्ध जैन को लिखे हुए एक पत्र से)

लोक साहित्य के आदि सर्जक-जैन विद्वान

—श्री अगरचन्द नाहटा

जैन धर्म लोक धर्म है। जाति, वर्ण और आश्रम किसी भी प्रतिबन्ध के बिना सबके लिए उसका द्वार खुला है। धर्म प्रवर्तन और प्रचार का भी किसी एक जाति या वर्ण पर आधार नहीं। जिस प्रकार वैदिक धर्म में ब्राह्मणों को विशेष अधिकार प्राप्त हैं, जैन धर्म में वैसा किसी के लिए नहीं है। जैन धर्म के प्रचारकों की सदा यही भावना रही कि हर एक प्राणी इसके सन्देश को सुने-समझे और आचरण में लाकर लाभ उठाए। इसलिए सरल और सीधी लोक भाषा में तीर्थंकरों और आचार्यों ने जैन-धर्म को प्रचारित किया। भगवान महावीर के समय जनता की भाषा प्राकृत थी। जैन धर्म का प्रचार केन्द्र उस समय मगध प्रान्त था। अतः वहाँ भाषा के साथ-साथ आस-पास के दूसरे प्रान्तों के लोग भी जैन धर्म का उपदेश समझ सकें इसीलिए अर्धमागधी भाषा में तीर्थंकरों का विशेषतः भगवान महावीर का प्रवचन प्रचारित हुआ। उसके पश्चात् १२ वर्षीय दुष्काल आदि के कारण जैन मुनियों का विहार शौरसेन प्रदेश मथुरा और उड़ीसा प्रान्त में होते हुए महाराष्ट्र और दक्षिण प्रदेश की ओर हुआ। फिर उत्तर भारत में सौराष्ट्र, राजस्थान, गुजरात, मालवा में प्रचार बढ़ता गया तब उन-उन प्रदेशों की भाषाओं में जैन विद्वानों ने ग्रन्थ बनाए, जिनमें शौरसेनी और महाराष्ट्रीय प्राकृत प्रधान हैं। इसके बाद उत्तर भारत में प्राकृत भाषा का रूप परिवर्तन होते-होते वह अपभ्रंश के रूप में परिणत हो गई तब जैन विद्वानों ने उसमें भी साहित्य निर्माण में पूरा योग दिया। उधर दक्षिण भारत में तामिल और कन्नड प्रधान भाषाएँ थीं, उनमें भी साहित्य निर्माण प्रारंभ किया। १०-१२ वीं शती में अपभ्रंश से हिन्दी, राजस्थानी और गुजराती आदि भाषाओं का उद्भव हुआ तब जैन-विद्वानों ने उनको भी साहित्य निर्माण का माध्यम बनाया। इसी तरह सिन्धी और फारसी तथा बंगला में भी जैन विद्वानों की कुछ रचनाएँ मिलती हैं।

साहित्य निर्माण के साथ-साथ उसके संरक्षण की ओर भी जैन विद्वान बहुत सतर्क रहे। फलतः प्राचीन साहित्य जितना जैन भंडारों में सुरक्षित है, उतना

जैनेतर भंडारों में नहीं। जैन विद्वानों की एक और विशेषता है—उनकी उदार दृष्टि। उन्होंने जैनेतर साहित्य के अध्ययन और संरक्षण में अपनी उस उदारता का बहुत विशिष्ट परिचय दिया है। उन्होंने जिस निष्पक्षता और गम्भीरता के साथ जैनेतर साहित्य का अध्ययन किया है उतना किसी भी जैनेतर विद्वान ने जैन साहित्य का नहीं किया, यह जैनेतर ग्रंथों पर बनाई हुई सैकड़ों जैन टीकाओं और दार्शनिक खण्डन-मण्डनात्मक ग्रंथों को देखने पर भली भाँति स्पष्ट हो जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि लोक भाषाओं में साहित्य निर्माण का श्रीगणेश जैन विद्वानों ने किया और उनकी साहित्य संरक्षण की सतर्कता के कारण वह सुरक्षित भी अधिक रहा। अत: प्राकृत, अपभ्रंश, गुजराती, राजस्थानी, कन्नड़ और तामिल का प्राचीनतम साहित्य जैन विद्वानों का ही प्राप्त है। इन भाषाओं और उनके साहित्य के विकास को जानने के लिए जैन साहित्य बहुत ही महत्वपूर्ण और उपयोगी है। इन भाषाओं के प्राचीन जैन साहित्य को अलग कर देने पर उनकी विकास परम्परा के सूत्र ही नहीं रह पाते। प्राकृत, अपभ्रंश और कन्नड़ का भी अधिकांश साहित्य जैनों का ही है। राजस्थानी और गुजराती में भी जैनेतर साहित्य से वह कई गुना अधिक है। यद्यपि जनसंख्या के अनुपात से जैनों की संख्या जैनेतरों से बहुत ही कम रही फिर भी जैन मुनियों का जीवन बहुत ही संयमित और सुव्यवस्थित था। उन्हें न रोटी और वस्त्रादि के लिए कमाने की चिन्ता थी और न अन्य प्रपंच और दुर्व्यसन ही थे। उनके जीवन का एकमात्र उद्देश्य अध्यात्म व धर्म-साधना के साथ-साथ धर्मप्रचार और साहित्य निर्माण का रहा है। इसीलिए उन्होंने अपने जीवन का बहुत अधिक समय अध्ययन, लेखन और साहित्यसर्जन में लगाया। इसी का परिणाम है कि जैनों की संख्या के अनुपात से उनके साहित्य की विशालता, विविधता व समृद्धता स्पृहणीय है। जैन ज्ञान भन्डार भी बहुत अधिक संख्या में सुरक्षित हैं अत: ताड़पत्रीय और कागज की प्राचीन-तम प्रतियाँ—जैन-जैनेतर ग्रंथों की लाखों हस्तलिखित प्रतियाँ जैन भण्डारों में प्राप्त हैं। इनमें ताड़पत्रीय और काष्ठफलक पर जो चित्र मिलते हैं वे मध्य-कालीन चित्रकला के विकास पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालते हैं। इनके अभाव में मध्यकालीन चित्रकला की ठीक जानकारी हो ही नहीं सकती।

राजस्थान और गुजरात का संबन्ध बहुत घनिष्ट रहा है। मूलत: दोनों प्रान्तों की भाषाएँ कई शताब्दियों तक एक ही थीं। तेरहवीं शताब्दी से

पन्द्रहवीं शताब्दी तक के भाषा साहित्य को गुजरात के विद्वान प्राचीन गुजराती और राजस्थान के विद्वान प्राचीन राजस्थानी भाषा का बतलाते हैं। सोलहवीं से दोनों प्रान्तों की भाषाओं में प्रान्तीय भेद बढ़ने लगता है। प्राचीन राजस्थानी या गुजराती का साहित्य जैन विद्वानों का ही प्राप्त है। जैनेतर रचनाएँ बहुत सी नष्ट हो गईं। उनके जो थोड़े से उदाहरण बच पाए हैं, वे जैन विद्वानों की कृपा से जैन ग्रन्थों में प्रयुक्त होने से ही। यहाँ हम गुजराती भाषा के प्राचीन साहित्य में जैनों की कितनी विशेष देन है, इस संबन्ध में 'प्रकाश' और 'राष्ट्र वीणा' पत्र के लेख का प्रारम्भिक अंश दे रहे हैं।

गुजराती वाङ्मय पर विहंगम दृष्टि

गुर्जर गंगा की गंगोत्री तो एकदम वैदिक युगी समाज के निम्न स्तर के जनसाधारण द्वारा अशुद्ध रूप से बोली जाने वाली वैदिक संस्कृत भाषा में है, किन्तु इसका स्पष्ट स्रोत ५८९ ईस्वी के पहले प्राप्त "वसुदेव हिंडी" में दिखाई देता है। इस भाषा का नाम "गौर्जर अपभ्रंश" था और अधिकारी विद्वानों के मतानुसार अन्य प्रांतीय भाषाओं में बोले जाने वाले अपभ्रंश के साथ इसका रूप मिलता-जुलता था। यह अपभ्रंश भाषा लगभग ११०० ईस्वी तक के स्वतंत्र ग्रंथों में और आलंकारिक के रूप में संस्कृत ग्रंथों के अपभ्रंश उदाहरणों द्वारा व्यक्त होती रही। लेकिन भाषा का स्वतंत्र व्यक्तित्व तो पुरानी गुजराती में 'हेमयुग' में दिखाई देता है।

आदि युग-प्रवर्तक साहित्यकार, विद्वद् शिरोमणि सकल शास्त्रविद्, प्रथम महान गुजराती पंडित हेमचन्द्राचार्य ने संस्कृत, प्राकृत और गुर्जर अपभ्रंश में नई-नई रचनाएँ करके "सिद्ध हैम" नाम का संस्कृत के साथ-साथ प्राकृत और अपभ्रंश का भी व्याकरण देकर भाषा को व्यवस्थित किया तथा उसके प्रवाह को निश्चित रूप दिया। इस व्याकरण में प्रयुक्त 'दुहाओं' में गुजराती का प्राचीन रूप परिलक्षित होता है। इसके अतिरिक्त 'द्वयाश्रय' नाम का महाकाव्य बनाकर सोलंकी युग के राजाओं की सर्वप्रथम कथा लिखने वाले इस महान् रचियता ने कथा को इस प्रकार क्रमबद्ध किया और भाषा की सेवा की कि उसके साथ-साथ व्याकरण का उदाहरण भी मिलता गया। इतना ही नहीं, बल्कि इस महान पंडित ने गुर्जरी भाषा को गौरवान्वित भी किया। 'हेमयुग' के अन्य कवियों में हरिभद्र सूरि का 'नेमिनाथ चरिउ' तथा मेरुतुंग का इतिहास ग्रंथ 'प्रबन्ध

चिन्तामणि' मुख्य ग्रंथ हैं। तत्कालीन साहित्य पर इतना प्रभाव डालने वाली विद्वत्ता तथा कार्य-तत्परता ने उन्हें अमर बना दिया।

हेमचन्द्र की मृत्यु के बाद गुजरात की राजनीतिक परिस्थिति डाँवाडोल हो गई। कुछ समय के बाद वीरधवल के समय में वस्तुपाल व तेजपाल—जैसे मंत्रियों ने गुजरात को फिर समृद्ध बनाया। सन् १२६१ ई० में मुसलमान आक्रमण-कारियों ने भयंकर विनाश किया और गुजरात का वह स्वर्ण-युग अस्त हो गया। ऐसे भीषण और अराजक युग में भी जैन मुनियों को गच्छ का संरक्षण मिला, इससे उनकी सरस्वती-आराधना अखण्ड बनी रही। उस समय जैन देरासरों (मन्दिरों) में धर्मोपदेश देने के बहाने उत्सवों के निमित्त 'रास' रचे गए। इस 'रास' या 'रासो' या 'रासके' ने साहित्य का प्रवाह चालू रखा। 'फागु' और 'बारहमासी' भी इसी के प्रकार भेद हैं। इनमें शालिभद्र सूरि रचित 'भरतेश्वर बाहुबलि,' विजय सेन सूरि कृत 'रेवन्त गिरि रास' वगैरह अधिक प्रसिद्ध हैं। फागु में जिनपद्म सूरि रचित 'सिरि थूलि-भद्दफागु' तथा राजशेखर सूरि कृत 'नेमिनाथ फागु' हैं। प्राचीनतम होते हुए भी आदर्श बारहमासी काव्य "नेमिनाथ चतुष्पादिका" है। इस काल में असाइत ठाकुर, श्रीधर, भीम और अब्दुर्रहमान की रचनाएँ जैनेतर हैं और प्रशंस्य हैं। इस प्रकार यह युग सन् ११८० से १४४१ तक रहा। इसमें जैन साधुओं की साहित्य-सेवा ही विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

उपर्युक्त उद्धरण के बाद लेखक ने जैनेतर गुजराती साहित्य का परिचय दिया है पर बड़े खेद की बात है कि उस काल यानी पन्द्रहवीं से बीसवीं तक के एक भी जैन विद्वान का उसने उल्लेख नहीं किया। प्राचीन गुजराती साहित्य जैनेतर मिलता ही नहीं इसीलिए बाध्य होकर जैन साहित्य की चर्चा करनी पड़ी। पर जहाँ से जैनेतर साहित्य मिलने लगता है वहाँ से किसी भी जैन रचना का उल्लेख तक न करना यह बड़ा ही स्वार्थीपन एवं संकुचितता है। वास्तव में इसके बाद भी सैकड़ों जैन कवियों ने उल्लेखनीय गुजराती साहित्य की रचना कर गुजराती साहित्य की महान् सेवा की है। उसे भुला देना सरासर अन्याय व कृतघ्नता होगी।

मैं मुक्ति चाहता हूं !

—श्री भँवरमल सिंघी

मैं मुक्ति चाहता हूँ—न जीवन से, न मृत्यु से; बल्कि उन कारणों से जो जीवन में तृष्णा और मृत्यु में भय पैदा करते हैं।

मैं मुक्ति चाहता हूँ—जप-तप, ध्यान-कीर्तन और शास्त्र-गुरु के लिए नहीं, बल्कि इन्हीं सब के उस बोझ से जो मुक्त मानवता को जकड़े हुए हैं।

मैं मुक्ति चाहता हूँ—दुनियाँ से नहीं, बल्कि उन ताकतों से जो दुनियाँ को धर्म और मुक्ति के नाम पर, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय जन-कल्याण के नाम पर गुमराह करके ठग रही हैं।

मैं मुक्ति चाहता हूँ—अतीत के बन्धनों से और वर्तमान की दुविधाओं से क्योंकि मैं अपने भविष्य को मुक्त रखना चाहता हूँ।

मैं मुक्ति चाहता हूँ—विरक्त होने और आत्मा-परमात्मा के नाम पर न-कुछ-करने के लिए नहीं, बल्कि दुनियाँ के प्रांगण में रच-पच कर खेल जाने के लिए मैं मुक्त होना चाहता हूँ।

मैं मुक्ति चाहता हूँ—व्यक्तियों के स्व-पर के बन्धनों से ही नहीं, बल्कि धर्म, समाज, और राष्ट्र के नाम पर शताब्दियों का बोझ लिए हुए स्व-पर की द्विधा से भी, क्योंकि 'मैं' के भीतर 'सब' को देखने की वास्तविकता लाना चाहता हूँ। मैं उन काहिलों से मुक्त होना चाहता हूँ, जो 'स्व'-मुक्ति की साधना में 'पर' पर आरोपित हो गए हैं और अपने विकास और शुद्धि के नाम पर 'पर' को अपने समुदाय के नाम पर लेबिलों में बाँधे हुए हैं।

मैं मुक्ति चाहता हूँ—काल-स्रोतस्विनी के प्रवाह में से निकल जाने के लिए नहीं, बल्कि उस प्रवाह में मैं वह चट्टान बनना चाहता हूँ जिससे टकरा कर प्राचीन बुद्धि और तर्क की सारी परम्पराओं से भारी बनी हुई स्रोतस्विनी को नई दिशा और नए मार्ग में बहने के लिए बाध्य होना पड़ेगा।

मैं मुक्ति चाहता हूँ—'कर्म' के उत्तरदायित्व से नहीं, बल्कि अधिक कर्म की प्रेरणा और शक्ति के लिए।

क्षमा की सीमा

पूर्व समय में कलाबु नाम का काशीराज राज्य करता था। उस समय बोधिसत्व (भगवान् बुद्ध) अस्सी करोड़ धन वाले ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए। उनका नाम था कुण्ड कुमार। बड़े होने पर वे तक्षशिला से सम्पूर्ण कला में पारंगत हो, घर लौटे। वहाँ कुटुम्ब का पालन-पोषण करने लगे।

माता-पिता की मृत्यु के पश्चात् अतुल सम्पत्ति की ओर उन्होंने दृष्टिपात किया और सोचा—'मेरे सगे-संबन्धी यह धनराशि कमाकर यहीं छोड़ गए, उसे साथ नहीं ले गए। अब मुझे इसे अपने साथ ले चलना चाहिए।'

उन्होंने अपना सारा धन दान में दे दिया। जो जितना ले जा सका, अपने साथ लेता गया। इस तरह सम्पूर्ण धन-राशि लुटा चुकने के बाद वे हिमालय में प्रवेश कर प्रव्रजित हो गए। फल-मूल आहार करते हुए बहुत समय तक वहीं रहे।

इसके बाद उन्हें नमक-खटाई खाने की इच्छा हुई। वे बस्ती में आए। क्रमानुसार वाराणसी पहुँचे। नगर में भिक्षाटन करते हुए वे वहाँ के सेनापति के द्वार पर पहुँचे। सेनापति उनके उपदेश से बहुत प्रभावित हुआ। अपने निवास स्थान पर ले जाकर उनका समुचित सम्मान किया। भोजनोपरांत उसने राजोद्यान में उन्हें रहने की जगह दी।

एक दिन कलाबु राजा मदिरा के नशे में चूर तमाशों से घिरा हुआ बड़ी शान के साथ अपने उद्यान में आया। वहाँ रास-रंग की तैयारी होने लगी। मंगल शिला पट पर बिछावन बिछाए गए। एक प्रिय मनोज्ञ स्त्री की गोद में सर रख कर राजा सो गया और नृत्य-संगीत में पारंगत अद्वितीय रमणियाँ अपनी-अपनी कलाओं से उसका मनोरंजन करने लगीं।

कुछ कालान्तर राजा की आँखें लग गईं। मदिरा के नशे में चूर वह सो गया। उसके सो जाने के बाद उन रमणियों ने सोचा, महाराज के लिए ही तो हम सब गा-बजा रही थीं, जब वे सो गए तो गाना-बजाना कैसा? नृत्य-संगीत से उनकी निद्रा में खलल पड़ सकती है।

अतः वे वाद्य यंत्र जहाँ का तहाँ छोड़, उद्यान में भ्रमण करने हेतु चल पड़ीं। वहाँ के फूल-फल तथा पत्तों से अनुरक्त हो रमण करने लगीं।

उस समय बोधिसत्व उद्यान के एक तरफ पुष्पित शाल-वृक्ष की छाया में प्रव्रज्या सुख का आनन्द लेते हुए वैसे ही बैठे थे जैसे श्रेष्ठ मस्त हाथी।

उद्यान में भ्रमण करती हुई वे रमणियाँ उन्हें देख कर बोलीं—"आर्याओ ! आओ। उस वृक्ष की छाया में प्रव्रजित बैठा है। जब तक महाराज सो रहे हैं, तब तक हम इसके पास बैठकर कुछ सुनें !"

वे बोधिसत्व को प्रणाम कर, घेरकर बैठ गईं। एक बोली—ऋषिवर, हमारे योग्य कोई उपदेश दें !

बोधिसत्व ने उन्हें उपदेश दिया।

उधर उस स्त्री की गोद के हिलने से राजा की आँख खुल गई। जागने पर जब उसने आस-पास की रमणियों को न देखा तो बोला—"कहाँ गई वे चाण्डालिनियाँ ?"

"महाराज, एक तपस्वी को घेर कर बैठी हैं !"

राजा को क्रोध आया। उसने तलवार निकाली और बड़े वेग से यह कहता हुआ चला—"उस दुष्ट तपस्वी को सबक सिखाता हूँ।"

उन रामणियों ने राजा को क्रोध में भरे आते देखा तो उनमें जो राजा की अधिक प्रिया थी, उसने आगे बढ़ कर हाथ से तलवार ले ली और राजा के क्रोध को शांत किया।

राजा ने बोधिसत्व के पास खड़े होकर पूछा—"श्रमण, तुम्हारा क्या वाद है ?"

"महाराज, क्षमावाद ?"

"यह क्षमा क्या ?"

"गाली देने पर, प्रहार करने पर, मजाक करने पर अक्रोधी रहना !"

"अभी देखता हूँ तुझमें क्षमा है या नहीं···" कह कर राजा ने जल्लाद को बुलवाया।

वह अपने स्वाभावानुसार कुल्हाड़ा और कब्जेदार चाबुक लिए, पीतवस्त्र तथा लाल माला धारण किये हुए आ पहुँचा। राजा को प्रणाम कर बोला—"क्या आज्ञा है ?"

"इस चोर दुष्ट तपस्वी को पकड़, घसीट, जमीन पर गिरा, चाबुक लेकर आगे-पीछे दोनों ओर दो हजार चाबुक लगा।"

जल्लाद ने वैसा ही किया। बोधिसत्व की खलड़ी उतर गई, मांस फट गया, खून बहने लगा।

राजा ने पूछा—"भिक्षु ! क्या 'वादी' हो ?"

"क्षमावादी, राजन् ! क्षमावादी···क्या तुम समझ रहे हो, मेरी इस चमड़ी में क्षमा छिपी हुई है ?. नहीं, कदापि नहीं। तुम उसे नहीं देख सकते। क्षमा मेरे हृदय में है।"

जल्लाद ने पूछा—"अब क्या करूँ महाराज ?"

"इस दुष्ट तपस्वी के दोनों हाथ-पाँव काट डाल !"

जल्लाद ने बोधिसत्व के हाथ-पाँव काट डाले। उनकी जड़ों से घड़े के मुंह में से लाल-रस बहने की तरह रक्त बहने लगा।

राजा ने फिर पूछा—"क्या 'वादी' है ?"

"महाराज, क्षमावादी ! तुम समझते हो कि क्षमा हाथ-पाँव के मूल में है, वह यहाँ नहीं है। मेरी क्षमा बड़ी गहराई में प्रतिष्ठित है।"

राजा ने आज्ञा दी—"इसके कान-नाक काट डाल।"

जल्लाद ने वैसा ही किया। तपस्वी का सारा शरीर लहू-लुहान हो गया।

राजा का फिर प्रश्न हुआ—"क्या 'वादी' है ?"

"महाराज, क्षमावादी। ऐसा न समझें कि मेरी क्षमा कान-नाक के मूल में प्रतिष्ठित है। मेरी क्षमा हृदय के अन्दर बहुत गहराई में स्थित है।"

राजा उसके हृदय-स्थल पर एक ठोकर मार कर चल दिया—"दुष्ट तपस्वी ! तेरी क्षमा तुझे उठाकर बिठाए।"

उसके चले जाने पर सेनापति ने बोधिसत्व (भगवान् बुद्ध) के शरीर से रक्त पोंछा। हाथ-पाँव, नाक तथा कान के मूल पर वस्त्र बाँध, उन्हें धीरे से बठाकर प्रणाम करके पूछा—"भन्ते ! यदि आप क्रोधित हों तो केवल उस राजा पर क्रोधित हों, जिसने आपको इतना कष्ट पहुँचाया है। किसी और पर क्रोध न करें।"

यह सुनकर बोधिसत्व ने कहा—"जिस राजा ने मेरे हाथ-पाँव तथा नाक-कान काट डाले, वह चिरकाल तक जीवित रहे। मेरे जैसे लोग क्रोध नहीं करते !"

राजा ज्यों ही उद्यान से निकलकर बोधिसत्व की आँखों से ओझल हुआ, त्यों ही यह दो लाख चालीस हजार योजन महापृथ्वी फट गई। अवीचि नरक से ज्वाला ने निकल कर उसे वैसे ही लपेट लिया जैसे कुल-प्राप्त लाल कम्बल लपेट ले।

वह उद्यान के द्वार पर ही पृथ्वी में प्रवेश कर महाअवीचि नरक में पहुँचा।

बोधिसत्व की भी जीवन-लीला उसी दिन समाप्त हो गई। राज-पुरुषों तथा नागरिकों ने गन्ध-माला तथा दीप-धूप हाथ में लेकर बोधिसत्व का शरीर-कृत्य किया।

हिन्दी में संक्षिप्त रूपान्तर

'ममता' में प्रकाशित 'जातक' की एक प्राचीन कहानी का 'पाली' से

कुषाण कालीन मथुरा की जैन-सभ्यता

—डा० एस० सी० उपाध्याय, एम० ए०, एल-एल० बी०,
डी० एल, पी-एच० डी०

मथुरा और उसके निकटवर्ती प्रदेश से हमें कुषाण कालीन बहुत से जैन अवशेष प्राप्त हुए हैं, जो मथुरा के स्थानीय पुरातत्व संग्रहालय में सुरक्षित हैं।

इन अवशेषों से कुषाण काल में इस क्षेत्र में रहने वाले व्यक्तियों की सभ्यता और संस्कृति के विषय में हमें अत्यन्त महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। कंकाली टीला से प्राप्त प्राचीन मूर्तियों से ज्ञात होता है कि मथुरा उन दिनों जैनधर्म का एक प्रधान केन्द्र था। इस कथन की सत्यता सिद्ध करने के लिए हमें प्रचुर प्रमाण प्राप्त हुए हैं। प्रारंभिक एवं परवर्ती संस्कृत और प्राकृत साहित्य में जो प्रभूत सामग्री हमें उपलब्ध होती है, उससे भी इसी कथन की पुष्टि होती है।

इस विशाल सामग्री के कुछ अंशों के आधार पर हम तत्कालीन जनता के विभिन्न वर्गों के रीति-रिवाजों और वेश-भूषा का संक्षिप्त विवेचन यहां प्रस्तुत करेंगे।

राजा—राजा जब जनता के समक्ष आता था तो अनेक भृत्य उसके साथ होते थे। राजकीय छत्र उसके सिर पर रहता था। वह पगड़ी पहनता था तथा धोती भी, जिसका एक सिरा उसके बाएँ हाथ में रहता था। वह कानों में कुंडल और हाथों में कंगन भी धारण करता था।

रानी—रानी के साथ भी परिचारिकाओं का दल रहता था। उनमें से एक छत्र लिए रहती थी। दूसरी परिचारिका एक पंखा लिए रहती थी। कमर से नीचे का भाग सभी स्त्रियां ढके रहती थीं। कमर के ऊपर का वस्त्र उत्तरीय था। रानी सिर के आभूषण के अतिरिक्त कानों में कर्ण कुंडल, गले में हार और हाथों में भुजबंध तथा कटक धारण करती थी।

धर्मगुरु—एक प्रस्तर पर एक धर्म-प्रधान का चित्रण है, जो धोती की तरह का एक वस्त्र धारण किये हुए है। एक दूसरा वस्त्र वह ऊपर ओढ़े है, जिसका एक सिरा बायें स्कन्ध के पीछे से होकर बाईं कलाई पर आकर समाप्त होता है। एक दूसरे दृश्य में धर्मगुरु एक कटि-वस्त्र पहने है। उसके पास एक वस्त्र आसन के लिए और एक सम्भवतः मुंह ढकने के लिए है।

श्रावक—पुरुष कमर से लेकर टखनों तक धोती पहनते थे, जिसे सामने की ओर से बाँधा जाता था। शायद वे उपरिवस्त्र धारण नहीं करते थे। सीना खुला रहता था। कई प्रकार की पगड़ियों का रिवाज था। कभी-कभी उपरिवस्त्र ओढ़ भी लिया जाता था। आभूषणों में कानों में कुंडल, गले में हार और कलाइयों पर कटक पहनते थे।

श्राविका—स्त्रियाँ एक साड़ी पहनती थीं, जिससे सारा शरीर टखनों तक ढक जाता था। सिर खुला रखा जाता था। आभूषणों में हार, भुजबन्ध, कुण्डल, और करधनी का अधिकता से व्यवहार होता था।

बालों को अनेक प्रकार से सजाने-सँवारने का चलन था। पुष्प-हारों तथा बहुमूल्य आभूषणोंसे उन्हें सज्जित किया जाता था।

नर्तकी बालाएँ—नर्तकियाँ अपने पूरे शरीर को नहीं ढकती थीं। ओढ़ने के वस्त्र को, जो कमर के चारों ओर आता था, बाईं ओर ढीला छोड़ देती थीं। कभी-कभी वे केवल कमर से नीचे तक ही कपड़े पहनती थीं, जिसका फैलाव सामने की ओर होता था। वे नृत्य कला में निपुण होती थीं। कुछ मूर्तियों पर स्त्रियों को संगीत के वाद्य बजाते हुए दिखाया गया है और कुछ पर नृत्य-मुद्राओं का सुन्दर चित्रण है। ये बालाएँ अनेक प्रकार के हार पहनती थीं। उनकी करधनियों पर विभिन्न प्रकार की कलाकृतियां होती थीं। उनके पायल बहुत भारी होते थे। अनेक प्रकार के मणिबन्ध और कुण्डल भी वे धारण करती थीं।

सार्वजनिक आमोद-प्रमोद—छुट्टियों और दूसरे अवकाश के समय व्यक्ति नगर के बाहर उद्यान-क्रीड़ा को जाया करते थे। धार्मिक पर्वों पर वे सामूहिक रूप से पूजागृहों तक जाते थे। बन्द गाड़ियों को खच्चर और खुली गाड़ियों को घोड़े खींचते थे। इनकी रक्षा के लिए सशस्त्र रक्षक घोड़ों पर तथा

[शेष पृष्ठ २२ पर]

आराधना

द्रुतविलम्बित

सुबोध से हो अति ही महान् तुम
सुदृष्टि भी है विमला मनोहरा।
तथा हुई राग विहीनता, अतः
लही सदा से वह वीतरागता।

यतः यथा बर्हिण दृष्टिमात्र से
विमुक्त होते सब चन्द नाग से।
तथैव मैं भी तव दृष्टि प्रेम से
अबोधरूपी रिपु को विनाशता॥

महेश हैं आप, तथा जिनेश भी
अनेक ऐसे तव नाम हैं प्रभो!
परन्तु हैं आप यथार्थ रूप में
अनेक रूपी परमात्म-तत्त्व ही॥

सुना गया है तव नाम हे प्रभो!
सुना तथा है तव ओज-तेज को।
आशा उसी से मम अन्तरङ्ग में
हुई प्रभो! हूँ करता सुयाचना॥

शिखरिणी

अतः दो ऐसी धी विमल मति की उत्तम अहो
करूँ सेवा ऐसी कि जन मन हो हृष्ट जिससे।
भजूँ ते पादों को विमल मति की चाह मुझको
करो आशा पूरी तव चरण सेवा कर सकूँ॥

—श्री 'कोमल' जैन बीना

नया और पुराना

–मुनि सुरेशचन्द्र जी शास्त्री, साहित्यरत्न

किसी भी जाति, समाज और राष्ट्र के सामने जब प्रगति का बोलता हुआ प्रश्न उपस्थित होता है, तो प्रायः उसकी प्रतिक्रिया दुहरी होती है। समाज का एक वर्ग उसका नाम सुनते ही नाक-भौंह सिकोड़ता है, धर्म, संस्कृति और सभ्यता के ख़तरे का नारा बुलन्द करता है, शक्ति भर उसका विरोध करता है। दूसरा वर्ग उस प्रगति के प्रकाश और युग-चैतन्य का हृदय से स्वागत करता है; अपने मानस नेत्रों से युग-जागरण की अँगड़ाई को पहचान कर, उसकी रफ्तार के साथ जिन्दा रहने के लिए युग-परिवर्तन को स्वीकार करता है।

पहले वर्ग को हम स्थितिपालक कहेंगें और दूसरे को सुधारवादी। एक का कहना है कि स्थिर रहने में कल्याण है। दूसरे का दावा है कि समयानुकूल संयत गति में ही श्रेय है। एक के पास पुरातनवाद का पुलावा है, पोथी-पत्रे हैं और दूसरे के पास बौद्धिक प्रकाश, युक्तियाँ और तर्क-संगत सामयिक सूझ-बूझ है।

इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि हर समाज में प्रगति के रोड़े पुराण तत्त्व ही होते है। अतः सामाजिक विकास के गतिरोध का दायित्व पुराने कंधों पर रहता है—यह कहा जा सकता है। पौराणिक तत्त्व 'पुराना सब कुछ अच्छा' के व्यामोह में पड़कर ज़िद के धागे को इतना खींचते हैं कि वह टूटने की स्थिति में पहुँच जाता है। सुधारवादी वर्ग अपने प्रगतिशील एवं युक्तियुक्त विचारों के कारण बहुधा उत्तेजित हो उठता है। और इसीलिए जब वह प्रतिक्रियावादी तत्त्वों को अपने ऊपर अनधिकृत आक्रमण करते देखता है, तो विद्रोही हो जाता है। स्थितिवादी तथा पुरातनतावादी वर्ग वर्तमान को ग्रहण करने में अपने को असमर्थ पाता है; अतीत की बेड़ियों में जकड़े होने के कारण वर्तमान युग-चेतना को बुद्धिगत करने का उसमें अभाव सा ही होता है। युग मंच पर घटित घटनाओं तथा युग जागरण की नई अँगड़ाई के प्रति

उसे कोई दिलचस्पी नहीं होती। जिसका परिणाम यह होता है कि वह युगानुकूल सुधार का विरोधी हो जाता है, और सुधार एवं प्रगति के हर क़दम को धर्म, संस्कृति और विशेषतया अपने अधिकारों पर कुठाराघात समझता है।

प्रतिगामी तत्त्वों के पास अपनी बात के लिए वही एक आदिम और बूढ़ा तर्क होता है कि—"नहीं भाई! ऐसा तो परंपरा से होता आया है, इसलिए इसे ग़लत कैसे मान लें? हमारे पूर्वज बुद्धि-हीन थोड़े ही थे जो उन्होंने ऐसी परंपराएँ प्रचलित कीं?"

परन्तु सुधारवादी वर्ग अपने सतेज स्वर में कहता है कि यदि आप के पूर्वज़ बुद्धि-हीन नहीं थे, तो सब के सब सर्वज्ञ भी तो नहीं थे? पंचम काल में तो भगवान ने भी सर्वज्ञता का निषेध किया है। किन्तु यहां तो हर धर्म-गुरु सर्वज्ञ बन बैठा है। और क्या पुत्र पिता से बुद्धिशाली, दूरदर्शी, समझदार और अगुआ नहीं हो सकता? क्या अपनी सन्तति की मूर्खता, बद्धि-हीनता और ह्रासोन्मुखी चेतना में ही आप अपना गौरव सुरक्षित देखते हैं? क्या पूर्वज जो कह गए, ज्ञान इतना ही था? पहले आचार्य और धर्म-गुरु जो कह गए, सब सच्चा है? उनकी सब बात सफल है और मेरी बुद्धि या विचार-शक्ति टुटपुंजिया है? पहली पीढ़ियाँ अपने साथ बुद्धि का सारा चमत्कार बटोर कर ले गईं और अब बुद्धि का दिवाला ही शेष है? ऐसा विचार करना आचार्य सिद्धसेन के शब्दों में आत्मघात है—

"अवन्ध्यवाक्या गुरवोऽहमल्पधी-
रिति व्यवस्यन् स्ववधाय धावति॥"

बुजुर्ग ठीक ही थे, हम कुछ नहीं समझते—ऐसी समझ वाला अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारता है।

अतः महाकाल के साथ जीवित रहने का आशावादी दृष्टिकोण ही सही है। काल का जो जीर्ण भाग है, जो जरा-ग्रस्त है, जो पुरातन है, वह हो-बीता, वह मृत हो गया। उसे आगे आने वाले पुत्र ही नया जीवन प्रदान करेंगे। आचार्य सिद्धसेन फिर चुनौतीपूर्ण स्वर में उद्घोष कर रहे हैं—"जो पुरातन काल था, वह मर चुका। वह दूसरों का था। आज का जन यदि उसको पकड़ कर बैठेगा, तो वह भी पुरातन की तरह ही मृत हो जायगा।

पुराने समय के जो विचार हैं, वे तो अनेक प्रकार के हैं। कौन ऐसा व्यक्ति है जो भलीभाँति उनकी परीक्षा किये बिना अपने मन को उधर जाने देगा—

"जनोऽयमन्यस्य मृतः पुरातनः, पुरातनैरेव समो भविष्यति ।
पुरातनेष्वित्यनवस्थितेषु कः, पुरातनोक्तान्यपरीक्ष्य रोचयेत् ॥"

हमारे आचार्यों के ये गूँजते हुए स्वर प्रगति, उत्साह, नवीन पथ-शोधन की महान् सूचना देते हैं। समाज और संघ के नवनिर्माण के लिए जीवन में इस प्रकार का उदात्त तथा आशावादी दृष्टि-कोण अपनाना अत्यन्त आवश्यक है। भविष्य का विरोध करके पदे-पदे उससे जझने में और उसकी गति कुंठित करने में भूतकाल का जब उपयोग किया जाता है, तब नए और पुराने के बीच एक खाई बन जाती है और समाज में दो प्रकार की विचारधाराएँ फैलकर संघर्ष को जन्म देती हैं।

जैन-संस्कृति की समन्वय-शील दृष्टि के अनुसार न हमें पुराने का मोह रखना है और न नए का। हमें तो सत्य की दृष्टि लेकर चलना है। पुराने में जो निर्माणकारी तत्त्व है, प्रेरणाप्रद वस्तु है, उसे भी लेना है और नया यदि सही है, जीवन का समाधान तथा उत्कर्ष करने वाला है, तो उसे भी अपनाना है। नए और पुराने दोनों से ही हमें अपनी झोली भरनी है। इस उदार दृष्टिकोण में ही समाज और संघ का भविष्य उज्ज्वल-उज्ज्वलतर है।

[पृष्ट १८ से आगे]

पैदल होते थे। बड़े जलूसों में हाथी भी रहते थे। आदमी बड़ी बड़ी थालियों और टोकरियों में सुगन्धित पुष्पों की मालाएँ उपहार स्वरूप ले जाते थे।

इस लेख में कुषाण-कालीन मथुरा के निवासियों के जीवन का एक लघु चित्र उपस्थित किया गया है। यदि इस लेख के पाठकों को मथुरा के पुरातत्व संग्रहालय को देखने और वहाँ के उस कला मन्दिर से लाभ उठाने की थोड़ी भी प्रेरणा मिलेगी तो मैं अपना श्रम सार्थक समझूँगा।

—'देशबन्धु' से

मानव, कुछ तो विचार कर !

–मुनि श्री महाप्रभविजय जी महाराज, पूना

दाराः परिभवाकाराः, बन्धुजनो बन्धनं विषं विषयाः ।
कोऽयं जनस्य मोहो, ये रिपवस्तेषु सुहृदाशा ।।

संसार के असली स्वरूप को पहचानने के बाद महापुरुषों ने यह प्रकट किया है कि मोहबंधन में बँधा व्यक्ति संसार में जिनको सुख के साधन मानता है, वस्तुतः वे दुःख के ही साधन हैं । पर मोहासक्त मानव को सच्चा ज्ञान नहीं होता । वह अज्ञानवश शत्रु को मित्र और मित्र को शत्रु मान बैठता है । संसार के मोह-माया, ममता, धन आदि सभी जोअ नित्य क्षणभंगुर एवं कष्टप्रद हैं, उन्हीं में वह भ्रमित रहता है । इसी का नाम अविद्या या अविवेक है । आत्मा क्या है ? जीवन क्या है ? कर्मबंधन से दूर होने का उपाय क्या है ? मुक्ति क्या है ? इत्यादि आध्यात्मिक तत्त्वों का ज्ञान और उनका उपयुक्त आचरण ही विद्या या विवेक है । कहा भी है—"सा विद्या या विमुक्तये" । विद्या वही है जो जीवनमुक्ति और कर्ममुक्ति का साधन है ! आजकल के विद्यार्थी तो पढ़ने का उद्देश्य केवल यही समझते हैं कि उन्हें धन कमाने की कला आ जाए । लेकिन विद्या का यह उद्देश्य नहीं है ।

अगर मनुष्य जन्म जैसी अमूल्य और उत्कृष्ट अवस्था में भी मनुष्य को शांति प्राप्त नहीं हुई तो अन्यत्र कहां शांति मिलेगी ? मनुष्य जन्म में ही आत्मा शांति के साधनों को पहचान सकता है ।

आज जब संसार की ओर दृष्टिपात करते हैं तो ऐसा अनुभव होता है कि सब लोग शांति चाहते हैं, पर उनको यह मालूम नहीं कि शांति कैसे प्राप्त की जाए ? सुख प्राप्त करने का साधन क्या है ? उपाय कौन से हैं ? सचमुच देखा जाए तो आज की दुनिया अशान्ति, दुःख और द्वेष के मार्ग की ओर ही बढ़ती जा रही है । चारों ओर युद्ध, क्लेश, हिंसा एवं संताप का हाहाकार सुनाई दे रहा है । स्वार्थ-अंध संसारी जन पाप-पंक में इस तरह लिपटे हुए हैं कि वे सही तत्त्व को ग्रहण करने में भी असमर्थ हैं ।

यथार्थता यह है कि जिसे सांसारिक पदार्थों की अधिक लालसा है उसे ही अधिक भय है, दुःख है। जिसकी लालसाएँ सीमित हैं या स्वार्थवृत्ति कम है, उसे दुःख और भय भी उसी परिमाण में कम हैं।

विषयान्धता ही सब दुःखों की जड़ है ? लोभी तृष्णातुर कभी सुख नहीं पा सकता। "सन्तोषः परमं सुखम्" सन्तोष ही सुख का एक मात्र उपाय है।

इसलिए ज्ञानी जन कहते हैं कि शत्रु को पहचानो। मित्र माना हुआ व्यक्ति कहीं शत्रु तो नहीं है। अपने बनाए हुए अस्त्र कहीं अपने पर ही तो प्रहार का काम नहीं देंगे। जिसे दूध पिलाया, कहीं वही अपने पर जहर तो नहीं उगलेगा।

अभी बाजी अपने हाथ में है। अतः शीघ्र चेत जाने में ही सार है। संसार का मूल स्त्री है। समस्त पराभव इसी से उत्पन्न होते हैं। बन्धुजन, सगे-संबन्धी सभी बंधनरूप हैं। वे आत्मा को बचाने वाले नहीं हैं। परन्तु उन्हें संसार में लिप्त बनाने वाले हैं। इनका मोह जहर से भी ज्यादा भयंकर है। इस जहर के प्रभाव से हमारा जीवन किस मार्ग की ओर बढ़ रहा है, कौन सा मार्ग उत्तम है और किस मार्ग पर चलना चाहिए—यह कुछ नहीं सूझता।

वर्तमान के ऐश व आराम भविष्य के भयंकर दुःखों को आमंत्रण देते हैं। अतः इनसे विलग रहना जरूरी है। यह मनुष्य जन्म क्यों मिला है, इस पर विचार नहीं करना ही दुःखों को बुलावा देना है। दुःख क्यों है ? पाप से। सुख किसमें है ? शुभ कर्मों से।

"हे आत्मन् ? विचार कर ! तू अनन्त ज्ञान का ख़जाना है। तू इस जड़ वस्तु की भुल-भुलैया में कब तक भ्रमित रहेगा ? जाग। वीतराग के धर्म रूप मजबूत किले की शरण में आकर समस्त आत्म शत्रुओं पर विजय पाने की चेष्टा कर।

"वीतराग प्रभु की सच्चा शरण लेकर राग-द्वेष रूप शत्रुओं से लड़ेगा तो अवश्य विजयी बनेगा। इस विजय में ही सच्ची शान्ति छिपी पड़ी है।"

अतः धन और परिवार का मोह छोड़कर मुमुक्षु जन अपनी आत्मा का चिन्तन करें ? आत्मा में जो-जो दोष हैं उन सब को हटाने और आध्यात्मिक वृत्तियों में रमण से ही शीघ्र शांति मिल सकेगी।

सच्चा जैन

—श्री यशोविजय उपाध्याय

(राग घनाश्री-तीन ताल)

परम गुरु जैन कहो क्यों होवे, गुरु उपदेश बिना जन मूढ़ा ।
दर्शन जैन विगोवे, परम गुरु जैन कहो क्यों होवे ॥१॥

हे परम गुरुदेव ! आप अनुग्रह करके यह बताइए, कि जैनत्व का वास्तविक लक्षण क्या है। जो जन गुरु के सद्उपयोग को नहीं सुन पाते, वे मूढ़ कहाते हैं। जैन दर्शन की शुद्ध धारा को वे दूषित करते हैं।

कहता कृपा-निधि, समजल झीले, कर्म मैल जो धोवे ।
बहुल पाप मल अंग न धारे, शुद्ध रूप निज जोवे ॥२॥

कृपा निधि, गुरुदेव कहते हैं कि समत्व के निर्मल जल में स्नात होकर जो अपना कर्म-मल धो डालता है, और जो फिर कभी पाप मल से लिप्त नहीं होता, वह ही अपने शुद्ध स्वरूप को देख पाता है।

स्याद्वाद पूरन जो जाने, नयगर्भित जस वाचा ।
गुन पर्याय द्रव्य जो बूझे, सो जैन हो साचा ॥३॥

जो स्याद्वाद के सिद्धान्त को पूर्ण रूप में जानता है, जिसकी वाणी नय विचार गर्भिता है और जिसे द्रव्य, गुण व पर्याय का बोध हो गया है, वस्तुतः वही सच्चा जैन कहला सकता है।

क्रिया मूढ़ मति जो अज्ञानी, चालत चाल अनूठी ।
जैन दशा उसमें है नांही, कहे सो सबही झूंठी ॥४॥

जिस अज्ञानी की बुद्धि जड़ क्रिया से विवेक विकल बन गई है और जो विपरीत पथ पर चल पड़ा है उसमें जैनत्व का लवलेश भी नहीं है। वह जो कुछ कहता-सुनता है, सब झूठ ही झूठ है।

पर परनति अपनी कर माने, क्रिरिया गर्वे गहेली ।
उनकुं जैन कहो क्युं कहिये, सो मूरख में पहलो ॥५॥

जो पुद्गल परिणति को आत्म परिणति मान बैठा है, और जो जड़ क्रिया में अगुआ होने का गर्व करता है, उसे जैन कैसे कहा जा सकता है। वह तो मूर्खों में भी पहला मूर्ख है।

ज्ञानभाव ज्ञान सब मांही, शिव साधन सद्दहियो।
नाम भेस में काम न सीझे, भाव उदासे रहिये ॥६॥

शिवत्व के उपकरणों में मुख्य रूप से ज्ञान ही श्रद्धा के योग्य कहा गया है। नाम मात्र से और वेष मात्र से लक्ष्य की सिद्धि नहीं हो सकती। अन्तर मन में अनासक्ति का होना भी परम आवश्यक है।

ज्ञान सकल नय साधन साधो, क्रिया ज्ञान की दासी।
क्रिया करत धरतु यह ममता, याहि गले में फांसी ॥७॥

सर्व दृष्टियों से ज्ञान की साधना करो, क्योंकि क्रिया तो ज्ञान की चेरी है। ज्ञान शून्य क्रिया ममत्व भाव को बढ़ाती है, और वास्तव में ममता ही तो गले की फाँसी है।

क्रिया बिना ज्ञान नहीं कबहुँ, क्रिया ज्ञान बिन नाहीं।
क्रिया ज्ञान दोऊ मिलत रहतु हैं, ज्यों जल रस जल माहीं ॥८॥

बिना क्रिया के ज्ञान नहीं और न कभी बिना ज्ञान के क्रिया होती है। ज्ञान और क्रिया में वैसा ही सुमेल है, जैसा कि जल में जल का अपना रस रमा रहता है।

क्रिया मगनता बाहिर दीसत, ज्ञान शक्ति जस मांजे।
सद्गुरु सीख सुने नहीं कबहुं, सो जन जनते लाजे ॥९॥

बाहर में तो जो क्रिया में मग्न दीखता है, परन्तु भीतर में जिसकी ज्ञान शक्ति मग्न हो चुकी है, और जो कभी अपने सद्गुरु की सीख नहीं सुनता, वह पाखंडी साधक जन-जन के सामने लज्जा भार से अवनत होता रहता है।

तत्वबुद्धि जिनकी परनति है, सकल सूत्र की कूँची।
जग जसवाद वदे उनही का, जैन दशा जस ऊँची ॥१०॥

हे यश ! जिसकी तत्व बुद्धि रूप परिणति सकल शास्त्र की कुंजी है और जिसका जैनत्व भाव उच्चस्तर का है, समूचा संसार उसका ही यशोगान करता है।

अनुवादक—श्री विजयमुनि जी शास्त्री, साहित्यरत्न

शिक्षा के दो रूप

—श्री उमाशंकर त्रिपाठी
प्रधानाध्यापक—बालनिकेतन, जोधपुर

प्रचलित शिक्षा प्रणाली किस प्रकार जर्जरित हो गई है—इसके बारे में काफी कहा और लिखा जा चुका है। इस प्रणाली से बालकों के सर्वांगीण विकास में किस कदर रुकावट पैदा हो रही है—यह प्रायः सभी समझदार व्यक्ति समझने व मानने लगे हैं। यहाँ पर मैं इसका विवेचन न करके बालकों के दैनिक जीवन की दो घटनाएँ प्रस्तुत करना चाहूँगा। नतीजा पाठक स्वयं ही निकालने का कष्ट करें।

अभी कुछ ही दिन पूर्व मैं बनारस में अपने एक परम हितैषी मित्र के यहाँ ठहरा हुआ था। एक दिन प्रातः काल घूमने के लिए मैं शहर के किनारे की ओर चला गया। एक दरवाजे पर देखा कि दस-ग्यारह वर्ष का एक लड़का चारपाई पर बैठा हुआ–डब्ल्यू. ओ. आर. के. आई. एन. जी—वर्किंग-वर्किंग रट रहा है। उसने अभी हाथ-मुँह नहीं धोया था। सोकर उठा ही था और सीधे रटने बैठ गया था। उसकी आवाज तेज थी और दूर तक मुझे सुनाई पड़ती रही। १५-२० मिनट के बाद मैं फिर उधर से ही लौटा। वह लड़का उसी प्रकार बैठा हुआ डब्ल्यू. ओ. आर. के. आई. एन. जी.—वर्किंग रट रहा था।

शिक्षा की इस दयनीय दशा पर विचार करता हुआ मैं आगे बढ़ गया। थोड़ी ही दूर गया होऊँगा कि मुझे एक बालिका दिखाई पड़ी। उसकी उम्र यही कोई ८-९ वर्ष के लगभग रही होगी। उसका घर टूटा-फूटा था जिससे गरीबी झलक रही थी। बालिका ने धोती को कमर से लपेट रक्खा था और दरवाजे की सफाई में जुटी थी। झाड़ू के अभाव में उसके पास शायद रूस की डालियां थीं। वह झाड़ू देती जाती थी और झाड़ू की तान पर एक सुन्दर गीत गाती जाती थी। उसकी तत्परता व लगन देखकर मैं एक क्षण के लिए वहाँ खड़ा हो गया और सोचने लगा—क्या यह शिक्षा नहीं है?

———

त्यागपूर्वक उपभोग करो

—श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति

मा गृधः कस्य स्विद्धनम्

किसी अन्य के धन को लेने की अभिलाषा मत करो।

इस पद में जो धन शब्द आया है, उसका अभिप्राय केवल रुपया-पैसा आदि चल अथवा ज़मीन जायदाद आदि अचल सम्पत्ति से नहीं है। यहाँ धन शब्द का बहुत व्यापक अर्थ में प्रयोग है। एक मनुष्य को जो कुछ प्रिय है, जिसे वह चाहता है, और जिससे उसे सुख मिलता है, वह उसका धन है। प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार है कि वह अपने धन का उपभोग करे। वह धन अधिकारों के रूप में हो, या सम्पत्ति के रूप में। जो न्यायपूर्वक उसका है, वह उसका धन है, उसे संयमपूर्वक भोगने का उसे पूरा अधिकार है।

परन्तु इस व्यवस्था के चलाने के लिए एक नियम का पालन करना अत्यन्त आवश्यक है। वह नियम यह है कि जहाँ प्रत्येक व्यक्ति अपने धन का उपभोग करने में स्वतन्त्र हो, वहाँ उसे यह अधिकार न हो कि वह दूसरे के धन को छीनने, या हड़पने की इच्छा या यत्न करे। यदि सब मनुष्यों को यह अधिकार मिल जाए कि वे दूसरों के धन को छीन लें, तो किसी का धन भी सुरक्षित नहीं रह सकता। हम सुख का उपभोग करें, इसकी यह सीमा है कि हमारे सुखभोग से दूसरों की सुख-सामग्री का व्याघात न होना चाहिए। मनुस्मृति में धर्म का चौथा साक्षात् लक्षण 'स्वस्य च प्रियमात्मनः' को बतलाया है। उसका अभिप्राय यह है कि यदि हम यह जानना चाहते हैं कि दूसरे के साथ किया हुआ कोई व्यवहार भला है या बुरा, तो अपनी आत्मा से पूछ कर देखें कि यदि हमारे साथ कोई वैसा व्यवहार करे, तो हम उसे भला समझेंगे या बुरा? यदि हमें अपनी आत्मा से यह उत्तर मिले कि यदि कोई अन्य व्यक्ति हमारे धन को चुरा ले तो हमें बुरा लगेगा तो समझ लो कि दूसरे के धन को चुराना बुरा है, अतः पाप है। प्रत्येक मनुष्य अपनी स्वाधीनता से प्यार करता है। उस पर अनुचित प्रतिबन्ध

लगे तो उसे बुरा मानता है, इससे स्पष्ट है कि जो व्यक्ति दूसरों की स्वाधीनता का अपहरण करता है, वह बुरा काम करता है। यही पाप और पुण्य को पहिचानने का सबसे सरल और प्रत्यक्ष उपाय है। महाभारत में व्यास मुनि ने निम्नलिखित श्लोक में पाप-पुण्य की इस कसौटी को बहुत सरल ढंग से समझाया है—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत्॥

धर्म का सार सुनो, और सुन कर उस पर विचार करो। जो व्यवहार तुम्हारी आत्मा को अप्रिय मालूम होता है, वह दूसरों के साथ मत करो। व्यवहार की यह सरल से सरल कसौटी है। तुम नहीं चाहते कि कोई दूसरा व्यक्ति तुम्हें गाली दे, तुम दूसरे को गाली मत दो। यदि कोई आदमी तुम्हारी किसी वस्तु पर अधिकार करना चाहे तो तुम दुःखी होते हो, बस समझ लो कि तुम्हें भी दूसरों की किसी वस्तु पर अधिकार न जमाना चाहिए। 'मा गृधः कस्य स्विद्धनम्' का यही अभिप्राय है।

अपने धन की रक्षा करो

तुम दूसरों के धन की अभिलाषा मत करो, इसके अन्तर्गत यह तात्पर्य भी आ जाता है कि अपने धन की रक्षा करो। इस ऋचा के पहले पद में कहा है कि जगत् की वस्तुओं का निर्लेप होकर उपभोग करो। उपभोग तभी हो सकता है, जब हम उन्हें परिश्रम से प्राप्त करें, और प्राप्त करने के अनन्तर उनकी रक्षा करें। अपनी वस्तुओं की रक्षा न करें, और दूसरों की वस्तुओं पर हाथ डालने का विचार भी न करें, तो प्रश्न यह है कि उपभोग किस का करें। यदि वैदिक कर्मशास्त्र के आधारभूत इस 'ईशावास्य' मन्त्र का सार सरल शब्दों में बतलाना हो तो हम कहेंगे कि अपने परिश्रम से कमाई हुई मूल्यवान् वस्तुओं का आसक्ति से रहित होकर उपभोग करो। उस उपभोग की मस्ती में आकर दूसरों की वस्तुओं को अपनाने का प्रत्न न करो और अपनी वस्तुओं की यत्नपूर्वक रक्षा करो।

जो विचारक "त्यक्तेन भुञ्जीथाः' का यह अभिप्राय समझते हैं कि मनुष्य का कल्याण जगत् के सर्वथा त्याग में है, वे धर्म के मर्म को नहीं जानते।

दर्शनकार ने धर्म का यह लक्षण किया है—'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयसिद्धिः स धर्मः' जिससे इस जीवन में 'अभ्युदय' सफलता और विभूति प्राप्त हों, और उसके पश्चात् 'निःश्रेयस' अर्थात् मोक्ष मिले, वह धर्म है। जब 'अभ्युदय' का साधन धर्म है तो 'अभ्युदय' पाप कैसे हो सकता है? जीवन की दैनिक और प्रारम्भिक आवश्यकताओं से लेकर चक्रवर्ती राज्य तक अभ्युदय शब्द के अन्तर्गत हैं। धर्मानुसार उन सब उत्तम और सुखदायी वस्तुओं को प्राप्त करके उनका उपलब्ध करना न केवल उचित है, अपितु कर्तव्य धर्म है—शर्तें केवल दो हैं, उनका उपभोग करते हुए उन में लिप्त न हो, और उन्हें प्राप्त करते समय यह ध्यान रखो कि कहीं तुम किसी दूसरे के अधिकार या पदार्थ पर हाथ तो नहीं डाल रहे हो। यदि ये दो दोष न हों तो जगत् की किसी अच्छी वस्तु को प्राप्त करना या उसका उपभोग करना अपराध नहीं है, प्रत्युत धर्म है।

'जीवो जीवस्य भोजनम्' का सिद्धान्त

'जीवो जीवस्य भोजनम्' महाभारत के इस वाक्य का यह अभिप्राय है कि इस संसार में बड़ा जीव छोटे को खा जाता है। यह संसार की वस्तुस्थिति का वर्णन है। यदि हम यह कहें कि जल की भाँति मनुष्य में भी प्रायः नीचे की ओर बहने की प्रवृत्ति होती है तो यह वस्तुस्थिति का वर्णन अवश्य है, परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि वह कर्तव्याकर्तव्य-शास्त्र का कोई सिद्धान्त है। बुद्धिहीन जीवों में यह प्रवृत्ति है कि वे एक-दूसरे को खा जाते हैं—जो बलवान् होगा वह निर्बल को खा जाएगा। वे जीव पशुपक्षी हों या मनुष्य देह धारी—यदि वे विवेक से काम नहीं लेते तो वे 'जीवो जीवस्य भोजनम्' के पाशविक सिद्धान्त पर चलते हैं, परन्तु मनुष्य को सोचने की शक्ति इसलिये दी गई है कि वह भले और बुरे में विवेक कर सके। मनुष्य और पशु में यही भेद है।

ईसा की उन्नीसवीं सदी में एक समय आया था, जब योरोप के विचारकों ने विकासवाद की बाढ़ में बह कर अपनी बुद्धि का संतुलन खो दिया था। उन्होंने देखा कि सृष्टि के संघर्ष में आकर प्रायः वे ही बच जाते हैं, जो बलवान और योग्यतम होते हैं, जो निर्बल होते हैं वे नष्ट हो जाते हैं। उन्होंने इससे यह परिणाम निकाला कि इस संसार में आज वे ही जीवित हैं, जो हर प्रकार से श्रेष्ठतम हैं, और भविष्य में भी ऐसा ही रहेगा। यदि इस युक्ति शृङ्खला को मान लिया जाए तो हम इस नतीजे पर पहुँच जाएँगे कि मनुष्य जाति की

उन्नति के लिए आवश्यक है कि मनुष्यों और जातियों का संघर्ष निरन्तर जारी रहे, 'मैं दूसरे के अधिकार पर आक्रमण न करूँ' यह भावना नष्ट हो जाए, ताकि बलहीन मनुष्य या मनुष्यसमूहों को नष्ट करके बलवान् और भी अधिक बलवान् होते जाएँ। विकासवाद और विज्ञान के चमत्कारों की चकाचौंध से बन्द आँखों वालों ने एक ऐसे भविष्य की कल्पना की जिसमें योरोप की 'विकसित' जातियाँ सारे भूखण्ड पर छा जाएँगी, क्योंकि वे योग्यतम होंगी। गोरों की गाड़ी पीलों और कालों को रौंदती हुई सारी पृथ्वी पर छा जाएगी। ऐसी कल्पनाओं ने 'योग्यतम का बचाव', 'निर्बलों का नाश' और 'जीवन संघर्ष' जैसे वाक्यों को सिद्धान्तों का रूप दे दिया, जो वस्तुतः अन्धी प्रकृति की प्रवृत्तियों का वर्णन करने वाले थे। सहानुभूति और विवेक, जो मनुष्य के विशुद्ध गुण हैं, उन्हें भुलाकर, केवल पाशविक प्रवृत्तियों को संसार की उन्नति का साधन मान लेने के परिणामों को हम स्पष्ट देख रहे हैं। गत ५० वर्षों में, निरन्तर 'संघर्ष' द्वारा योरोप ने न केवल अपना अपितु संसार भर का जो विनाश किया है, इतिहास में उसकी उपमा मिलनी कठिन है। खण्ड प्रलय के समान विनाशकारी युद्धों का इतना लम्बा अनुभव प्राप्त करके अब भी पश्चिम ने पूरी तरह 'निरन्तर संघर्ष' जैसी कल्पनाओं की निःसारता और भीषणता को समझा या नहीं, यह कहना कठिन है।

इस प्रकार की सब कल्पनाओं के आधारभूत जो भ्रांतवाद है, 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्य स्विद्धनम्' यह श्रुति वाक्य उन सब का एक उत्तर है। प्रत्येक मनुष्य और जाति का यह धर्म है कि वह अपने अधिकारों तथा पदार्थों का संयमपूर्वक उपभोग करे, परन्तु दूसरों के अधिकारों तथा पदार्थों की अभिलाषा भी न करे। मनुष्य जाति के कल्याण का एक यही उपाय है।

—'गुरुकुल पत्रिका' के संपादक की कृपा से प्राप्त लेख का सारांश

हमें सुशान्ति चाहिए !

सुशीलता, कुलीनता
वहाँ जहाँ सुशान्ति है ।
सुबंधुता, सुकार्य—
दक्षता, जहाँ न भ्रान्ति है ।

अतः हमें सनेहपूर्ण
सौख्य प्राप्ति के लिए ।
सुशान्ति का अमूल्य वित्त
शुद्ध-चित्त चाहिए !

कि आज विश्व माँगता ,
हमें सुशान्ति चाहिए !

कुचल रहा वहाँ मनुज ,
जहाँ महान क्रान्ति है ।
कुचल रही सुसभ्यता ,
वहाँ जहाँ अशान्ति है ।

अतः हमें सुशिक्षिता ,
सुसभ्यता प्रपूर्णता ।
समस्त राष्ट्र में सनेह ,
विश्व ऐक्य चाहिए ।

कि आज विश्व माँगता ,
हमें सुशान्ति चाहिए !

—गोकुल चन्द्र जैन 'प्रवासी'

पथ-भ्रष्ट

–श्री अभयमुनि जी महाराज

सुरम्य पहाड़ी प्रदेश में एक अधेड़ योगी कठोर साधना में निरत था। लगभग दस वर्ष से तो उसने मौन ही साध लिया था। जीवन यापन के लिए फल-फूल और पत्ते ही पर्याप्त थे। वल्कलों से वह वस्त्रों का काम लेता और घने वृक्षों की छाया उसके लिए प्रासाद सदृश थी। संसार में कहाँ क्या हो रहा है, इससे उसका कोई संबन्ध नहीं था। न किसी को शाप, न वरदान। न आशा थी, न तृष्णा। न सम्मान की इच्छा, न अपमान का डर। वह संसार के समस्त जीवों को अपना परिवार मान चुका था। किसी अज्ञात की शोध में हर समय निरत रहता। जब देखो उसकी अधखुली पलकें नासिका के अग्रभाग पर पड़ी रहतीं, शरीर ढीला सा कुम्हलाया हुआ और वदन चिन्तातुर।

संसार की दृष्टि से दूर वह अपने विचारों में तन्मय था। और शायद इसीलिए उसकी दैनिक आवश्यकताएँ नाम मात्र की ही रह गईं थीं। उसे भले ही संसार से विरक्ति हो गई हो, पर संसार उसे कैसे छोड़ देता। जैसे पुष्प कहीं भी खिले, भँवरे उसे खोज ही लेते हैं, उसी प्रकार भक्तों ने भी अपने आराध्य की खोज कर ही ली।

न तार, न टेलीफ़ोन, न रेडियो, न वायरलेस और न किसी समाचारपत्र में ही उसका नाम तक छपा था। फिर भी न जाने जनता को कौन उसका नाम सुना गया। स्त्री-पुरुष, बच्चे-बूढ़े, राजा-रंक सभी की ज़बान पर योगी की कहानी, उस तपस्वी की गूँज थी।

दूर-दूर से यात्री दर्शनार्थ आते। पर उसका कोई ठौर-ठिकाना न होने से सारा दिन जंगल छानते बीत जाता। उसका पता न लग पाता। किसी भाग्यशाली को ही उसका दर्शन हो पाता और जब वह अपने नगर में लौटता तो लोग उसे घेर लेते। कुछ श्रद्धालु तो उसके पैर तक छूने लगते। उधर वह भी अपने आप को कृतकृत्य समझता और मिथ्याभिमान से गर्वित होकर राई का पहाड़ बनाने का प्रयत्न करता। इसी प्रकार योगी के विषय में बहुत सी किंवदन्तियां भी प्रचलित हो गई थीं।

एक बार एक राजा की इच्छा उसके दर्शन करने की हुई। कई दिन की निरन्तर खोज के पश्चात् योगी के दर्शन हुए। एक इच्छा पूर्ण होते ही दूसरी

का जन्म स्वाभाविक है। जब राजा को योगी के दर्शन हो गए तो वह संभाषण की चिन्ता में पड़ा। सच्ची लगन क्या नहीं कर सकती। साहस और धैर्य सफलता के बीज मंत्र हैं। पर बिरलों को ही यह सौभाग्य प्राप्त होता है। मनुष्य जितना विश्वास देवी-देवताओं में रखता है, उतना इनमें नहीं।

राजा की कामना पूर्ण हुई। संभाषण हुआ। योगी की वाणी से मानो अमृत टपक रहा था। अब राजा की इच्छा और आगे बढ़ी। उसने चाहा कि इन्हें अपनी नगरी में ले जाऊँ। पर यह कार्य सहज नहीं था। कार्य जितना महान् हो उसके लिए पुरुषार्थ भी उतना ही महान् होना चाहिए। पर मनुष्य ऐसा करता नहीं। वह कम से कम परिश्रम से बड़े से बड़ा कार्य साधना चाहता है। फलतः वह हार जाता ह और फिर 'दैव दैव' पुकारता है। यह मनुष्य बुद्धि की हार है। सिद्धान्त की नहीं। राजा ने अपनी इच्छा पूर्त्ति के लिए अनेक उपाय किए पर अन्त में उसे निराशा ही हुई। अपनी असफलता को उसने अपना अपमान समझा और अपने नगर में लौट आया।

मनुष्य जो पाता है उसमें सन्तुष्ट नहीं होता। जो नहीं मिलता उसके लिए बेचैन रहता है। राजा की दर्शन और संभाषण की प्रसन्नता अन्तिम निराशा के कारण धूल में मिल गई। उसकी सब खुशी काफूर हो गई। अब उसे योगी का नाम सुनने पर भी क्रोध आता। रात-दिन दिमाग को एक घुन सा लग गया। क्या योगी का गर्व किसी प्रकार नष्ट नहीं किया जा सकता?

'यादृशी भावनायस्य, सिद्धिर्भवति तादृशी' अर्थात् जैसी जिसकी भावना होती है उसे सिद्धि भी वैसी ही मिलती है। सिद्धि का मूल भावना ही तो है। बहुत सोच-विचार के पश्चात् उसे एक पौराणिक आख्यान याद आया। उसने सुना था कि 'कामदेव बड़े-बड़े योगियों को भी डिगा देता है।' बस इस मनःचिन्तित कार्य सिद्धि का भी प्रथम और अन्तिम यही एक उपाय है। यह सोच कर राजा ने कामलता वेश्या को बुला कर सारी कहानी कही। वह सब कुछ सुन-समझ कर इस दुःसाध्य कार्य के लिए तैयार हुई।

सुरम्य पहाड़ी प्रदेश में वेश्या ने डेरा डाल दिया। एक खासी अच्छी सेना, नाना प्रकार का साज बाज और दुनियाँ का हर चमत्कार उसके पास था।

वेश्या ने योगी के पीछे गुप्तचर छोड़ दिए। वे हर घड़ी का समाचार लाकर देते। वह स्वयं भी प्रतिदिन उनके दर्शन करती, और भक्ति भरे गीत गाकर लौट आती। यह क्रम करीब एक मास तक चलता रहा। अब

वेश्या कुछ आगे बढ़ी। वह अपने साथ विविध प्रकार के व्यंजन युक्त सुस्वादु भोजन का थाल सजाकर ले जाती और कहती—"भगवन्! मेरी यात्रा तभी सफल होगी जब आप इसमें से कुछ खाद्य-पदार्थ स्वीकार करेंगे। गुरुदेव! कुछ पदार्थ लेकर दासी को कृतार्थ कीजिए।" यह प्रार्थना इतनी दीनता से होती कि वज्र-हृदय भी एक बार मोम बन जाए। पर यहाँ तो योगी का हृदय वज्र ही बना रहा। कई दिन बीत गए। योगी अपने तप में दृढ़ रहा। फिर भी वेश्या ने धैर्य और साहस नहीं छोड़ा। वह एक ही मंत्र जानती थी—"कार्यं साधयामि शरीरं पातयामि" अर्थात् निरन्तर लगन सब सिद्धियों की जननी है।

अन्ततोगत्वा सफलता ने वेश्या के चरण चूमे। एक दिन योगी ने एक ग्रास थाल से ले ही लिया। वेश्या ने मुक्त कण्ठ से स्तुति की। 'जय जय' की ध्वनि से आकाश मण्डल गूँज उठा। 'धन्य गुरुदेव, धन्य गुरुदेव' कहती हुई वह अपने शिविर में आ पहुँची।

जितना हर्ष जन्मान्ध व्यक्ति को नेत्र मिलने, दरिद्र को धन मिलने, अथवा रोगी को नीरोग होने पर होता है उससे भी कहीं अधिक प्रसन्नता वेश्या को हुई थी। रह-रह कर उसके मन से एक ही ध्वनि निकलती थी—"तीर चल गया, तीर चल गया।"

योग की परिभाषा त्याग में नहीं अनासक्ति में है। चक्रवर्ती भरत षट्खण्ड के स्वामी थे; पर रहते थे जल में कमल की तरह। राजा जनक अनासक्ति के कारण ही ब्रह्मज्ञानी कहलाए। आसक्ति के पीछे भोग नाचता है। अनासक्ति के पीछे त्याग।

योगी ने वह ग्रास ज्यों ही मुँह में डाला, जिह्वा ने स्वाद लिया और मन मचल उठा। वर्षों से रूखे-सूखे फल-फूल खाने वाला आज अपनी चिर-परिचित खुराक पाकर बाँसों उछल पड़ा।

प्रायः अधूरी वस्तु मनुष्य को अधिक दुःख देती है। योगी सोचने लगा—"अच्छा होता यदि पेट भर कर खा पाता। अब पता नहीं वह कल भोजन लाए, न लाए। वाह वाह, स्वाद······।" विचार प्रवाह ने अपना स्थान बदल लिया।

दूसरे दिन वेश्या पहले से भी अच्छा भोजन लेकर पहुँची। पर आज उसे गिड़गिड़ाने की आवश्यकता न पड़ी।

धीरे-धीरे योगी जबान का गुलाम बन गया। अब उसे जंगल के फल-

फूल अच्छे न लगे। अति पुष्ट व्यंजन युक्त आहार ने इन्द्रिय-मन अति चंचल बना दिए।

स्त्री को पुरुष का और पुरुष को स्त्री का आकर्षण स्वाभाविक है और यह निमित्त अवसर पाकर विशेष जागृत हो जाता है। धीरे-धीरे वेश्या और योगी दूध पानी की तरह मिल गए।

अवसर देखकर वेश्या ने कूच का बिगुल बजा दिया। जैसे स्वामी के पीछे पालतू श्वान दौड़ता है, योगी भी इसी प्रकार चल पड़ा।

× × × ×

शाही दरबार सजा हुआ था। ऊँचे रत्न जटित सिंहासन पर राजा आसीन था। राजा ने मंत्री से कहा—अमात्य ! बहुत दिन हो गए कामलता वेश्या को गए। कोई सन्देश नहीं आया।

"योगी ने अपनी योग माया से भस्म कर दिया होगा। अन्यथा कुशल समाचार अवश्य आता। भगवान् रक्षा करेंगे।" लम्बी साँस भरते हुए मंत्री ने कहा।

"मैंने भूल की है, मंत्रिवर !"

"जो होनहार है वह होकर ही रहती है। विधाता के लेख मिटाए नहीं मिटते।"

"योगी की कुपित दृष्टि मुझे और मेरे राज्य को भस्म कर सकती है !"

"हाँ, इसमें क्या शक है ?"

"किसी पंडित को बुलाइये कोई उपाय पूछें।" राजा ने इतना कहा ही था कि राजपथ पर शोर सुनाई दिया। इसी समय राजा ने सामने देखा कि कामलता के पीछे-पीछे योगी आ रहा है।

"जय हो राजन् ! विजय स्वीकार करें और इस हतप्रभ योगी के दर्शन कीजिए। यही है वह योगी जो आपकी प्रार्थना अस्वीकार कर रहा था।" वेश्या ने कहा।

योगी के नेत्र पृथ्वी में गड़ गए।

राजा ने उपहास करते हुए कहा—"कहिए योगीश्वर ! कैसे मार्ग भूलकर आए ? याद है मेरी प्रार्थना ?"

"जीभ-चटोरा ने मेरी यह दशा की" जीभ पर हाथ रखते हुए योगी ने कहा। और वह अधिक देर वहाँ न ठहर सका। शीघ्र ही मुँह फेर कर पुनः वन में लौट गया।

आधुनिक पुस्तकालयों में—

पुस्तक-सूची

—श्री महेन्द्र राजा, एम० ए०

(अक्टूबर अंक से आगे)

पिछले लेख में मैंने यह बतलाया था कि प्राचीन पुस्तकालयों में पुस्तकों की व्यवस्था के क्या-क्या तरीके थे और पुस्तक-सूची किस आधार पर बनाई जाती थीं। इसी के साथ ही साथ ही मैंने उन पुस्तक सूचियों के दोषों की ओर भी इंगित किया था। आधुनिक पुस्तकालयों में पाठकों की सुविधा के लिए—किस प्रकार की पुस्तक-सूचियाँ बनाई जाती हैं और पुस्तक-सूची का उद्देश्य क्या है, यही इस लेख का विषय है।

श्रीमती मार्गरेट मान ने अपनी पुस्तक "एन इन्ट्रोडक्शन टू केटलॉगिग एण्ड क्लासिफिकेशन आफ बुक्स" में पुस्तक सूची के निम्न उद्देश्य बतलाए हैं—

१—लेखक, अनुवादक, संपादक, चित्रकार, आलोचक, टीकाकार अथवा अन्य किसी भी प्रकार के व्यक्ति, व्यक्ति समुदाय या संस्था के संभावित नाम पर प्रत्येक पुस्तक, पैम्फलेट, पत्रिका आदि को व्यवस्थित रखना ताकि पाठकों को अपनी ऐच्छिक विषय-सामग्री स्वयं ढूँढ़ने में असुविधा न हो।

२—लेखक विशेष की समस्त कृतियों को इस ढंग से व्यवस्थित करना कि किसी भी लेखक की समस्त कृतियाँ एक साथ एक-एक कर एक ही स्थान पर आ जाएँ और यदि कभी कोई पाठक पुस्तकालय में उपलब्ध किसी लेखक विशेष के समस्त साहित्य की जानकारी प्राप्त करना चाहे तो उसे असुविधा न हो।

३—पुस्तकालय में उपलब्ध प्रत्येक पुस्तक, पैम्फलेट, पत्र-पत्रिका आदि को इस ढंग से व्यवस्थित करना कि आवश्यकता पर कोई भी चीज बिना किसी असुविधा के मिल सके।

४—प्रत्येक चीज को विषयानुसार व्यवस्थित करना।

५—आवश्यक पुस्तकों, लेखों आदि की शीर्षक-सूची भी व्यवस्थित रखना।

६—पाठकों की सुविधा के लिए "क्रास-रिफरेन्स" (निर्देश संकेत) का समावेश।

७—पाठकों को प्रत्येक पुस्तक, पत्रिका आदि के शीर्षक, लेखक, सम्पादक, प्रकाशक, मूल्य, पृष्ठ, विषय आदि की जानकारी कराना।

८—प्रत्येक ग्रंथ का 'ग्रंथाङ्क' निश्चित करना।

पूर्ण रूप से व्यवस्थित पुस्तक-सूची से हमें उपरोक्त सभी या किसी भी एक

या अधिक बातों की जानकारी मिल सकेगी। पर जहाँ तक मेरा ख्याल है शायद ही किसी पुस्तकालय में इतने सम्पूर्ण रूप में व्यवस्थित पुस्तक-सूची हो। क्योंकि ऐसी पुस्तक-सूची अत्यंत ही व्यय साध्य है और बिरले ही पुस्तकालय ऐसी पुस्तक-सूची रख सकते हैं। ऐसी पुस्तक-सूची तैयार करने में समय भी अधिक लगता है। अतः पुस्तकालय अपनी सीमाएँ, अपने पाठकों की आवश्यकताएँ, पुस्तकालय के उद्देश्य तथा बजट आदि को ध्यान में रखकर ही कोई ऐसी पुस्तक-सूची बनाते हैं जो उपरोक्त बातों में से अधिक से अधिक की पूर्ति कर सके।

पुस्तक सूची के रूप

पुस्तक-सूची के उपरोक्त उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं कि पुस्तक-सूची बहुत कुछ निम्न प्रकार की होनी चाहिए—

१—पुस्तक-सूची ऐसी हो कि समयानुसार उसमें नई आई हुई पुस्तकों के नाम यथास्थान बिना किसी असुविधा के मिलाए (संयुक्त किए) जा सकें। क्योंकि पुस्तकालय में पुस्तकें बराबर आती-जाती रहती हैं।

२—पुस्तक-सूची का रूप ऐसा होना चाहिए कि वह पूर्णतः अप-टू-डेट रखी जा सके अर्थात् नई आई हुई कोई भी पुस्तक-पत्रिका आदि उसमें शामिल होने से न रह जाए।

३—एक ही लेखक या एक ही विषय की समस्त कृतियाँ क्रमानुसार एक साथ रखी जा सकें।

४—नष्ट हुई, फटी हुई या गुमी हुई पुस्तकें के नाम आसानी से हटाए या निकाले जा सकें।

५—पुस्तकालय और पुस्तकालय-विज्ञान के विकास के साथ-साथ पुस्तक सूची में भी आवश्यकतानुसार परिवर्तन किया जा सके।

६—पुस्तकालय के कर्मचारियों के साथ ही साथ पाठकों को भी समान रूप से वह आसानी से समझ में आ सके।

७—आवश्यकता पर पाठक उसे अपने घर पर भी ले जा सकें।

पुस्तक-सूची का रूप ऐसा होना चाहिए कि उससे उपरोक्त बातों की सुविधा हो। पर कोई भी पुस्तक-सूची उपरोक्त सभी आवश्यकताओं की पूर्ति में समर्थ नहीं, ऐसा मेरा विश्वास है। अतः पुस्तकालयों में कोई ऐसी पुस्तक-सूची बनाना चाहिए जो उपरोक्त आवश्यकताओं में से अधिक से अधिक की पूर्ति कर सके।

(क्रमशः)



प्राकृत भाषा

डा० प्रबोध बेचरदास पंडित, प्रकाशक—श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी।

सितम्बर १९५३ में विद्याश्रम की ओर से, डा० प्रबोध ने प्राकृत भाषा पर भारती विद्यालय (का० हि० वि० वि०) में जो तीन व्याख्यान दिए थे, यह पुस्तक उन्हीं का संकलन है। पहले भाग में प्राकृत की ऐतिहासिक भूमिका बताने के लिए आर्यभाषा के उद्गम और विकास की चर्चा है, दूसरे में, प्राचीन बोली विभाग के रूप में प्राकृत साहित्य को परखा गया है; तीसरे में प्राकृत के उत्तरकालीन विकास का विचार है। प्रबोध जी ने व्याकरणिक रूप को न लेकर, भाषाविज्ञान की दृष्टि से प्राकृत की मूल प्रवृत्तियों और विशेषताओं का अच्छा विश्लेषण किया है। उनका कहना है कि प्राकृत भाषाएँ भारत के भाषा-इतिहास की एक अत्यंत आवश्यक भूमिका हैं। "नव्य भारतीय आर्य भाषाओं और प्राचीनतम आर्य भाषा के दो स्वरूपों के बीच की जो भारतीय भाषा-इतिहास की अवस्था है उसको हम प्राकृत नाम दे सकते हैं।" उन्होंने प्राकृत की तीन भूमिकाएँ मानी हैं; पालि, प्राकृत और अपभ्रंश। ध्वनि तत्त्व पर आपने विशेष जोर दिया है। यह प्रसन्नता की बात है कि गुजराती भाषाभाषी होते हुए भी, प्रबोध जी ने हिन्दी में ही व्याख्यान दिए। पुस्तक की छपाई सफाई ठीक है पर यदि छपाते समय विषय को शीर्षकों में बाँट कर भाषा भी थोड़ी सुधार ली जाती तो पाठकों को इसके समझने में अधिक सुविधा होती। आश्रम के अधिकारियों की यह प्रवृत्ति सचमुच प्रशंसनीय है। हम इसे और भी फलता-फूलता देखना चाहते हैं। पुस्तक भाषा-विज्ञान और प्राकृत में जिज्ञासा रखने वालों के लिए उपादेय है। हिन्दी में इस ढंग का यह पहला प्रयत्न है।

—प्रो० देवेन्द्र कुमार एम० ए०

राजमती

रचयिता—दौलतसिंह लोढ़ा, 'अरविन्द'; प्रकाशक—श्री यतीन्द्र साहित्य-सदन, धामणिया; मूल्य १।=)

प्रस्तुत खण्ड काव्य में महासती राजुल के विवाहोत्सव से लेकर दीक्षा कल्याणक तक का वर्णन है। राजमती (राजुल) का विवाह जैनियों के तेईसवें तीर्थंकर

नेमिनाथ से होने वाला था, पर ठीक विवाहोत्सव के समय नेमिनाथ को वैराग्य हो जाने से विवाह नहीं हो सका और वे बन को चले गए। इसके पश्चात् राजमती ने भी किसी अन्य से विवाह न कर नेमिनाथ का अनुसरण कर जिस आदर्श की स्थापना की, उसी का वर्णन प्रस्तुत काव्य में किया गया है। कवि ने इस ग्रंथ के प्रणयन में गुप्त जी के 'साकेत' की शैली अपनायी है। 'साकेत' के ही समान बीच बीच में पद भी हैं। छन्द भी बहुत कुछ वही हैं जो 'साकेत' में हैं। यही कारण है कि इसे पढ़ने में जरा भी ऊब नहीं आती और बराबर आगे पढ़ते जाने की इच्छा बनी रहती है। गुप्त जी के समान ही भाषा भी अत्यन्त ही सरल होने से जनसाधारण के लिए भी यह पुस्तक सहज ही बोधगम्य है। राजमती का चरित्र अंकित करने में कवि ने जो यह प्रयास किया है, वह स्तुत्य है।

जिन खोजा तिन पाइयाँ

लेखक—अयोध्या प्रसाद गोयलीय; प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ काशी; पृष्ठ—२१६, मूल्य—२।।); सुन्दर पक्की जिल्द।

अधिकांश पाठकों को हिन्दी के लेखकों के प्रति प्रायः जो शिकायत रहती है कि एक बार साहित्य क्षेत्र में प्रसिद्ध हो चुकने के बाद उनका काम (साहित्य) नहीं, नाम बिकने लगता है; उन्हें श्री गोयलीय जी की यह कृति अवश्य पढ़ना चाहिए। सच पूछा जाय तो इस पुस्तक को लिखकर गोयलीय जी साहित्य क्षेत्र में एक कदम और आगे ही बढ़े हैं, पीछे नहीं हटे। जिन्होंने गोयलीय जी की पहली कृति 'गहरे पानी पैठ' पढ़ी है, वे उनकी सरल मुहावरेदार भाषा शैली एवं हृदय तक पैठ जाने वाली सूक्ष्म प्रतिभा को नहीं भूले होंगे। कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक मर्म को छू लेने वाली बात कहने में गोयलीय जी माहिर हैं। उनकी किसी भी बात के प्रति शायद ही किसी को किसी प्रकार की शिकायत हो।

प्रस्तुत पुस्तक में गोयलीय जी ने "गहरे पानी पैठ" के ही समान जानी, सुनी, देखी और पढ़ी जीवन की कुछ ऐसी घटनाएँ और इतिहास के ऐसे प्रश्न—मानवता के प्रति कुछ ऐसी समस्याएँ उपस्थित की हैं जिनसे हमें प्रायः वास्ता पड़ता रहता है पर हम अक्सर जिनकी उपेक्षा कर जाते हैं। पुस्तक पाठक को इसलिए और भी प्रभावित करती है कि इसमें की अधिकांश घटनाएँ लेखक की स्वयं की अनुभूति हैं।

गोयलीय जी की यह कृति प्रत्येक दृष्टि से पठनीय, मननीय एवं संग्रहणीय है।

—महेन्द्र राजा

गत नवम्बर १९५५ से

श्रमण

(सांस्कृतिक हिन्दी डाइजेस्ट)

ने सातवें वर्ष में प्रवेश किया है।

इस नए वर्ष से 'श्रमण' में कुछ नए परिवर्तन हुए हैं। अब 'श्रमण' में आपको प्रतिमास विचारपूर्ण लेख, मनोहारी कविताएँ, शिष्ट एवं आदर्शप्रेरक कहानियाँ तथा अन्य स्थायी स्तम्भों के अतिरिक्त कुछ और भी ऐसी सामग्री मिलेगी जिनका अन्य पत्रों में अभाव रहता है। अगले ही अंक से कुछ नए धारावाहिक स्तम्भ भी हम चालू कर रहे हैं। अतः यदि आप नियमित रूप से इन सब बातों का लाभ प्राप्त करना चाहें तो शीघ्र ही वार्षिक मूल्य मात्र ४) भेजकर इस के वार्षिक ग्राहक बन जाएँ। हमें, आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि 'श्रमण' का नया रूप आपको पसन्द आएगा और आप अपने मित्रों को भी इस के ग्राहक बनने के लिए उत्साहित करेंगे।

अभी तक हम 'श्रमण' में बाहरी विज्ञापन नहीं लेते थे पर अब हमने केवल शिष्ट व साहित्यिक विज्ञापन ही लेने का विचार किया है। अतः विज्ञापनदाताओं के लिए भी यह अच्छा अवसर है। विज्ञापन के दर आदि के लिए कृपया निम्न पते पर पत्र व्यवहार करें।

व्यवस्थापक—'श्रमण' मासिक
जैनाश्रम, हिन्दू यूनिवर्सिटी, बनारस-५

बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी प्रेस, बनारस-५